

BIBLIOTHECA INDICA :  
A  
Collection Of Oriental Works

PUBLISHED BY

THE ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, Nos. 1145, 1146 & 1147.



---

THE AITAREYALOCHANUM.

THE PREFACE OF THE AITAREYA BRAHMANA,

BY

ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAŚRAMĪ,

*Associate Member of the Asiatic Society of Bengal ; Editor ,  
Author , Commentator , Annotator , Compiler , Translator ,  
& Publisher of different Vedic Works &c. &c.*

SECOND EDITION.

[ REVISED & ENLARGED . ]

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTOPADHYAYA ,  
AT THE SATYA-PRESS , No. 27 , Ghose's Lane .  
1906.

# ऐतरेयालोचनम् ।

( अर्थतः )

॥ ऐतरेयब्राह्मणस्योपोद्घातरूपम् ॥



वङ्गदेशीयास्यायितिकसमितेरनुमत्या व्ययेन च,

आचार्यश्रीसत्यव्रतशर्मासामग्रमिणा

प्रणीतम् ।

॥ द्वितीयसंस्करणम् ॥

( परिवर्तितं परिवर्द्धितञ्च )

---

कलिकाता—सत्ययन्त्रे

१८६३-संवत्समायां मुद्रितम् ॥

## ॥ अथैतरेयालोचनविषयसूची ॥

| विषयः                                | पृ० | विषयः                           | पृ०     |
|--------------------------------------|-----|---------------------------------|---------|
| अथ किमिदमैतरेयनाम ? ...              | १   | प्रथम आर्यावासः ...             | २३      |
| ब्राह्मणशब्दनिरुक्तिः ...            | १   | द्वितीय आर्यावासः ...           | २४      |
| ब्राह्मणग्रन्थानां वेदभाष्यत्वम् ... | २   | तृतीय आर्यावासः ...             | २५      |
| देवताविधानदृष्टान्तः ...             | ३   | प्राचीनार्यावर्तनिरूपणम् ...    | २६      |
| मन्त्रविधानदृष्टान्तः ...            | ४   | तत्र पूर्वसप्तनदप्रदेशः ...     | २७      |
| ब्राह्मणकृतं मन्त्रव्याख्यानम् ...   | ५   | —पश्चिमसप्तनदप्रदेशः ...        | २८      |
| आख्यायिकातो विज्ञानलाभः ...          | ७   | —उत्तरसप्तनदप्रदेशः ...         | २९      |
| सूक्तविधानदृष्टान्तः ...             | ८   | हिन्दुस्तान्शब्दार्थनिर्णयः ... | ३०      |
| अर्थवादवृत्तान्तस्यावृत्तत्वम् ...   | १०  | प्राचीनार्यावर्तोत्तरसीमा ...   | ३२      |
| अथ कोऽस्य प्रवक्ता ? ...             | ११  | प्राचीनार्यावर्तपश्चिमसीमा ...  | ३२      |
| महिदासस्य दासीपुत्रत्वम् ? ...       | १२  | आर्यानार्यभूमिनिर्णयः ...       | ३३ - ३७ |
| असवर्णाविवाहव्यवस्था ...             | १३  | संहिताकालिकार्यावर्तः ...       | ३७      |
| दासीपुत्रस्य मन्त्रदृष्टत्वमपि ...   | १४  | आर्यसाम्राज्यपरिचयः ...         | ३८      |
| आर्यानार्यपरिचयः ...                 | १५  | उत्तरमद्रोत्तरकुरुप्रदेशानां    |         |
| जातिपरिवर्तनस्वीकारः ...             | १६  | मार्यसम्राट्मित्रराज्यत्वम् ... | ४०      |
| वेदाधिकारिनिरूपणम् ...               | १७  | ऐतरेयकालिकमध्यदेशः ...          | ४२      |
| यूरोपीयानामार्यानार्यत्वाभावः ...    | १८  | ऐतरेयकालिकार्यावर्तः ...        | ४२      |
| मनुष्याणामार्यः कालनिर्णयः ...       | १९  | शतपथकालिकार्यावर्तः ...         | ४३      |
| ऐतरेयारण्यकविचारः ...                | १९  | पाणिनिकालिकार्यावर्तः ...       | ४४      |
| अथ कुत्रत्यः सः ? ...                | २०  | यास्ककालिकार्यावर्तः ...        | ४४      |
| आर्यशब्दार्थनिश्चयः ...              | २१  | पतञ्जलिकालिकार्यावर्तः ...      | ४५      |
| आर्यावर्तशब्दनिरुक्तिः ...           | २२  | मनुकालिकार्यावर्तः ...          | ४५      |
|                                      |     | कलिङ्गराज्यस्य परिचयः ,         |         |
|                                      |     | निन्दा, श्रीक्षेत्रयापित्वञ्च   | ४७      |

| विषयः                             | पृ०   | विषयः                              | पृ० |
|-----------------------------------|-------|------------------------------------|-----|
| अमरसिंहकालिकार्यावर्तः ...        | ४७    | पुंसां बहुविवाहे दोषाभावः          | ८४  |
| यूरोपीयमतानुगतार्यावास-           |       | मृतपतिकाया एव पुनर्विवाहे          |     |
| स्त्रीकारे दोषत्रयाणामुल्लेखः ... | ४८    | दोषाभावसूचनम् ...                  | ८४  |
| यूरोपीयतपोषकान्यष्टप्रमा-         |       | स्त्रीणां मपि पाण्डित्यम् ...      | ८४  |
| णानि, तत्खण्डनानि च               | ४९—५५ | कुलवधूनां लज्जाशीलता ...           | ८४  |
| वालगङ्गाधरमतखण्डनम्               | ५५—६६ | पत्नीभगिन्योः पत्न्याः प्राधान्यम् | ८४  |
| आर्यप्रत्नौकोनिर्णयः ...          | ६६    | अग्निहोत्रस्यातिकर्तव्यता ...      | ८५  |
| रेतरेयवासस्थाननिरूपणम् ...        | ७१    | स्नातस्यैव दैवकार्यविधिः ...       | ८६  |
|                                   |       | भुक्तस्यापि दैवकार्यविधिः ...      | ८६  |
| अथ कः कालोऽस्यैतरेयस्य ?          | ७१    | पर्णशरीरदाहविधानम् ...             | ८६  |
| रेतरेयस्य पाणिनिपूर्वजत्वम्       | ७२    | देवपितृमनुष्यपूजाविधिः ...         | ८६  |
| — आश्वलायनपूर्वजत्वम्             | ७३    | देवनिरूपणम् ...                    | ८७  |
| — जनमेजयपूर्वजत्वम्               | ७३    | पितृनिरूपणम् ...                   | ८८  |
| — शाकलशाखानां प्रवक्तुः           |       | जीवानां जन्मत्रयवर्णनम् ...        | ८९  |
| शाकल्याच्च पूर्वजत्वम्            | ७४    | मनुष्यनिरूपणम् ...                 | ९१  |
| पदसंहिताप्रवक्तुः शाकल्यास्तु     |       | अतिथिसत्कारे विशेषोपदेशः           | ९२  |
| तस्यैतरेयस्य परजत्वम् ...         | ७५    | पशुहिंसा विहिता न वा ?             | ९४  |
|                                   |       | पिपासते पानीयदानादिविधिः           | ९५  |
| अथैतरेयकालिकाचाराः ...            | ७६    | आर्त्विज्यकर्मणः प्राशस्त्यम्      | ९५  |
| जातिपदार्थनिरूपणम् ...            | ७६    | अथान्ययाजननिषेधः ...               | ९५  |
| ब्राह्मणादिस्वभावादिवर्णनम्       | ७८    |                                    |     |
| ब्राह्मणादीनां भक्ष्यनिर्णयः ...  | ७९    | अथैतरेयकालिकव्यवहाराः ...          | ९६  |
| ब्राह्मणक्षत्रिययोराशुधानि ...    | ७९    | पुरोहितस्यावश्यकता ...             | ९६  |
| आर्यानार्ययोः साम्यभावः ...       | ८०    | दक्षिणादानस्यातिकर्तव्यता ...      | ९८  |
| वाग्विषयकोपदेशाः ...              | ८२    | वदान्यतायाः प्रशंसा ...            | ९८  |
| विवाहस्य कर्तव्यतोपदेशः ...       | ८३    | पुंसोऽपि क्रयविक्रयातिसर्गाः       | ९९  |
| क्षत्रियाणामन्यजातिभावनिन्दा      | ८४    | पुत्रे पितुर्यथेच्छव्यवहारः ...    | ९९  |



| विषयः                            | पृ०     | विषयः                        | पृ० |
|----------------------------------|---------|------------------------------|-----|
| पुत्राणां पितृदायभाक्त्रम् ...   | ६६      | पृथिव्या भ्रमणम्, सूर्यस्य   |     |
| वाणिज्यादर्थसमुद्रयात्रा ...     | १००     | उदयास्तमयाभावः, अहो-         |     |
| वनदस्यूनामप्यस्तिता ...          | १००     | रात्रिनिर्वृत्तिहेतुश्च ...  | १०७ |
| ग्रन्थिच्छेदकानासप्यस्तिता       | १००     | सूर्यविज्ञानम् ...           | १०६ |
| चौरस्यास्तिता तन्निन्दा च        | १००     | चन्द्रविज्ञानम् ...          | ११० |
| शपथव्यवहारः ...                  | १००     | वायुविज्ञानम् ...            | १११ |
| सार्वभौमराजास्तिता ...           | १००     | अग्निविज्ञानम् ...           | १११ |
| राजप्रियायै प्रजानामावेदनम्      | १०१     | अवविज्ञानम् ...              | ११२ |
| राजभ्रातृणां राजानुचरत्वम्       | १०१     | पाश्चात्यानुकरणस्य कर्तव्यता | ११२ |
| राजधानीपरिरक्षणम् ...            | १०१     | विष्णुविज्ञानम् ...          | ११३ |
| ऐकमत्याय शपथव्यवहारः ...         | १०१     | गर्भादिविज्ञानम् ...         | ११३ |
| युद्धार्थमवैतनिकानामपि           |         | शरीरादिविज्ञानम् ...         | ११४ |
| प्रजानां स्वतः प्रवृत्तिः ...    | १०१     | खाद्यविज्ञानम् ...           | ११५ |
| सामतोऽपि शत्रुवशीकरणम्           | १०२     | भेषजविज्ञानम् ...            | ११६ |
| सेनानियोगप्रकारवर्णनम् ...       | १०२     | कालविज्ञानम् ...             | ११७ |
| उपविमोक्तव्यवहारः ...            | १०२     | दिग्विज्ञानम् ...            | ११७ |
| सशिक्यतेजनीवीवधव्यवहारः          | १०३     | देशप्रकृतिविज्ञानम् ...      | ११८ |
| अनलसप्रशंसा, अलसनिन्दा च         | १०२     | शिल्पविज्ञानम् ...           | ११८ |
| कल्यादिचतुर्युगलक्षणम् ...       | १०४     | शब्दार्थविज्ञानम् ...        | ११८ |
| वर्षर्तौ सर्वर्तुसङ्गावः ...     | १०६     | अथ कस्याः शाखाया इदम् ?      | ११६ |
| युगधर्माणां सर्वयुगाश्रितत्वम्   | १०६     | विष्णुपुराणीयशाखाकथा         | ११६ |
| अथैतरेयकालिकविज्ञानानि           | १०६     | भागवतीयशाखाकथा ...           | १२० |
| पृथिव्या गतिहेतुः, द्यावा-       |         | कूर्मपुराणीयशाखाकथा          | १२२ |
| पृथिव्योः सम्बन्धः, दृष्टिहेतुः, |         | पौराणिकशाखामतस्वरूपनम्       | १२२ |
| उदकानां मतिद्वासृष्ट्या-         |         | शाखापदार्थनिरूपणम् ...       | १२४ |
| भावहेतुश्च ...                   | १०५-१०७ | स्वामिदयानन्दीयशाखाकथा       | १२६ |

| विषयः                          | पृ० | विषयः                               | पृ० |
|--------------------------------|-----|-------------------------------------|-----|
| पञ्चशाखानामावगमः ...           | १२६ | असोमपदेवपरिचयः ...                  | १५६ |
| चरणवृहोक्तपञ्चशाखाः ...        | १३० | अग्निनिरूपणम् ...                   | १६२ |
| देवीपुराणीयशाखात्रयम्          | १३१ | इन्द्रनिरूपणम् ...                  | १६६ |
| अग्निपुराणोक्तशाखाद्वयम्       | १३२ | सूर्यनिरूपणम् ...                   | १६६ |
| महानाम्नोव स्यात् शाङ्गायनी    | १३३ | देवतानां स्वरूपादिवर्णने            |     |
| साङ्गा-शाङ्गायन्यौ विभिन्ने    | १३३ | पौराणिकमतनिरासः ...                 | १७० |
| वृहद्देवतायाश्चाकलीयत्वम्      | १३४ | पौराणिककल्पनोदाहरणम्                | १७१ |
| वाष्कलशाङ्गायन्योर्भेदः ...    | १३५ | इन्द्रश्चोर्निरूपणम् १७३, १७४       |     |
| अथ श्रौश्रिरीयापरिचयः ...      | १३५ | अमरसिंहस्य दोषोदाहरणम्              | १७५ |
| वालखिल्यसूक्तानां परिचयः       | १३६ | आख्याधिकानां गतिः ...               | १७८ |
| अथ वाष्कलापरिचयः ...           | १३७ | चत्वारो देवगुणाः ...                | १७६ |
| संज्ञानसूक्तीयर्चः पञ्चदश      | १३८ | अधियज्ञादिव्याख्यात्रैर्विध्यम्     | १८२ |
| साङ्गा (मौजली) वात्स्या च      | १३६ | सायणव्याख्या भ्रमप्रदर्शनम् १८६-१८७ |     |
| अथाश्वलायनीपरिचयः              | १४० | यज्ञानां परिचयः ...                 | १०६ |
| आश्वलान्या अष्टतयीत्वम्        | १४१ | अग्निष्टोमकारिकाः ...               | २०० |
| शाकलपरिच्छेदसङ्गादि ...        | १४२ | अथ किमु प्रयोजनमेतस्य ?             | २०४ |
| आश्वलायन्यृक्सङ्गादि ...       | १४२ | सुक्तिमतनिरासः ...                  | २०४ |
| ब्राह्मणेषु मन्त्रविधानश्रौली  | १४४ | स्वर्गलोकनिर्णयारम्भः ..            | २०५ |
| ○ ऐतरेयावलम्बितशाखा ...        | १४५ | पितृलोकादिनिर्णयः ...               | २०६ |
| अथ कोऽस्य विषयः ? ...          | १४७ | भूलोकस्य त्रित्वं षट्त्वञ्च         | २१६ |
| प्रकृतिविकृतियागनिर्णयः ...    | १४८ | सूर्यलोक एव मुख्यः स्वर्गः          | २२० |
| यागदेवतानिरूपणम् ...           | १४६ | यमयमीनिर्णयः ...                    | २२१ |
| सोमपदेवपरिचयः ...              | १५२ | नाकनरकनिरुक्तिः ...                 | २२३ |
| वसुरुद्रादित्यप्रजापतिवषट्कार- |     | त्रिविधस्वर्गस्वीकारः ...           | २२५ |
| स्वरूपनिर्णयः ... १५३-१५६      |     | स्वर्गस्य दुरारोहत्वम् ...          | २२६ |
|                                |     | उपसंहारः ... २२६, २२८               |     |

## ॥ ऐतरेयालोचनम् ॥

अथेहालोचयामः— (१) किं मिदं मैतरेयं नाम ? , (२) कोऽस्य प्रवक्ता ? , (३) कुत्रत्यः सः ? , (४) कः कालोऽस्य ? , (५) कौटुशान्यासन् तदानीन्तनाचारव्यवहारविज्ञानानि ? , (६) कस्याः शाखाया इदम् ? (७) कोऽस्य विषयः ? , (८) किमु प्रयोजनं मेतस्येत्यष्टौ ॥

( १ )

अथ किं मिदं मैतरेयं नाम ? ब्राह्मणमिति ब्रूमः किमु ब्राह्मणमिति । अत्राह जैमिनिः— “शेषे ब्राह्मणशब्दः”—इति ( २. १. ३३. ) । मन्त्रभागातिरिक्तो वेदभागो ब्राह्मणमिति तदर्थः । यद्यपि विचारेणेदं लक्षणं युक्ततममिति ऋग्भाष्यभूमिकादौ सायणादिभिरङ्गीकृतम् , न तथाप्यर्थज्ञानाय तादृशमिति मन्यामहे वयम् ; एतल्लक्षणत एव तत्स्वरूपाप्रतीतिर्ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वे विप्रतिपत्तिदर्शनाच्च । अतोऽत्र “कर्मचोदना ब्राह्मणानि”—इति ( ३५ सू० ) आपस्तम्बलक्षणमेवेहाश्रयामहे । अस्ति च कर्मचोदनापरा मन्त्रा अपीति तल्लक्षणं सदोषमिति चेदत्र ब्रूमः,— पदार्थस्वरूपबोधानुपयुक्तनिर्दोषलक्षणतो वरं पदार्थस्वरूपबोधायोपयुक्तं सदोषलक्षणमपीति । तत्त्वतो यथा यजुर्वेदुलाया यजुस्मंहिताया यजुर्वेदत्वं

न दोषावहम्, तथैव कर्मचोदनावहुले ऽत्र त्वेतरेयादौ ब्राह्मणत्वमपीति । ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वे विप्रतिपत्तयस्तु सङ्क्षेपतो निरुक्तालोचने “को ऽसौ वेदः ?”—इति प्रकारेण प्रकाशिता एव । ततो दयानन्दस्वामिना च ऋग्भाष्यभूमिकायां तदेव स्फुटं मेवावादि । तत्र हि वेदसञ्ज्ञाविचारोपसंहारे—“ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम् । ‘ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः ( श० १३. १. )’—इति, ‘समानार्थावेतौ ब्रह्मन्-शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च’—इति व्याकरणमहाभाष्ये ( ५. १. १. ) । चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्रह्मणानि”—इति । इतः पूर्वं मूलमात्रस्यास्यैतरेयस्य सम्पादनभूमिकायां डा०-हग्-महोदयेनापि ब्राह्मणशब्दनिर्वचनमेवमेव सूचितम् । अस्माकन्त्वत्वाप्यस्ति किञ्चिद् वक्तव्यम् । तद्यथा—न हि “ब्राह्मोऽजातौ”—इति ( पा० ६. ४. १७१. ) सूत्रे जाग्रति ब्रह्मन्-शब्दाद् ग्रन्थपरो ब्राह्मणशब्दः सम्भाव्यते, अतो ब्राह्मणवाचिब्रह्मन्-शब्दान्नेदं निष्पन्नं ब्राह्मणपदम्, अपि त्वस्मन्मते ब्राह्मणशब्दादेव प्रोक्ताद्यर्थेऽणि स्यान्निष्पन्नं ब्राह्मणमिति ।

तदेवं ब्राह्मणेन प्रोक्तं यागविध्यादिबोधकं वचनं ब्राह्मणम्, तादृशवचनानां समूहो ग्रन्थोऽपि ब्राह्मणमेव । वचनपरत्वादेवास्य ब्राह्मणशब्दस्य क्लीवत्वम् । अथवा अस्त्वेतद् ब्राह्मणपदं भाष्यपरम् । वेदार्थवित्तमेन ब्राह्मणेन प्रोक्तं यागविध्यनुस्यूतं मन्त्रभाष्यमेव ब्राह्मणमिति । ब्राह्मणस्य वेदत्वं मुररीकुर्वतापि सायणाचार्येण स्वकण्ठरवेणैवास्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वमाभाषि । तथाहि तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकायाम्—“ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समान्नाताः”—इति ।



वस्तुतस्तु मन्त्राणां हि ब्राह्मणकालतोऽपि बहुपूर्वकालजत्वात् ब्राह्मणकाले तदर्थप्रत्ययसंशयः सम्भाव्य एवेति ब्राह्मणकाराणां ब्राह्मणानां तदर्थकाशनाय तत्तात्पर्याद्याख्यानाय च प्रवृत्तिः समुत्पन्ना, तत एवेमानि पैङ्गुकौषीतकैतरेयादीनि आदिवेदभाष्याणि सम्प्रनानीति वक्तुं युज्यत एव । तदिदं मस्माभिर्निरुक्तालोचने ( ड—डौ ) “वस्तुतः”—इत्यादिना “वेदभाष्यरूपाणि ब्राह्मणानीति”—इत्यन्तेन च ब्राह्मणग्रन्थानां मादिवेदभाष्यरूपत्वमेव सिद्धान्तितम् ।

यद्यप्येवं तथापि ब्राह्मणग्रन्थेषु सर्वत्रैव प्रधानतो यागविधय एवोपलभ्यन्ते । तत्र यागेषु यागाङ्गद्रव्यदेवतामन्त्रादिषु प्रवृत्त्याद्युत्पादनार्थाः सुत्यादयः सुत्यादिपरा आख्यायिकाश्च बह्व्य आख्याताः श्रूयन्ते । ता एव अर्थवादा अप्युच्यन्ते । तदप्युक्तमापस्तम्बेन— “ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः, निन्दा प्रशंसा परकृतिः पुराकल्पश्च”—इति ( ३६, ३७ सू० ) । तत्प्रसङ्गतो बह्वनां मन्त्राणां मन्त्रांशानां वा प्रायोऽधियज्ञपरव्याख्यानानि, कचिदन्यान्यविधान्यपि समाम्नातानीति सर्वेषां मेव सार्थवादब्राह्मणग्रन्थानां यागविधानार्थतैव पंफुल्यत इति “कर्मचोदना ब्राह्मणानि”—इत्यापस्तम्बकृतं ब्राह्मणलक्षणं सङ्गच्छत एव सर्वत्रेति निरवद्यम् ॥

अथोक्तमेवार्थमिहोदाहरणैः किञ्चिद् बोधयितुं यतामहे । प्रथमं तावदत्र दीक्षणीयेष्टिर्विहिता । सा खल्वग्निष्टोमादियागेषु दीक्षणार्था भवति । यागस्त्रिविधः ; इष्टि-होत्र-सत्र-भेदात् । तत्रेयमिष्टिः प्रथमविधो यागः । अस्य देवताविधानन्वेव साम्नातम्— “अग्निर्वै देवानां भवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः”—इत्यादि ( ऐ० ब्रा० १. १. १. ) । एतेनास्य



यागस्य अग्निर्विष्णुश्च द्वे देवते ऽवगम्येते । ततो द्रव्यविधानन्तरेऽ-  
 मान्नातम्— “आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपति दीक्षणीर-  
 मेकादशकपालम्”—इत्यादि । इत उत्तर मेतदीयावान्तरबहु-  
 विधविधानाद्यनन्तरं मन्त्रद्वयं विहितम्— “अग्निमुखं प्रथमो  
 देवताना मग्निश्च विष्णो तप उत्तमं मह इत्याग्नावैष्णवस्य हविषो  
 याज्यानुवाक्ये भवतः”—इत्यादि । अनयोर्मन्त्रयोः पूर्वी दीक्षा-  
 यागप्रधानहविषः पूर्वोक्तस्य तस्य ‘पुरोऽनुवाक्या’ भवति, उत्तरो  
 याज्येति विवेकः । तदेनयोः स्पष्टार्थतया, अविवक्षितविशेष-  
 तात्पर्यतया वा विशेषतो व्याख्यानतात्पर्ये नोक्ते ऽतैतरेयके ; अपि  
 यदेतदुपक्रमे “अग्निर्वै देवाना मवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा  
 अन्या देवताः”—इति देवद्वयस्तुतिराम्नाता, तदेवैतन्मन्त्रद्वयस्य  
 सामान्यतस्तात्पर्यान्वाख्यानं सम्पन्नम् । ‘अग्नेः’ पार्थिवस्यास्याव-  
 मत्वम्, पृथिवीस्थत्वात् ; एवं ‘विष्णोः’ आदित्यस्योत्तमत्वम्,  
 द्युस्थत्वात् ; अन्यासां वाय्वादीनां सर्वासा मेव देवताना मेतयो-  
 र्यावापृथिव्योरेव अन्तःस्थत्वात् एनयोर्ग्रहणेनैव ग्रहण मभीष्ट-  
 मित्याशयः । मन्त्रावेतौ ऋग्यजुस्सामाथर्वशाखीयसंहितास्विदानी-  
 म्प्रचलितासु न दृश्येते ; कृष्णयजुस्तैत्तिरीयब्राह्मणे तु श्रूयेते ( २.  
 ४. ३. ३, ४. ), परं तत्रापि सन्ति पाठभेदाः । आश्वलायन-  
 श्रौतसूत्रेऽपि हि प्रपञ्च विहितावेताविति न त्वाश्वलायनशाखीया-  
 वध्यभिगम्येते ; अत एतौ ततोऽप्यन्यशाखीयाविति ध्रुवम् ॥

सोमप्रवहणीना मृचान्तु विधान मनु व्याख्यानानि चाम्ना-  
 तानि । तद्यथा— “भद्रादभि श्रेयः प्रेहीत्यन्वाह, अयं वाव  
 लोको भद्रस्तस्मादसावेव लोकः श्रेयान्, स्वर्गं मेव तं लोकं  
 गमयति । बृहस्पतिः पुर एता ते अस्त्विति, ब्रह्म वै बृहस्पति-

ब्रह्मवाक्मा एतत् पुरोगव मकर्ण वै ब्रह्मण्वद्भिष्यति । अथैमवस्य  
वर आ पृथिव्या इति , देवयजनं वै वरं पृथिव्यै , देवयजन एवैनं  
तदवसाययति । आरे शत्रून् कुणुहि सर्ववीर इति , द्विषन्त  
मेवास्मै तत् पाप्मानं भ्रातृव्य मपवाधतेऽधरं पादयति”—इति  
प्रथमर्चो विधिव्याख्याने ( ऐ० ब्रा० १. ३. २. ) । एषापि प्रच-  
लिताया ऋक्शाखायां नान्नातेत्यन्यशाखीयैव ; तैत्तिरीयसंहिता-  
यान्तु श्रूयते १. २. ३. १८ ॥

ब्राह्मणविषयाणां विशेषतोऽर्थप्रतिपत्तये अन्यत्रान्यथा चोदाह-  
रामः । श्रूयते हि शुक्लयजुर्वेदस्य माध्यन्दिन्याः शाखाया  
आदिमैषा कण्डिका— “इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः  
सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे”—इति । शतपथब्राह्मणेऽस्या  
मन्त्रत्रयात्मिकात्वं स्वीकृत्य , प्रथममन्त्रस्य पर्णशाखाच्छेदने,  
द्वितीयस्य तथैव शाखया ताडनेन गवां वत्सानाञ्चैकत्रीकरणे,  
अन्तिमस्य तृतीयस्य तु तथैव तथैव ताडनेन एकस्या गोर्वत्सतः  
पृथक्करणे विनियोगो विहितो व्याख्याताश्च ते त्रय एव मन्त्राः ।  
तद्यथा— “ता माच्छिनत्ति— ‘इषे त्वोर्जे त्वेति । वृष्ट्यै तदाह,  
यदाहृषे त्वोर्जे त्वेति ; यो वृष्टादूग्रसो जायते तस्मै तदाह ।  
अथ मातृभिर्वत्सान्त्समवासृजन्ति , स वत्सं शाखयोपसृशति—  
‘वायव स्थेति । अयं वै वायुर्योऽयं पवते ; एष वा इदं सर्वं  
प्रप्याययति यदिदं किञ्च ; वर्षत्येष वा एतासां प्रप्याययिता ;  
तस्मादाह वायव स्थेति । ०—० अथ मातृणा मेकां शाख-  
योपसृशति वत्सेन व्याकृत्य— ‘देवो वः सविता प्रार्पयत्विति ।  
सविता वै देवानां प्रसविता , सवितृप्रसूता यज्ञं सम्भरानिति ;  
तस्मादाह देवो वः सविता प्रार्पयत्विति । ‘श्रेष्ठतमाय कर्मणे

इति । यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म, यज्ञाय हि तस्मादाह श्रेष्ठतमाय कर्मण इति”-इति माध्य० शत० आ० १. ५. ४. १-५ ।

तदेव मस्या मन्त्रत्रयात्मिकायाः शुक्लयजुःप्रथमकण्डिकायाः सविनियोग एषोऽर्थः सम्पन्नः—

( १ ) ‘इषे त्वा , उर्जे त्वा’ वृध्यैत्वां ; छिनद्मीति शेषः ।

( २ ) ‘वायवः स्थ’ पवमानाः , वर्षणेन प्रप्यायमानाः यूयं स्थ ; युष्मान् समवसृजन् शाखयोपसृशामीति शेषः ।

( ३ ) ‘सविता’ देवानां प्रसविता ‘देवः’, ‘वः’ युष्मान् , यज्ञं सन्भरान् , पवमानान् ‘श्रेष्ठतमाय कर्मणे’ यज्ञाय ‘प्रार्पयतु’ ; सवितृप्रसूता वय मिदं याचामह इति शेषः ।

नून मेषोऽर्थोऽधियज्ञः , पर मेतेनैव पदव्याख्यानेनाधिदेवतो-  
ऽर्थोऽपि सम्पद्यत एव । तद्यथा— “अयं वै वायुर्योऽयं पवते” ।  
‘यः अयं पवते’ सदैव पवमानो विद्यते , स एव ‘अयं’ त्वगिन्द्रिय-  
प्रत्यक्षः , अत एव विग्रहादिशून्यो भौतिको ‘वायुः’ । “एष वै  
इदं सर्वं प्रप्याययति यदिदं किञ्च” । ‘यत् इदं किञ्च’ स्थावर-  
जङ्गमात्मकं जगत् , तत् ‘इदं सर्वं’ ‘एषः वै’ वायुरेव ‘प्रप्या-  
ययति’ प्रकर्षेण वर्द्धयति । “एष वै वर्षति” वायुरेव वृष्टिधाराः  
सर्वाः मेघतश्चालयन् पृथिव्यां संवाह्योपस्थापयति । अत एव  
“एतासाम्” पार्थिवीना मपां “प्रप्याययिता” वर्द्धयिता भवति ।  
तत एवम्भूतं ‘त्वा’ त्वां वायुं “वृध्यै” जानामि । “वृष्टात् उर्कं =  
रसः जायते” । “तस्मै” ऊर्जे— रसाय, तत एवान्न मुत्पद्यत इति  
‘इषे’ अन्नाय च ‘त्वा’ त्वां जानामि । “देवानां” सर्वेषा मग्न्या-  
दीनां “प्रसविता” सूर्यः ईश्वरो वा ‘वः’ “यज्ञं सन्भरान्”  
प्राणनहेतून् युष्मान् ‘श्रेष्ठतमाय कर्मणे’ “यज्ञाय” प्राणनकार्य-

निर्वाहार्थं 'प्रार्पयतु' सदेव प्रार्पयत्येव, वय मपि "सवितृ-प्रसूताः"  
एव, अस्मानिति शेषः ॥ एतेन वायोः प्रत्यक्षत्वम्, वर्षहेतुत्वम्,  
वृष्टिद्वारा चान्नहेतुत्वम्, तत आप्यायनहेतुत्वम्; सूर्यप्रसूतत्वम्,  
प्राणनरूपश्रेष्ठकर्मकारित्वञ्चेत्याख्यातं वायुविज्ञानम् । प्रधानतो  
वायुविज्ञानार्थं एव चाम्नातो यजुर्वेदः । अतएवेतदुक्तम्— "अग्नि-  
वायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्"—इत्येवमादिक मिति ॥

अयते चात्र पर्णशाखयैव वत्सापाकरणकर्मविधानार्थां चूद्र-  
तमैकाख्यायिका । तद्यथा— "यत्र वै गायत्री सोम मच्छापतत्,  
तदस्या आहरन्त्या अपावस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद । गायत्रैर  
वा सोमस्य वा राज्ञस्तत् पतित्वा पर्णोऽभवत् । तस्मात् पर्णो  
नाम । तद्यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्यसदिति । तस्मात्  
पर्णशाखया वत्सानपाकरोति"—इति ( शत० ब्रा० १. ५. ४. ) ।  
अस्यार्थः— 'यत्र' यस्मिन् काले हि 'गन्धर्वनगरे' हिमालयस्य  
कस्मिंश्चित् सुरम्यशिखरे 'सोमं' सोमवल्लीवृक्षम् 'अच्छ' आप्तं  
'गायत्री' काचिद् 'गायिका' 'अपतत्' गतवती; 'तत्' तदेव  
'आहरन्त्याः' सोमवतीहरणं कुर्वन्त्याः 'अस्याः' 'अपावस्ताभ्यायत्य'  
'अवस्ता' = अवस्तात् + अधस्तात् 'अपायत्य' वियुज्य स्थितं 'पर्णं'  
पर्णाकार मेव पर्णवीजं 'चिच्छेद', सा गायत्रीति शेषः ।  
'गायत्रैर' गायत्र्याः तस्याः 'वा' अथवा 'सोमस्य' राज्ञः अङ्गसंलग्न  
मागतं 'तत्' छिन्नं पर्णं 'पतित्वा' भूमिं गत्वा 'पर्णः' पर्णापरपर्यायः  
पलाशो वृक्षः 'अभवत्' । यतः पर्णत एवास्त्योत्पत्तिः, अस्मात् 'पर्णो'  
नाम पर्ण इत्येवैष वृक्षः प्रसिद्धः । 'तत्' तस्मात् 'अत्र' 'सोमस्य'  
सारभूते रसे 'यदेव' 'न्यक्तं' वीर्यम्, 'तत्' इहापि पलाशवृक्षेऽपि  
'असत्' अस्तीति ।



एतदाख्यायिकातः पञ्च पर्णविज्ञानानि प्रतीतानि भवन्ति ।  
पुरा नासीदिहार्यनगरीषु पलाशवृक्षो हिमवतः पृष्ठादिहानीत  
इति प्रथमम् । बहुषु पलाशारण्येषु च प्राप्यते सोम इति द्विती-  
यम् । पलाशस्य फलानि न जायन्ते, अपि पत्राकाराण्येव तद्बीजानि  
भवन्तीत्यपि पत्रत एवास्थोत्पत्तिर्भवतीति तृतीयम् । अत एव  
पत्रपर्यायशब्दाभिधेयः स पर्ण इति वा पलाश इति वाख्यायत इति  
चतुर्थम् । एतद्रसस्यापि सोमरसतुल्य-बलकारित्व मिति पञ्च-  
मम् ॥ गन्धर्वाणां गानप्रियत्वं स्त्रीकामत्वं च संलक्ष्य, तत्र गन्धर्व-  
नगरे सोमानयनाय गायिकायाः प्रेरणं चात्रैव शतपथे ऽन्यत्र च  
श्रुतम् ( ३का. २प्र. २क. ) 'तत्सर्वं तत्रैव द्रष्टव्य मिति ॥

अथ दर्शयामः कस्मिंश्चित् सूक्ते विधातव्येऽप्याख्यायिका-  
न्नातेति । तद्यथा— “तार्क्ष्यं स्वर्गकामस्य रोहेत्”—इति ( ऐ०  
ब्रा० ४. ३. ६. ) । तार्क्ष्यदेवताकं त्वचं सूक्तं तार्क्ष्यम् ( ऋ०  
सं० १०. १७८. १-३ ), तस्मिन् ‘तार्क्ष्ये’ सूक्ते; तेन  
सूक्तशंसनेनेति भावः । ‘स्वर्गकामस्य’ यजमानस्य, प्रसङ्गागतं  
‘दूरोहणं’ स्वर्गं ‘रोहेत्’, रोहणं मारोहणं तत् सम्पादयेत्; शंसन-  
कर्त्ता ऋत्विगिति शेषः । इमं मेव विधिं प्रस्तोतु माम्नातैषा  
स्वल्पाख्यायिका— “तार्क्ष्यो ह वा एतं पूर्वोऽध्वानं मैत्, यत्रादो  
गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोम माहरत्; तद्यथा क्षेत्रज्ञ मध्वनः पुर  
एतारं कुर्वीत, तादृक् तत्”—इति । ‘तार्क्ष्यः’ तन्नामा कश्चित् ‘वै’  
एव ‘पूर्वः’ अग्रगामी सन् ‘एतं मध्वानं’ पार्वत्यमार्गम् ‘ऐत्’  
आगमत्, दर्शयन्निवेति यावद् । कदा किमर्थं मित्याह— ‘यत्र’  
यत्काले ‘अदः’ वृक्षान्तं सम्पन्नम् । किमित्युच्यते— ‘गायत्री’  
देवगणप्रेरिता, गानेन गन्धर्वान् मोहयित्वा सोमानयने प्रवृत्ता,



काचिद् गायिका नारी, 'सुपर्णः' पक्षी, तद्वत् ( लुप्तोपमान मिदं  
षदम् ), स यथा तीक्ष्णदृष्टिर्द्रुतगामी स्थिरलक्ष्यश्च सन् स्वलक्ष्ये  
उत्पतिष्णुर्भवति, तथा 'भूत्वा', 'सोमम्' 'आहरत्' आहृतवती, 'तत्'  
तदानो 'यथा' 'अध्वनः क्षेत्रज्ञ' मार्गविशेषाभिज्ञं तद्देशवासिनं  
कञ्चिज्जनं 'पुर एतारं' पथप्रदर्शनायाग्रगामिनं 'कुर्वीत', 'तादृक्'  
'तत्' तार्क्ष्यशंसनं, दूरोहणारोहणाय भवतीति शेषः । कश्चासौ  
तत्र तादृशविजनप्रदेशे पुरुषस्तार्क्ष्य इत्याह— "अयं वै तार्क्ष्यो  
योऽयं पवते"—इति । 'तार्क्ष्यः' खलु 'अयं' प्रत्यक्षगम्यः । कः ?  
'योऽयं पवते' त्वाचप्रत्यक्षो यः सदैव सर्वत्र प्रवहति । एवञ्च  
वायोरेव नामान्तरं तार्क्ष्य इत्युक्तं सम्पन्नम् । स एष वायुरेव तत्र  
गायत्र्याः पथप्रदर्शको बभूवेति । तत्पथप्रदर्शकत्वञ्च वायो-  
गन्धवहत्वेनोपपद्यत एव ; अस्या एव दिशः सोमगन्ध आयातीति  
समनुभूय तत्प्रदेशं गतवती सेति भावः । एतेनापि किञ्चिद्  
वायुविज्ञानं भावेदितम्, विशेषतोऽभिज्ञानाय च ततः श्रुतम्—  
"एष स्वर्गस्य लोकस्याभिवोढा"—इति । 'एषः' तार्क्ष्यापरपर्यायो  
वायुः 'स्वर्गस्य लोकस्य अभिवोढा' मृतानां सुकृतीनां जन्तूनां  
मातिवाहिकान् देहान् स्वर्गं लोकम् अभिवहति । किञ्च स्वरित्या-  
दित्यपर्यायशब्दो निघण्टौ (१. ४. १.) पठितः, व्याख्यातश्च तथा  
निरुक्तेऽपि (२. ४. २.), स चात्र तद्रश्मिपरः ; ततश्चादित्यरश्मीनां  
मिह पृथिव्या मभिवाहकत्वेन चास्य तार्क्ष्यस्य सम्पद्यते स्वर्गलोक-  
वोढत्वम् । तदेव मिह सूर्यरश्मीनां वाहक एषः, अमुत्रातिवाहिक-  
सूक्ष्मदेहवाहकश्चैष एव ; तदिदं महाविज्ञानद्वयञ्चैतदाख्यायिक-  
योपदिष्ट मिति ध्येयम् ॥

एवमादिभ्य आख्यायिकाभ्यो बहव उपदेशाश्च लभ्यन्ते ; ततः

एता एवावलम्ब्य बह्व्यः कथा अनतिप्राचीनपुराणेषु तथाविधैति-  
हासादिषु च स्वल्पमतीनां स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां धर्मोपदेशाय  
कल्पिता भगवता व्यासेन, तदनुगामिभिश्चानेकैः क्रमादव्य-  
तनैरपि । अत एवोक्तं महाभारतोपक्रमे— “इतिहासपुराणाभ्यां  
वेदं समुपहृंहयेत्”—इति ( १. १. २६७. ) । वस्तुतस्तु  
सर्वपुराणैतिहासमूलीभूतो वैदिकाख्यायिकोक्तो वृत्तान्तभागस्तु  
सर्व एवोपमानादिमूलकः परिकल्पितोऽसत्य इत्येव सिद्धान्तितं  
मीमांसादर्शने । तथाहि “गुणवादस्तु”—इतिसूत्रव्याख्यानावसरे-  
ऽभाष्येवं स्फुटं श्रीमदाचार्येण शवरस्वामिना— “असद्वृत्तान्ता-  
न्वाख्यानम् ; सुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात् । इहान्वाख्याने  
वर्त्तमाने द्वयं निष्पद्यते,— यच्च वृत्तान्तज्ञानम्, यच्च कस्मिंश्चित्  
प्ररोचना द्वेषो वा । तत्र वृत्तान्तान्वाख्यानं न प्रवर्त्तकं न निव-  
र्त्तकञ्चेति प्रयोजनाभावादनर्थक मित्यविवक्षितम् ; प्ररोचनया तु  
प्रवर्त्तते द्वेषान्निवर्त्तत इति तयोर्विवक्षा”—इति ( १. २. १० सू० ) ।  
प्रदर्शितानि चैतदुदहरणानि बह्वनि तत्रैव किञ्चिदुत्तरम् ; तत्रैक-  
मिदं “सः ( प्रजापतिः ) आत्मनो वपा मुदक्खिदत् ( तै० सं० २.  
१. १. )”—इत्याद्याख्यायिकायाः प्रकृताभिप्रायव्याख्यानपरम्—  
“कथम्पुनरिदं निरालम्बन मन्वाख्यायते ? इति । उच्यते । नित्यः  
कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्यात्— वायुः, आकाशः, आदित्यो वा । ‘स  
आत्मनो वपा मुदक्खिदत्’—इति— वृष्टिं, वायुं, रश्मिं वा । ‘ता  
अमनौ प्रागृह्णात्’—इति— वैद्युते, आर्क्षिषे, लौकिके वा । ‘ततोऽजः’  
—इति— अन्नं, बीजं, वीरुदा । ‘त मालभ्य ( त मुपजीव्य ) प्रजाः  
पशूनाप्नोति’—इति गौणाः शब्दाः”—इति । तदेवं छिन्नेषु मूलेषु  
कुतो न पतेयुः पौराणिकैतिहासाद्भुतकथाः सर्वा यातेन कदली-

वनानि यथेति, को वा विश्वसिति वालोपदेशाय विष्णुशर्मादिभि-  
निर्मिता काकोलूकसंवादादिकथा अवालोऽपीति सुधीभिरेवाकल-  
नीय मिद मिति । पौराणिकसूर्यचन्द्रभूस्थित्यादिविज्ञानानि तु  
सर्वाण्येव वेदविरुद्धान्येवेति वेद्यं वेदविद्भिः स्वत एव स्फुटम् ।

तदेवं ब्राह्मणग्रन्थेषु यागा विहिताः, तत्सिद्ध्यर्था द्रव्यदेवता-  
मन्त्राश्च विहिताः, तत्र सर्वत्र प्रवृत्त्यर्थाः किञ्चिद्विज्ञानाद्युपदेशका  
अपि गौणमूलाः कल्पनासम्भूता आख्यायिकाश्च बह्व्य आम्नाताः,  
तत्तन्मन्त्राणां तत्तद्यागाद्युपयोगित्वं वर्णयितुं समासतस्तात्पर्यमन्वा-  
ख्यातुं वा व्याख्यानानि च कृतानि । ततश्च विध्यर्थवादाख्यानपूर्वक  
मादिमं सन्तभाष्यं ब्राह्मणमित्येव पर्यवस्यते ब्राह्मणलक्षणम् ।  
अस्ति चात्र ग्रन्थे तल्लक्षणं समन्तादितीद मपि ब्राह्मणम्, नाम्ना  
चैतदैतरेयक मिति सिद्धम् ॥

( २ )

अथातो विचार्य मस्ति कोऽस्य प्रवक्तेति ? महिदास इति विश्रुतः ।  
तथा ह्यारण्यकम्— “एतद्व स्म वै तद्व विद्वानाह महिदास ऐत-  
रेयः”—इति ( ऐ० आ० १. ८. २. ) । छन्दोगब्राह्मणेऽप्येव मेव  
( ५. १६. ७. ) । तत्र “महिदासो नामतः, इतराया अपत्य  
मैतरेयः”—इति शाङ्करं भाष्यम् । अप्यस्य भाष्यभूमिकायाञ्चालेखि  
सायणेनैवम्— “प्रकृतस्य तु ब्राह्मणस्यैतरेयकत्वे सम्प्रदायविद एता  
माख्यायिका माचक्षते । ‘कस्य चित् खलु महर्षेः बह्व्यः पत्न्यो  
विद्यन्ते स्म । तासां मध्ये कस्याश्चिदितरेति नामधेयम् । तस्या  
इतरायाः पुत्रो महिदासाख्यः कुमारः । तदीयस्य तु पितुर्भार्या-

न्तरपुत्रेष्वेव स्नेहातिशयो न तु महिदासे । ततः कस्याश्चिद्  
यज्ञसभायां स महिदास मवज्ञायान्यान् पुत्रान् स्वीकृत्य स्थापया-  
मास । तदानीं खिन्नवदनं महिदास मवगत्येतराख्या तन्माता  
स्वकीयकुलदेवतां भूमि मभिसस्मार । सा च भूमिदेवता दिव्य-  
मूर्तिधरा सती यज्ञसभायां समागत्य महिदासाय दिव्यं सिंहासनं  
दत्त्वा तत्रैन मुपवेश्य सर्वेष्वपि कुमारेषु पाण्डित्याधिक्य मवगम-  
यैतद्वाङ्मणप्रतिभासनरूपं वरं ददौ । तदनुग्रहात् तस्य महि-  
दासस्य मनसः ‘अग्निर्वै देवाना मवमः ( ऐ० ब्रा० १. १. १. )’  
—इत्यादिकं ‘स्तृणुते ( ऐ० ब्रा० ८. ५. ५. )’—इत्यन्तं चत्वारिंश-  
दध्यायोपेतं ब्राह्मणं प्रादुरभूत् । तत ऊर्ध्वम् ‘अथ महाव्रतम्  
( ऐ० आ० १. १. १. )’—इत्यादिकम् ‘आचार्याः ( ऐ० आ० २.  
६. ८. )’—इत्यन्त मारण्यकव्रतरूपं च ब्राह्मण माविरभूत्  
—इति”—इति । तथा चेतराशब्दात् “शुभ्रादिभ्यश्च ( पा० ४. १.  
१२३. )”—इत्यपत्यार्थे ठकि सम्पाद्य मिदं रूप मैतरेय इति ॥

अत्र कैश्चिदनुमीयते, सोऽय मैतरेयः स्याद् दासीपुत्रः ? अस्ति  
हि ब्राह्मणस्य ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्येतिविधायार्थाणां तदितरस्य  
शूद्रस्यानार्यस्य च कन्यापरिणयेऽधिकारः ; तथा क्षत्रियस्यापि  
क्षत्रिय-वैश्येतिद्विविधयोरार्ययोः तदितरस्य शूद्रस्य चानार्यस्य  
कन्याग्रहणेऽधिकारः ; एवं वैश्यस्यापि स्वजातीयाया आर्यायास्तदि-  
तरस्या अनार्यायाश्च कन्या-विवहनेऽधिकारः । तत्र सर्वेषा मेवार्य-  
वर्णानां प्रथमं स्वजातीया-पाणिपीडन मेव विहितम् । किञ्च  
आर्यकन्याना मेवोदहने यथाविधि वैदिकमन्वादीनां व्यवहारः  
समुचितः, तत एव हि तेषां पत्नीत्वम्; अत एवोक्तं भगवता महा-  
मुनिना पाणिनिनापि “पत्युर्नो यज्ञसंयोगे”—इति ( ४. १. ३३. ) ;



इतरस्यास्त्वमन्त्रकं ग्रहणमात्रम्, अपि भरणीयत्वहेतुकं भार्यात्वमिति विवेकः ॥ एतच्च सर्वं भृगुप्रोक्तमनुसंहितादौ सुव्यक्तं विहितम् । तथाहि—

“सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।

कामतस्तु प्रवृत्ताना मिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥

शूद्रेव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृता ।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः”—इति ( २. ) ।

तथैवान्यत्र— “विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु, नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ।

वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्, षडेतेऽपसदाः स्मृताः”—इति ( १०. ) ।

“वर्णत्रयाणां मेते षट् पुत्राः सवर्णापुत्रकार्यापेक्षया ‘अपसदाः’ निक्षुष्टाः”—इति तत्र कुल्लूकः । एषा मपसदत्वेऽपि द्विजत्वं न व्याहतम् । तच्च तत्रैव— ( १०. ४१. )

“सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः”—इति ।

“षट् पुत्राः द्विजधर्मिणः उपनेयाः”—इति च तत्र कुल्लूकः ।

पुनस्ततस्त्रैव— “यस्मात् वीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् ।

पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् वीजं प्रशस्यते”—इति ( १०. ७२. ) ।

यदुक्तं “न ब्राह्मणक्षत्रिययोः ०—० शूद्रा भार्योपदिश्यते”—

इत्यादिषट्श्लोक्या, तन्नून मपरिणीतसवर्णापरम् ; सवर्णाग्रे द्विजा-

तीना मिति श्लोकेऽग्रपदस्वारस्यात्, कुल्लूकभट्टेन तत्र तथैव व्याख्या-

तत्वाच्च ; न ह्यन्यथा पूर्वापरग्रन्थविरोधः स्यात् परिहार्यः । अत एव

धीवरीगर्भजस्य वेदव्यासस्य विप्रत्वमुपपद्यते, एवं “नाग्निं चित्त्वा

रामा मुपेयात्”—इति ( तै० सं० ५. ३. ८. ६. ) निषेधश्रुतिश्च सङ्ग-

च्छते । तैत्तिरीयारण्यकेऽपि “संवत्सरं न मांसं मश्नीयात्, न रामा

मुपेयात्, न मृण्मयेन पिबेत्, नास्य राम उच्छिष्टो पिबेत्, तेज एव



तत् संश्यति”—इति (५. ८. ४६.) श्रुतम् । एवमादौ ‘रामा’-शब्दः  
 शूद्रापरः ; तथैव व्याख्यातत्वात् । विशेषतोऽत्र नैरुक्तं द्रष्टव्यम् ।  
 तथाहि—“रामा रमणायोपेयते, न धर्माय ; कृष्णजातीया”—इति  
 ( १२. २. २. ) । “रामा-इति शूद्रोच्यते”—इत्यादिस्तदीया दीर्घी  
 वृत्तिश्चेह द्रष्टव्या । तदेवं सवर्णायाः पाणिपीडनानन्तरं मसवर्णानां  
 ग्रहणे न कोऽपि दोष इति सिद्धान्तः । अत एव “इन्द्रस्य प्रिया  
 जाया वावाता प्रासहा नाम”—इत्यैतरेयश्रुतेर्व्याख्यानावसरे सायण  
 आह—“राज्ञां हि त्रिविधाः स्त्रियः । तत्रोत्तमजातेर्महिषीति  
 नाम , मध्यमजातेर्वावातेति , अधमजातेः परिवृत्तिरिति”—इति  
 ( ३. २. ११. ) । श्रुताश्चैतास्तैत्तिरीयेऽप्यश्वमेधप्रकरणे ( ब्रा० ३,  
 ८. ४. ५. ) । शतपथे तु “चतस्रो जाया उपकृता भवन्ति,  
 —महिषी, वावाता, परिवृक्ता, पालागली”—इति ( १३. ५. १. ८. )  
 श्रीचातुर्विध्यं श्रुतम् ॥

तदेव मेतद्वाङ्मणप्रवक्तुरैतरेयनामव्युत्पत्तित एवेतरागर्भसम्भू-  
 तत्वसिद्धेः सायणाचार्योक्तप्रवादप्रथितयज्ञसभाप्रतिपत्तिहेत्वनुमानतश्च  
 सिध्यत्येव दासीपुत्रत्वम् । तत एव महिदास इति दासान्त  
 मभिधानं मपि विश्रुतम् ; तथा विद्वानित्येव विशेषणम् , न तु  
 ऋषिरित्याचार्य इति वेति ।

नन्वेव मार्याणां मार्यत्वप्रतिपादकानां मादिधर्माणां यागादीनां  
 विधायकस्यैतस्य ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रवचनकर्तृत्वं कथं मनार्ये तत्र  
 दासीपुत्रे सम्भवेन्नामेति चेत् , अत्र ब्रूमः । यागादिविधायक-  
 ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रोक्तत्वं तु किं तुच्छम् , मन्त्रद्रष्टृत्वमपि ज्ञायते  
 दासीपुत्रस्यापीति । तद्यथा श्रुतं तावत्तत्रैव कवषैलूषोपाख्या-  
 नम्—“ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत । ते कवषमैलूषं

सोमादनयन्, दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीप्ति-  
हेति । तं बहिर्धन्वोदवहन्नत्रैनं पिपासा हन्तु सरस्वत्या उदकं  
मा पादिति । स बहिर्धन्वोद्धूढः पिपासया वित्त एतदपोनपत्नीय  
मपश्यत्”—इत्यादि (२. ३. १.) । तदपोनपत्नीयं सूक्तानु दाशतय्यां  
दशमे त्रिंशं द्रष्टव्यम् ॥

तत्त्वतस्तु पुरा खल्वत्रार्यावर्त्ते” ये नगरवासिनः सभ्यास्तेषा  
मार्यत्वम्, ये त्विहावीतरागा अप्यरण्याश्रिता गिरिकन्दरादिवासिनो  
ऽसभ्यास्तेषा मनार्यत्व मित्येव जातिद्वयं पार्थक्येन वर्णनीय मासी-  
ज्जन्मस्थानव्यवहारादिभेदतः । तथा ह्याथर्वणिकाः किल तज्जाति-  
द्वय मवलम्ब्यैव माम्नायन्ते ( १६. १. ८. १. )—

“प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु ।

प्रियं सर्वस्य पश्यत,— उत शूद्र उतार्ये”—इति ।

अहो प्रशस्योऽयं तदानीन्तनः सार्वजनीनप्रीतिभावः ! तदेवं  
तदानीं यथा ज्ञानालोचन-बलरक्षण-पणनव्यवहारहेतुभिरार्याणां  
ब्राह्मणादिजातिभेदाः प्रचलिताः, तथैवानार्याणां मपि आर्यानु-  
गतत्वाननुगतत्वभेदात् द्वेविध्यं सम्पन्नम् । ये त्वनार्या अप्यार्याणां  
मानुगत्य मालम्बिरे, त एव दासाः ; तद्विपरीतास्तु दस्यव इति  
व्यपदिष्टाः । त एव च दासाः शूद्रा इति, दस्यवस्तु क्लेष्टा  
इति चाख्याताः । इत्य मिह पञ्च जातयो निष्पन्नाः । एताश्च  
पञ्च जातयो मनुष्याणां मेवेति मनुष्यशब्दपर्यायत्व माप्तं पञ्चजन  
इति । तदेव मेषु पञ्चजनेषु कर्मादिभेदत एव ब्राह्मणः, क्षत्रियः,  
वैश्य इति त्रय आर्याः ; दासो दस्युश्चेति दावनार्याविति स्थितम् ॥

अथ यद्यपि जातिर्जन्मेति पर्यायशब्दाविति जन्मानुसारि-  
ण्येव जातिरित्येव सर्वसम्मतम्, सम्प्रति तदन्यथाकरणे जात्यु-

च्छेदप्रसङ्गः स्यादिति सत्यम् ! तथापि कर्मतो जात्यन्तरतापि नास-  
त्यम् ! तदाहापस्तम्बः—“धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णं  
मापद्यते जातिपरिवृत्तौ”—इति, “अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं  
जघन्यं वर्णं मापद्यते जातिपरिवृत्तौ”—इति च (२. ५. १०, ११) ।

मनुरप्याह—“शूद्रो ब्राह्मणता मेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जात मेवन्तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च”—इति १०. ६५ ।

“जातो नार्या मनार्याया मार्यादार्यो भवेद् गुणैः”

—इति ( १०. ६६. ) च मनूक्त मिह स्मर्त्तव्यम् ॥

न च व्यवहारादिभिश्च जातिपरिवर्त्तनं मद्दृष्टचरं वक्तव्यम् ।  
तत्रानार्यस्याप्यार्यत्वलाभोऽभवदपोनपत्नीयसूक्तदर्शनसामर्थ्यादिति  
तु इदानीं मेव प्रदर्शितम् ; आर्यस्याप्यनार्यत्वलाभोऽपि समान्नात  
इहैवैतरेयके । तथाहि—“तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः,  
पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः , पञ्चाशत् कनीयांसः , तद् ये  
ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे , ताननु व्याजहारान्तान् वः प्रजा  
भक्षीष्टेति । त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शवराः पुलिन्दा मूतिवा इत्युदन्त्या  
बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः”—इति ( ७. ३. ६. ) ।

विश्वामित्रस्यास्य जन्मतः क्षत्रियत्वम्, वसिष्ठस्यर्षेर्धेनुप्रार्थनम्,  
तदलाभात् तच्छतपुत्रनाशनम्, ततस्तपःप्रभावाद् ब्राह्मणत्वलाभ  
इति पौराणिकी कथापि स्यादत्रोपयोगित्वेनादरणीया, किन्तु सा  
नूनं मामूलकल्पितैव ;—न स महर्षिः कदाप्यासीद्ब्राह्मणः, नापि  
कदापि तेन वसिष्ठस्यर्षेर्धेनुप्रार्थनं कृतम्, न च तच्छतपुत्रनाशस्तथा-  
विधस्य महर्षेः कथं मपि युज्यते, नैव स तपःप्रभावाद्ब्राह्मणत्वमापेति  
सर्वं मेवेदं मसङ्गतं मनृतं वचः पौराणिकानाम् ; वेदमूलकत्वाभावा-  
दंशतो वेदविरुद्धत्वाच्चेति वेदानुशीलिनां सुविदितं मेवेति दिक् ॥

प्रकृतै तु यथाय प्रतीचोदीचापाच्यभारतीयानां भारतसम्प्राट्-  
सैनिकेषु लब्धप्रवेशत्वेऽपि प्राच्येषु वङ्गदेशीयानां योग्यबलाद्यभावत  
एव नास्ति प्रवेशाधिकारः, अस्ति तु व्यांश्फिरिङ्गीति वङ्गप्रसिद्धानां  
युरेशीयानाम् ; तथैवामिश्रितार्यशोणिताना मनार्याणा बुद्धि-  
मान्यादितोऽनुपयुक्ततयैवास्मच्छास्त्रेषु वेदग्रहणायोपनयनविधे-  
रभावोऽनुग्रह एव, विमिश्रार्यशोणितानां तु वेदव्याससदृशानां वेद-  
ग्रहणायोपनयनं केन वारित मिति स्फुटम् । मनुरप्याह— “वीज  
मेके प्रशंसन्ति क्षेत्र मन्ये मनीषिणः”—इत्यादि ( १०. ७०. ) ।  
“जातो नार्या मनार्याया मार्यादर्यो भवेद् गुणैः”—इति च  
( १०. ६७ ) गुणपक्षपातस्तत्रैव । शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षात्  
वेदवचन मपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन ( वा० सं० २६. २. )—

“यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः ।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय”—इति ।

तदेवं वेदविधेः पक्षपातदोषभाक्त्वं न कथं मपीति स्पष्टम् ;  
स्पष्टञ्च दासाना मनुपयुक्तमतीनां मन्वादिकर्तृकं वेदानधि-  
कारित्वविधान मनुग्रहार्थं मेवेति ।

वेदाधिकारित्वानधिकारित्वप्रसङ्गादिहान्यदपि किञ्चिद् वक्तव्य  
मस्ति, तद्यथा— भारतवर्षीयाणा मस्माकं शास्त्रग्रन्थेषु यावन्तो  
विधिनिषेधा विहिताः, यानि च वर्णाश्रमधर्मशासनानि श्रुतानि  
स्मृतानि च, तैः खल्विमे वयं भारतवर्षीया एव शास्याः, न त्वन्य-  
देशीयाः ; अत एवोक्तं मनुना— “अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुण-  
दोषौ च कर्मणाम् । चतुर्णा मपि वर्णाना माचारश्चैव शाश्वतः”—  
इति ( १. १०७. ) । एवञ्चास्मच्छास्त्रकृता ब्राह्मणादिजातिसंज्ञा  
त्वस्माक मेव ; भारतादन्यत्र ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णाः शूद्रस्तेच्छाश्च



नैव सन्तीति तत्रत्यानां ब्राह्मणादिजातिमत्त्वेनार्यत्वं शूद्रस्त्रीच्छत्वे-  
 नानार्यत्वं वा न किमपि सङ्गच्छतेऽस्मच्छास्त्रानुसारतः । तदेव  
 मिहशण्डादिदेशानां स्त्रीच्छदेशत्वम्, तत्तद्देशीयानां स्त्रीच्छत्वञ्च न  
 कथमपि सङ्गच्छत इति प्रणिधानेनालोच्यम् । स्त्रीच्छदेशाः किलात्र  
 भारते विद्यन्त एव, स्त्रीच्छा अपि भारतीयेष्वेव केचन, स्त्रीच्छा-  
 चारास्त्रास्मच्छास्त्रविमुखानां मार्याणां ममार्याणाञ्च भारतीयानां  
 मेव, न त्वन्यदेशीयानाम् ; तत्तद्धर्मशास्त्रेषु स्त्रीच्छास्त्रीच्छविज्ञानो-  
 पदेशाभावात् । सन्ति ह्यत्र चिरादेव स्त्रीच्छाः, स्त्रीच्छदेशाः,  
 अस्त्रीच्छानां स्त्रीच्छवाक्प्रयोगादिस्त्रीच्छाचारनिषेधाश्च । शतपथ-  
 ब्राह्मणे त्वसक्तदेव श्रुतो स्त्रीच्छशब्दः ( ३. २. १. २३, २४. ),  
 पाणिनेर्धातुपाठेऽस्ति स्त्रीच्छ धातुः ( भा० प० २. ५. ), गणपाठे-  
 प्युच्छादौ तच्छब्दपाठः ( ६. १. १६०. ), कात्यायनस्य व्याकरणाध्य-  
 यनप्रयोजनान्वाख्यानानुसारे शतपथब्राह्मणमूलकं 'स्त्रीच्छा च वा मा  
 भूम'-इति कथनम्, पतञ्जलेः पस्पशायां तद्व्याख्यानम्, मीमांसा-  
 दर्शने आर्यस्त्रीच्छाधिकरणम् ( १. ३. ६. ), मनौ स्त्रीच्छदेशलक्षणम्  
 ( २. २३. ) स्त्रीच्छभाषादेरुल्लेखश्च ( ७. १४८ ; १०. ४५, १२.  
 ४३. ), महाभारते ह्यादिपर्वणि पाण्डवानां वारणावतगमनप्रक्रमे  
 ( १४५ अ० ) युधिष्ठिरं प्रति विदुरस्य स्त्रीच्छभाषया गूढोपदेश-  
 दानश्चेतत् सर्वं तन्निदर्शनमिति ।

तदित्यं महिदासस्य शूद्रावर्णजातत्वेऽपि ब्राह्मणग्रन्थप्रवचन-  
 शक्तिमत्त्वेन ब्राह्मणत्वं स्यात् सञ्जातं किं तत्र चित्रमित्यत्रैवोपर-  
 मामहे वयमिति ॥

एष हि महिदासोऽभूद् दीर्घजीवी, तच्छ्रूयते ह्यान्दोग्यब्राह्मणे--  
 "स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्"-इति ( ५. १६. ७. ) । षोडशा-



धिकशतवर्षकालमपि जीवनं मेव मनुष्याणां पूर्णं आयुः । अतएव तत्रैव ततः प्रागिमान्यपि वचनान्यान्नातानि— “चतुर्विंशतिवर्षाणि प्रातस्सवनम्” प्रथमं वयः, वाल्यं मिति यावत् । ततः “चतुस्रत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्” मध्यं वयः, यौवनं मिति यावत् । तत उत्तरम् “अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयसवनम्” अन्त्यं वयः, वार्द्धक्यं मिति यावत् । एवं सङ्कलनया “प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति” ११६ आयुः पूर्णं सम्पद्यत इत्यर्थः । न चैवं “शतायुर्वै पुरुषः”—इति ( ऐ० ब्रा० २. २. ७. )—श्रुतिर्विरुध्येत ; द्विशतायुर्जीविनः पुरुषस्य वेदे लोके चादर्शनात् । अतएव शतपथे पूर्णायुर्मन्त्रव्याख्यानायैवं प्रोक्तम्— “शतं हिमाः ( य० वा० सं० २. २७. )—इति, शतं वर्षाणि जीव्यास मित्येवैतदाह । तदप्येतद् ब्रुवन्नाद्रियेत ? अपि हि भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति”—इति १. ८. ३. १८ । एतेनावगम्यते शताद् वर्षेभ्यः किञ्चिदधिकं मपि तत्रैव गण्यत इति । एव मपि “दशवर्षसहस्राणि दशवर्ष-शतानि च । रामो राज्यं मुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति”—इति महाकाविवाल्मीक्युक्तं ( रा० १. १. ८३. ) जल्पकल्पतरुफलं न कदापि भवेन्नस्तव्यम् ; वेदविरोधादिति स्पष्टम् ॥

अनेनैव महिदासेन आरण्यकग्रन्थोऽप्येकः प्रोक्तः । स हि पञ्चधा विभक्तोऽधीयते । तत्र सायणाचार्य्येण प्रथमद्वितीयतृतीयांशानां मेव तत्प्रोक्तत्वं स्वीकृतम् । तथा चैतरेयभाष्यभूमिकायाम्— “तस्य महिदासस्य मनसा ‘अग्निर्वै देवानां भवमः ( ऐ० ब्रा० १. १. १. )’—इत्यादिकं ‘सृणुते ( ऐ० ब्रा० ८. ५. ५. )’—इत्यन्तं चत्वारिंशदध्यायोपेतं ब्राह्मणं प्रादुरभूत् । तत ऊर्ध्वम् ‘अथ महाव्रतम् ( ऐ० ब्रा० १. १. १. )’—इत्यादिकम् ‘आचार्याः ( ऐ० श्रु० १. १. १. ८. )’

—इत्यन्त मारण्यकव्रतरूपञ्च ब्राह्मण माविरभूत्”—इत्युक्तम् ।  
 चतुर्थारण्यकविषये तूक्तं तेन— ‘तदिदं नवसङ्ख्याकानां सृचां  
 पुरीषपदानाञ्च प्रतिपादकं ग्रन्थजातं यद्यपि कर्मकाण्डे पठितं  
 युक्तम्, तथाप्यरण्य एवाध्येतव्यमित्यभिप्रेत्य चतुर्थारण्यकत्वेनात्र  
 पठितम्’ ( ऐ० ४ आ०. १. १. १५. ) इति । पञ्चमस्यान्तिमस्य  
 त्वाश्वलायनकृतसूत्रत्वमेवामानि तेन । इत्थं प्रथमारण्यकत्रयस्य  
 महिदासप्रोक्तृत्वम्, चतुर्थस्य संहितान्तरात् सङ्गृह्य पठितत्वम्,  
 पञ्चमारण्यकस्य तत्परभवत्वं च स्फुटम् । ऐतरेयोपनिषद्ग्रन्थस्त्वे-  
 तदारण्यकान्तर्गत एव ; परं तत्राप्यस्ति मतान्तरता । इदानीं  
 मैतरेयोपनिषदिति प्रसिद्धः शाङ्करभाष्यादिसमन्वितो योऽयं ग्रन्थो-  
 ऽधीयते सर्वत्र, ततोऽधिकतरः सायणसम्मतः । तेन ह्याचार्येण “एष  
 ग्रन्थः ( ऐ० २ आ० १. १. १. )”—इत्यादिः “आचार्याः—  
 ( ऐ० ३ आ० २. ६. ८. )”—इत्यन्तश्च द्वितीयतृतीयारण्यात्मकः  
 समग्र एव ग्रन्थ उपनिषदित्यवादि ॥

सोऽयं मेक एवैतरेयो महिदासी ब्राह्मणः, पारशवो वा विद्यया  
 ब्राह्मणत्वमाप्यास्य चत्वारिंशदध्यायात्मकस्य ब्राह्मणग्रन्थस्य तथोप-  
 निषद्गर्भस्यारण्यकत्रयस्य च बभूव प्रवक्तेति सिद्धम् ॥

( ३ )

अथ कुत्रत्यः सः ?— को जनपदस्तस्यैतरेयस्य जन्मभूरभि-  
 जनो वेति । अत्र ब्रूमः । एष आर्यवर्त्त एव तज्जन्मभूरिति ।

अथैतदार्यावर्त्ताभिधानं न कचिदपि संहितायां ब्राह्मणे वा श्रुत

मस्ति ; अनतिप्राचीनग्रन्थेषु पातञ्जले महाभाष्ये , विशेषतस्तु भृगुप्रोक्तायां मनुसंहितायां ततो महाभारतादावपि कृत एतत्स्वरूपादिनिर्णय इति तन्नामप्रसिद्धिः । तत्त्वतस्त्वार्याणां वासनिबन्धनमेव तन्नामेति आर्यनामैवार्यावर्त्तनामबीजमुपगम्यते ।

आर्यशब्दस्तु ऋक्संहितादौ बहुत्र बहुधा श्रूयते, प्रतीयते च तत्र सर्वत्रैव तदानीं मिह पृथिव्यां श्रेष्ठजातिरेवार्यनामतः प्रसिद्धेति । तद्यथा— “विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्”—इति ऋ० सं० १. ५१. ८१ । “साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्रकृतेन सहसा सहस्रता”—इति ऋ० सं० १०. ८३, १२ । “नवदशभिरसुवत शूद्रार्यावसृज्येताम्”—इति य० वा० सं० १४. ३०. १क० । “तथाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः”—इति अथ० सं० ४. २०. ३ख० । “शूद्रार्यौ चर्मणि व्यायच्छेते”—इति सा० ता० ब्रा० ५. ५. १४ । तैत्तिरीयसंहिताया मध्येष आर्यशूद्रयोश्चर्मनिमित्तः कलह आम्नातः (७. ५. ८. ८.) । ऐतरेयकेऽप्याम्नात आर्यशब्दः— “अयुवमार्यस्य राष्ट्रं भवति”—इति ८. ५. २ । महामुनिपाणिनिनाप्येकत्र आर्यशब्दोल्लेखः कृतः— “आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः (६. २. ५८.)”—इति । निरुक्तकारः खलु यास्कोऽप्येकत्रार्यशब्दं व्यवहृतवान् जातिवचनम्— “विकारमस्त्यार्येषु”—इति (२. १. ४.) । आर्यशब्दव्याख्यानञ्चाम्यत्र कृतं तेनैवम्— “आर्यः = ईश्वरपुत्रः”—इति (६. ५. ३.) । अस्ति च ‘अर्यः’—इति पदं परिपठितं निघण्टौ (२. २२.) ईश्वरनामसु , तत एवापत्यार्थप्रत्यये सिद्धप्रत्यार्यशब्द इति सम्पन्नं तन्निर्वचनम् । तदेव मवगम्यते,— यथा महम्मदीया महम्मदं नाम स्वधर्मप्रवर्त्तकं साक्षादीश्वरदूतं मन्यन्ते , यथा वा कृष्णानाः स्वधर्मप्रचारकं खीष्टं

साक्षादीश्वरात्मजं मन्यन्ते, एव मेव पुरास्माकं मपि पूर्वपुरुषा रूप-  
वत्त्वेन, बलवत्त्वेन, विद्वत्त्वेन, सत्यवादितादिबहुसङ्गवत्त्वेन,  
पवित्राचारत्वेन बहुगौरववन्त आसन्नित्येवेश्वरपुत्रा इत्यभवन् व्यप-  
दिष्टास्तदेवास्माकं मार्यनामनिदानमिति ।

त इमे आर्यास्तदानीं मादर्मविज्ञानादि-ब्रह्मविज्ञानान्तर्विस्तृता  
अतिसभ्या अप्यतिप्राचीनाः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्येति त्रिविधाः,  
दस्युदासेतिद्विविधासभ्यशूद्रतोऽन्याः, ईश्वरपुत्रा इति व्यपदिष्टा  
आसन् । अहो ! त एवेमेऽद्य कालचक्रपरिभ्रमणनियमतो  
सुप्तकल्पवेदविज्ञाना विलुप्तैक्यवशा बहिर्वाणिज्यास्तर्वाणिज्यहीनाः  
सन्तो मुमूर्षुदशापन्ना भृशं श्वसन्तीत्येव जीविता इति ।

अथैत एव “आर्या अत्रावर्त्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्या-  
र्यावर्त्तः”-इत्याह च मनुटीकायां कुल्लूकः ( २, २२. ),  
‘आवर्त्तनं’ पुनःपुनर्जन्मग्रहणमिति तदाशयः । अस्मन्मते तु  
जन्मान्तरस्वीकारेऽपि ‘आर्याः’ ईश्वरपुत्रा इति व्यपदिष्टा मनुष्याः  
यत्र ‘आ’ आभिमुख्येन, प्रधानरूपेण ‘वर्त्तन्ते’ विद्यन्ते, निवस-  
न्तीति स एव भूभाग आर्यावर्त्तः । तदेव मार्यावासत एव  
आर्यावर्त्तनामेति सिद्धान्तः ।

स चार्यावासः पूर्वं तावत् हिमवत्पृष्ठस्य दक्षिणभागे सुवासु-  
प्रदेशे एवासीदिति गम्यते । श्रूयते ह्यृक्संहितायाम्— “सुवास्वा  
अधि तुग्वनि”-इति ( ८. २०. ३७. ) । व्याख्यातश्चैष ऋगंशो यास्केन  
— “सुवासुर्नदी, तुग्व तीर्थं भवति, तूर्णं मेतदायन्ति”-इति ( ४,  
२, ७. ) । वासुर्वासभूमिः, सा खलु यस्यास्तीरे सुहु एव, सा नदी  
सुवासुर्नाम । तत्तीरस्थितो जनपदश्चाभवत् तन्नामतः सुवासु-  
रेव । “सुवास्वादिभ्योऽण्”-इति ( ४. २. ७७. ) सूत्रदर्शनादव-



गम्यते विदितश्चार्थः प्रदेशः पाणिनेरपीति । कनिङ्गहाममहोदय-  
मतेऽप्य 'स्वात्'—इति 'सुवात्'—इति वा प्रसिद्धा नद्येव सा सुवासुः ।  
सुवासुवासकाले एव स्यादिय मृक् समान्नाता ( ५. ५३. ८. )—

“मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मा वः सिन्धुर्निरीरमत् ।

मा वः परिष्ठात् सरयुः पुरीषिण्यस्मे इत् सुन्न मस्तु वः”—इति ॥

अस्यार्थः ।— ‘अस्मे’ अस्माक मियम् ‘अनितभा’ अगतप्रभावा  
सर्वर्तुषु अतिप्रभावा ‘रसा’ नदी ‘वः’ युष्मान् ‘मा निरीरमत्’  
अतिरमणस्य अत्यानन्दतो विहरणस्य बाधां जलप्लावनादिजन्यां मा  
कुर्यात् । ‘कुभा’ कुक्षितप्रभावा नदी च ‘वः’ ‘मा निरीरमत्’ ।  
‘क्रुमुः’ नदी च ‘वः मा निरीरमत्’ । ‘सिन्धुः’ क्रुमुसङ्गतः सिन्धु-  
नदोऽपि ‘मा वः निरीरमत्’ । ततः क्रुमुसङ्गतसिन्धुतः ‘परिष्ठात्’  
परस्थिता ‘पुरीषिणी’ सदैव सजला ‘सरयुः’ नदी च ‘वः’ युष्मा-  
कम् ‘सुन्नं’ सुखम् ‘इत्’ एव ‘अस्तु’ ।

एतस्मादृष्टान्वात् पूर्वतनार्यावासस्य तस्य चतुस्त्रीमनिर्देशो-  
ऽपि व्यज्यत इव । तथा च तस्मादुज्जिहानप्रदेशीयसुवासुनदीतीरस्थ-  
सुवासुजनपदात् बह्वत्तरस्थातिप्रभावा रसा नद्येव तदुत्तरसीमा ;  
इदानीं काबुल् नदीति प्रसिद्धा हीनप्रभावा कुभैव स्यात्  
तत्पश्चिमसीमा ; तच्चशिलाप्रदेशीया सरयूरेवासीत् तरपूर्व-  
सीमा ( न चात्रोत्तरकोशलप्रदेशीया सरयूरुपपद्यते, कुभेत्यादि-  
साहचर्यात्, अर्थज्ञाने साहचर्यस्यापि नियामकत्वं मन्तव्यमेव ;  
अन्यथा हि रामलक्ष्मणावित्यत्र जामदग्न्यकृष्णायजयोरन्यतर-  
स्यापि बोधः स्यात् ) ; अथ कुभाया नीचैः क्रुमुसिन्धुसङ्गम एव  
तद्वक्षिणसीमेति च सम्पद्यते सुतराम् ।

यदा हि सुवासुतः पश्चिमस्यां दिश्यवस्थितो निषधपर्वतोऽप्य-



भूदार्यावासस्तदाप्ययं सुवास्तुप्रदेश एवासीत् तदीयपूर्वसीमित्यपि  
गम्यतेऽपरमन्त्रेभ्यः । तथाहि सं १. १०४ सूक्तं द्रष्टव्यम् । तत्र  
प्रथममन्त्रे “योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि”—इति श्रुत्या निषद-  
स्याप्यार्याधिकृतत्वं गम्यते । अत एव शतपथेऽपि श्रुतम्— “नङो  
नैषिधः”—इत्यादि ( ३. ३. २. १, २. ) । ततश्चतुर्थमन्त्र एषः—

“युयोप नाभिरुपरस्यायोः प्रपूर्वाभिस्तिरते राष्ट्रि शूरः ।

अञ्जसी कुलिशी वीरपत्नी पयो हिन्वाना उदभिर्भरन्ते”—इति ।

अस्यार्थः— ‘उपरस्य’ उपलस्य पर्वतस्य सम्बन्धीति यावत् ,  
‘नाभिः’ प्रधानावासो योऽस्ति, तम् ‘शूरः’ विक्रान्तः ‘आयोः राष्ट्रिः’  
मनुष्यराजः कश्चनार्यः ‘युयोप’ रक्षति । तद्धि नगरं काले काले  
‘पूर्वाभिः’ प्राग्वहमानाभिर्नदीभिः ‘प्रतिरते’ प्लवमाना भवति,  
तत एवापदः स राजा तन्नगरं रक्षतीत्यभिप्रायः । काश्च ताः प्राक्  
प्रवहमाना नद्य इत्याह— “अञ्जसीत्यादि । अञ्जसी’ सुवास्तुतः  
ऐशान्यां दक्षिणाभिमुखी वहमाना, ‘कुलिशी’ सुवास्तुतो वायव्यां  
दक्षिणाभिमुख्येव वहमाना, ‘वीरपत्नी’ सुवास्तुत आग्नेयां दक्षिणा-  
भिमुख्येव वहमाना , एतास्तिस्त्रो नद्यः ‘पयो हिन्वानाः’ सत्यः  
‘उदभिः’ प्रवृद्धोदकैः ‘भरन्ते’ प्लावयन्ति, तं नाभि मिति ।

ततः क्रमात्सुवास्तुतः प्राग् दक्षिणस्या मपि बहुदूरस्थां श्रीकण्ठ-  
शैलसमुद्भूतां जङ्गुमुन्याश्मतलवाहिनीं जङ्गावीं यावदार्यावासः  
सम्पन्नः । अत एवैषा ऋगाम्नाता ( ३. ५८. ६. )—

“पुराण मोकः सख्यं शिवं वां युवोर्नरा द्रविणं जङ्गाव्याम्”—इति ।

जङ्गावी जाङ्गवीत्यनर्थान्तर मित्यस्माकम् । प्रसिद्धैषा नदी  
भागीरथ्याः शाखाविशेषेत्युत्तराखण्डेऽद्यापि । जाङ्गवप्रदेशस्य  
पुराणौकस्त्वाम्नात मितं नूनं व्यक्तिगतं न तु सार्वजनीन मिति

च वेदितव्यम् । जङ्गावीतीरस्थो जाङ्गवप्रदेशः खल्वद्यतनपांच-  
कोरायाः प्राक्, सिन्धुतः प्रत्यक्, वुनार् (वर्णु) प्रदेशतश्चोदक्  
स्थित इति विश्वकोषसम्पादको वसुदासः । एवञ्च सुवासुसन्निहितै-  
वेयं जङ्गावी इति स्वीकृतैऽपि नो न क्षतिः ।

तत एष आर्यावासः सारस्वतप्रदेशेषु विस्तीर्णः । तदाह  
यास्कः— “विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव,  
स वित्तं गृहीत्वा विपाट्कुतुद्रेः सम्भेद माययावनुययुरितरे”—  
इति ( २. ७. २. ) । इहैव बहव ऋङ्गन्ताः सामगानमन्त्राः  
आथर्वणमन्त्राश्च समान्नाताः, यागविधयश्चात्रैव समुद्भूताः परिपुष्टा  
वा ; आर्यसाम्राज्यञ्चैव प्रथमं विश्रुतम् । अतएव सर्ववैदिकग्रन्थेषु  
सरस्वतीनामाख्यानादिकं बहुत्रैव श्रूयते । तद्यथाश्वलायनशाखा-  
याम्—१. ३. १०-१२ ; २. ३०. ८ ; ३१, १६-१८ ; ६. ६१ ;  
७. ८५. १, २, ४-६ ; ८६. १-३ ; १०. १७. ७-८ इत्येवमादयः  
समालोच्यः । तदेतस्य सारस्वतप्रदेशस्य यागभूमित्वेन प्रशंसन  
मप्यनेकत्र श्रूयते । तद्यथा ( ३. २३. ४. )—

“नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास्पदे सुदिनत्वे अङ्गाम् ।

दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि”—इति ।

अस्यार्थः ।— ‘इळायास्पदे’ शस्यबहुले, अतएव ‘पृथिव्याः  
वरे’ उत्कृष्टप्रदेशे हे ‘अग्ने !’ ‘रेवत्’ रेवान् धनवानहं ‘त्वा’  
त्वां ‘आ’ आभिमुख्येन ‘निदधे’ स्थापयामि । कश्च सः शस्यबहुलः  
पृथिव्या वरः प्रदेश इत्याह— ‘दृषद्वत्यां’, ‘आपयायां’, ‘सर-  
स्वत्याम्’ इति ; दृषद्वतीतीरत आरभ्य सरस्वतीतीरं यावत्  
त्रिनदीतीरप्रदेशः, सर्व एव ब्रह्मावर्त्तः । ‘मानुषे’ जनपदे तादृशे त्वं  
‘दिदीहि’ दीप्यस्व । अत एवोक्तं मनुना— “सरस्वतीदृषद्वत्यो-

द्वन्द्वोर्द्वन्द्वम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते”-  
इति ( २. १७. ) । किमर्थं त्वां निदध इत्याह— ‘अक्कां सुदिन-  
त्वाय’-इति । जीवत्कालानां सुप्रभातीकर्त्तुमित्यर्थः ।

ततो यदा एष आर्यावर्त्तो बहुविस्तृतस्तदैव त्रिसप्तनदीभिः परि-  
व्याप्त इति वर्णित मस्या मृक्संहितायाम् । तथा चास्ति शाकल-  
संहितायां दशममण्डले नवर्चं मेकं सूक्तम् , तच्च नदीस्तुतिपर-  
मिति नदीस्तुदिति भाष्यते , ततस्तदानीन्तनार्यावर्त्तप्रधाननदी-  
वर्णनञ्च लभ्यते । तस्येयं पञ्चमी ऋक्—( १०. ७५. ) ।

“इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।

असिक्का मरुद्भवे वितस्तयार्जीकीये शृणोह्या सुषोमया”-इति ।

अत्र श्रुता गङ्गा (१) नदी त्वस्मद्देशेऽतीव प्रसिद्धा । ततः  
पश्चिमस्था यमुना (२) । ततः पश्चिमस्था सरस्वती (३) । ततः  
पश्चिमस्था शुतुद्रि (४), याद्य शतद्रुरित्युच्यते । ततः पश्चिमस्था  
परुष्णी, सैवेरावतीत्युक्ता यास्ककाले ( निरु० ८. ३. ५. ), एतर्हि  
त्वैरावतीति । ततः पश्चिमस्था असिक्की , सैव चन्द्रभागेत्युच्यते ।  
ततः पश्चिमस्था वितस्ता । ऐरावती, चन्द्रभागा, वितस्तेति तिसृणा  
मासां नीचैः सम्मिलनतो याभूदतिप्रसारा मालवदेशीय-कश्यप-  
पुरतः पश्चिमस्थां दक्षिणाभिमुखी महानदी , सैवेह मरुद्भवेति  
पञ्चमी (५) । तत एव कश्यपपुरतः प्राक्प्रवाहिता या शुतुद्रि  
(शतद्रुः) पूर्वं मिह वर्णिता , तस्या एव शतद्रोरुपरिष्ठात् पश्चिम-  
पार्श्वतः सङ्गता च प्राचीनतमा आर्जीकीया (६); उरुञ्जिरेत्य-  
प्यस्याः प्राचीनतरं नाम , इय मेव विपाडित्युक्ता यास्ककाले  
( निरु० ८. ३. ५. ), विपाशा-नामिका चेय मिहानीम् । ततोऽपि  
पश्चिमस्था सुषोमा (७), येयं तद्वशिलानामप्रदेशान्निगामिनी

सिन्धुसङ्गता । एता एव सप्त नद्यो यावद्भूभागेषु प्रवहन्ति, तावानेव प्रदेशः सप्तनद इति सप्तसिन्धुरिति वा ख्यायते । सिन्धुश्चेह नदी-पर्यायः । तासु गङ्गायमुने विहाय याः पञ्च नद्यो यावत्सु भूभागेषु प्रवहमानाः सन्ति, स एव पञ्चनद इति, सारस्वतप्रदेश इति चेति सङ्क्षेपः । ऋक्मंहिताया मन्त्र मेकं ( ३. २३. ४. ) प्रदर्श्य यदिह वर्णितो ब्रह्मावर्त्तप्रदेशः, ततः परस्तादेष एव प्रदेशः पुण्य-भूरिति परिगण्यते । तथा हि मनुसंहितायाम्—

“कुरुक्षेत्रञ्च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः”—इति ( २. १८. ) ॥

वर्णित एष सप्तनदप्रदेशः सिन्धोः पूर्वपारस्थः ; एवं सिन्धोः पश्चिमपारस्थोऽपि विद्यतेऽपरः सप्तनदप्रदेशः । स ह्रीदानी मार्या-वर्त्ताद् बहिर्भूतोऽप्यासीत् पुरा आर्यावर्त्तान्तर्गतः । अतएव संहि-ताया मित उत्तरं षष्ठ्या मृचि तत्स्थाना मपि सप्तानां नदीनां वर्णनं श्रूयते । तथाहि—

“दृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्तु रसया श्वेत्या त्या ।

त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्वा सरथं याभिरीयसे ॥”

—इत्यस्मिन् मन्त्रे दृष्टामा प्रथमा, सुसर्त्तुः द्वितीया, रसा तृतीया, श्वेती चतुर्थी, कुभा पञ्चमी, गोमती षष्ठी, मेहत्वायुता क्रुमुः सप्तमी । इमाः सर्वा एव सप्त नद्यो मध्यहिमालयोत्पन्नस्य पूर्वं पश्चिमाभिमुखगामिनः पश्चात् दक्षिणप्रवाहिनः समुद्रगस्य सिन्धु-नदस्य पश्चिमस्यां पूर्वदक्षिणाभिमुखं स्थान्यन्त्यः सन्त्यन्त्यनामतः । तत्रेदानीं चित्रलदेशतः प्राग् वहमाना पञ्चकोर्-प्रदेशीया तत्रवयथा नद्येव स्यात् ‘दृष्टामा’; ‘सुसर्त्तु’—इति सुवास्तोर्नामान्तरम्, यदस्य स्वादित्युच्यते ; ‘रसा’ त्विहापि पूर्ववर्णितैव ( २३ पृ० १६ पं० ) ;

‘श्वेती’ स्यादद्यतन-डेराइस्माइल्खां-प्रदेशतलवाहिनी अर्जुनी ;  
 ‘कुभा’=काबुल् ; ‘क्रुमुः’ वर्णु-प्रदेशवाहिनी कुरम् ; ‘गोमती’  
 सम्प्रति गोमलिति प्रसिद्धा । एताः तृष्टामाद्याः नद्यः सप्तैव  
 साक्षात् परम्परया वा सिन्धुसङ्गता एवेति ॥

तदेवं चित्रलप्रदेशतः प्राक्, वेलुचिस्थानादित ऊर्ध्वं च यावत्  
 पश्चिमोत्तरस्यां य आसीत् सुविस्तीर्णः पुरातन आर्यावर्त्ताशः स एष  
 एव पश्चिम-सप्तनदप्रदेश इति वक्तुं युज्यते । किञ्च यथा पूर्वसप्त-  
 नदान्तर्गतः पञ्चनदप्रदेशस्तथैव पश्चिमसप्तनदान्तर्गतः (आफगान्)  
 पञ्चकोरप्रदेशोऽपीति । अतो गान्धारस्यार्यावर्त्तान्तर्गतत्वं सुतरां  
 सम्प्रज्ञम् । ततः सङ्गच्छते “गन्धारीणा मिवाविका ( ऋ० सं०  
 १. १२६. ७. )”—इति संहितावचनम्, उपपद्यते च “नमजिते  
 गान्धाराय ( ऐ० ब्रा० ७. ५. ८. )”—इति ब्राह्मणवचनम्, तथा  
 “साल्वेयगान्धारिभ्याञ्च ( ४. १. १६६. )”—इति पाणिनिवच-  
 नञ्च । कुरुराजधृतराष्ट्रपत्नी दुर्योधनादिबहुपुत्रप्रसविनी गान्धारी  
 तु भारतप्रसिद्धैव । तथा अद्यतनपारस्यराज्यप्राक्प्रान्तवर्त्ती पूर्वमद्र-  
 देश इति मते पाण्डुराजपत्नीति प्रसिद्धा माद्री चासीत् पुरा  
 भारतीयैव । एवमेव पौर्वमद्र इति पदसिद्धार्थं “मद्रेभ्योऽञ्”—  
 इति ( ४. २. १०८. ) पाणिनिविधानञ्च सङ्गच्छते, सङ्गच्छते  
 चैवं पारस्योत्तरप्रान्तवर्त्तिनोऽद्यतनमिदियानामसाम्राज्यस्योत्तर-  
 मद्रत्वेनग्रहण मिति ॥

एतयोः पूर्वापरसप्तनदप्रदेशयोर्मध्ये मध्यहिमवत्समुद्रवोऽवाक्-  
 प्रवणः समुद्रान्तः प्राचीनार्यावर्त्तद्विधाकृदतिप्रबलः सीमदण्ड इवैष  
 सिन्धुर्नामैको नदोऽद्यापि राजते ।

तस्यास्य सिन्धोरत्युत्तरस्या मतिदूरपश्चिमस्याञ्चान्यासां सप्तानां



नदीनां विद्यमानतापि श्रूयते ; तदस्यैव नदीसुक्तस्य सप्तम्य-  
ष्टम्योक्तचोः समालोच्यं सप्रणिधानम् । तास्वेका 'जर्णावती',  
स्यादेषा कैलाशनिम्नस्थोर्णाप्रदेशीया ; हिरण्मयी, वाजिनीवती,  
सीलमावतीत्येता अपि तिस्रः स्युरत्युत्तरस्था एव ; 'एनी' नदी तु  
निम्नबेलुवीस्थाने प्रसिद्धैव ; तथा चित्रापि चित्रलप्रदेशत आगत्य  
कुभायां मिलिता ; 'ऋजीती' च स्यात् या तत्समीपवाहिनीति ।

एतदुक्तत्रिसप्तनद्यपेक्षया सिन्धोर्नदस्य प्राधान्यं च वर्णितं  
तत्रैव सूक्ते प्रथमम् । तद्यथा तत्सूक्तीयप्रथमर्चः परार्द्ध एषः—

“प्र सप्त-सप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणा मति सिन्धुरोजसा”

अस्यार्थः ।— 'आपः' नद्यः 'सप्त सप्त' भूत्वा 'त्रेधा' त्रिधा  
त्रिश्रेण्यः सत्यः 'प्रचक्रमुः' प्रावहन् प्रवहन्ति, अस्मिन्नार्यावत्ते ;  
•सिन्धोः पूर्वस्यां सप्त, पश्चिमस्थां सप्त, उत्तरस्याञ्च सप्तेति । तासां  
'सृत्वरीणां' एकविंशतिसङ्ख्याकानां नदीनाम् 'ओजसा' बलेन  
'अति' अतिशयितः एको नदः 'सिन्धुः' ।

तासां त्रिसप्तनदीनां पुत्र इव राजिव च सिन्धुर्वर्णितस्तत्रैव—

“अभि त्वा सिन्धो शिशु मित्र मातरो

वाश्चा अर्षन्ति पयसेव धेनवः ।

राजिव युध्वा नयसि त्व मित् सिचौ

यदासा मग्रं प्रवता मिनक्षसि”—इति (४) ।

अस्यार्थः ।— हे 'सिन्धो' ! 'मातरः शिशु' न (इव) 'इमा  
नद्यः 'त्वा अभ्यर्षन्ति' त्वां पयः पाययितुं मिवाभितो गच्छन्ति,  
'पयसा' युक्तः 'वाश्चाः धेनवः' सुशब्दकारिण्योऽचिरप्रसूता गाव  
इव । अपि 'त्वं' 'युध्वा' युद्धकारी 'राजा इव' इमौ पूर्वापर-  
'नदीसप्तको' 'सिचौ' सेनानिवेशाविव 'नयसि इत्' प्रेरयस्येव ;

‘यत्’ यतः ‘आसां प्रवतां’ प्रवहन्तीनां नदीनाम् ‘अग्रम् इनक्षसि’  
अग्रगो भवसि , अत इति भावः ।

अन्यत्र चात्र संहितायां त्रिसप्तनदीनां अवण मस्ति । तद्यथा  
—“त्रिः सप्त सस्त्रा नद्यः”—इति ऋ० सं० १०. ६४. ८ ।

तत्त्वतस्त्वेतत्त्रिसप्तनदीपरिवृतः सिन्धुमध्य एवासीत् पूर्व-  
कालिकः आर्यावर्तः । अत एवैतरेयके श्रुतम्— “यस्तेजो  
ब्रह्मवर्चस मिच्छेत्०—० प्राङ् स इयात् , योऽन्ताय मिच्छेत्०—०  
दक्षिणा स इयात् , यः सोमपीथ मिच्छेत्०—० उदङ् स इयात्”—  
इति ( १. २. २. ) । प्रागादिदिक्शब्दाश्च कश्चिदवधि मपेक्षन्ते,  
कुतः प्रागित्याद्याकाङ्क्षायाः सर्वत्रोपजायमानत्वात् । तदत्र आर्या-  
वर्तीयसिन्धु मेव मध्यावधिं मन्यामहे , तस्मात् सिन्धुतः प्रागि-  
त्यादिस्वीकारेणैव तेजस्वादिसिद्ध्युपपत्तेः । तथा च सिन्धोः  
प्राग्देशेषु सरस्वत्यादितीरभूमिषु यज्ञानुष्ठानबाहुल्यश्रुतेस्तेजस्व-  
ब्रह्मवर्चस्वयोर्लाभः समुपपद्यते ; शतद्रुसिन्धुसङ्गमतो दक्षिणस्यां  
हिमप्राचुर्याभावात् तापप्राबल्यात् भवत्येव प्रचुरशस्योत्पत्तिः ;  
सिन्धुतः पश्चिमस्था मरणप्राचुर्यात् तत्र पशुलाभः सम्भाव्य एव ,  
शतद्रुसिन्धुसङ्गमादुत्तरस्या मतिशैत्यात् शीतप्रभवस्य वल्लीसोमस्य  
लाभः शरीरसोमस्य च वृद्धिर्भवेदेवेति । तदित्य मतिप्राक्तनार्या-  
वर्तस्यायं सिन्धुर्मेरुदण्ड इवासीदिति प्रतीयते । इत एव  
सकारादेर्हकाराद्युच्चारणकृद्भिर्यवनानार्यैरिदं भूखण्डं सिन्धुस्थान  
मिति वक्तव्ये हिन्दुस्तानित्युच्यते ।

किञ्चात्र सिन्धुसङ्गतातिविक्रान्ता यासीन्नदी रसेति विश्रुता,  
द्वितीयनदीसप्तके तृतीयेति च वर्णिता, सैवासीत् तदानीन्तनार्या-  
वासस्योत्तरसीमेति गम्यते । तथा ह्यनुक्रान्त मिदं शौनका-

आर्येण—‘किमिच्छन्ती पणिभिरसुरैर्निगूढा गा अन्वेष्टुं सरमां देवशुनी मिन्द्रेण प्रहिता मयुग्भिः पणयो मित्रीयन्तः प्रोचुः, स तान् युग्मान्याभिरनिच्छन्ती प्रत्याचष्टे’—इति । तस्यैतस्यैदं सायणकृतं भाष्यम्—“इन्द्रपुरोहितस्य बृहस्पतेर्गोषु बलनाम्नोऽसुरस्य भटैः पणिनामकैरसुरैरपहृत्य गुहायां निहितासु सतीसु बृहस्पतिप्रेरितेनेन्द्रेण गवा मन्वेषणाय सरमा नाम देवशुनी प्रेषिता । सा च महतीं नदीमुत्तीर्य बलपुरं प्राप्य गुप्तस्थाने नीतास्ता गा ददर्श । अथ तस्मिन्नन्तरे पणय इदं वृत्तान्तं भव-  
गच्छन्त एनां मित्रीकर्तुं संवादं मकुर्वन् । तत्र प्रथमतयाद्या अयुजोऽन्धावर्जिताः पणीनां वाक्यानि, ०—०, द्वितीयचतुर्थ्याद्या युज एकादशी च षट् सरमाया वाक्यानि”—इति । वस्तुतोऽत्र पणयः=वणिजः, सार्यवाहा इति यावत् ; “पणिर्वणिग् भवतीति ( २. ५. ३. ) नैरुक्तात् । असुराः=बलवन्तः ( निरु० ३. २. २. ) । नूनं मेते इह आर्येतरा एव बुद्धयन्ते । सरमा देवशुनी दिव्यगुणोपेतास्तन्नामिका सुशिक्षिता कुक्कुरी ; बलपुरीस्था गुहा तु नूनं सार्यशासनाद्वहिःस्था ; तथाचानार्यैरपहृता आर्य-  
गावः कुक्कुरीसन्धानेन पुनर्लब्धा इत्येवात्र सारम्, सर्वं मन्यत् राजनैतिकं काव्यम् । तदिदं ऋक्संहिताया दशमे मण्डले १०८ सूक्ते एकादशभिः ऋग्भिर्वर्णितम् । तस्यादिमैषा—

“किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानङ् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।

कास्मे हेतिः का परितक्मयासीत् कथं रसाया अतरः पयांसि”

तदित्यं ज्ञायते, या खलु पूर्वं सुवास्तुप्रदेशस्योत्तरसीमेति वर्णिता, सैवेयं प्रचुरोदका प्रभूतवेगा च नदी पुरासीदार्यानार्य-  
देशयोरुत्तरसीमरूपेति ।

सैषा 'रसा' ऋक्संहितायां बहुवर्णिता । तद्यथा ऋ. ४६. २—

“गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्बिरे दत्वाणि पुरुभोजसः”—इति ।

यथा 'गिरेः' 'रसाः' नद्यः 'प्रपिन्बिरे', 'अस्य पुरुभोजसः' 'दत्वाणि' तथैव प्रपिन्बिरे इति तदर्थः । एतेनावगम्यते रसायाः कस्माच्चिद् गिरित एव समुद्भवः । किञ्चेहापर मपि वेद्यम् ;— यथा गङ्गेति नदीनां साधारणं नाम, यथा च सरस्वतीत्यपि, तथैव रसेति च । अत एव निरुक्ते यथा गङ्गाशब्दस्य 'गङ्गा गमनात्'—इति निरुक्तिः कृता, यथा च सरस्वतीशब्दस्य 'सरस्वती' सर इत्युदकनाम ; सत्तेरुदती—इति निरुक्तिः कृता ; तथैव रसाशब्दस्यापि 'रसा नदी, रसतेः शब्दकर्मणः'—इति कृतैव नदीसाधारणबोधिका निरुक्तिः । एव मध्येवमादिषु योगरूढ्ये-  
वार्थः सर्वत्र विवक्षितः । निरुक्तकृतः प्रदर्शितरसानिरुक्तेस्तस्या नद्याः सदैव शब्दकारित्वञ्चावगम्यते । प्रदर्शितेऽत्र ऋद्धन्त्वे 'रसाः'—इति बहुवचनश्रुतेस्तद्बहुत्व मपि गम्यते । तथा च यथा हिमवत्पृष्ठेषु बह्व्यो गङ्गाः सन्ति, यथा च सरयू अपि द्वित्व मिहैव पुरस्तादुररीकृतम्, तथैव रसाद्वित्व मपि नून मङ्गीकार्यम् ; प्रदर्शिते “दृष्टामया ( १०. ७५. ६. )”—इति मन्त्रे तस्याः सिन्धु-सङ्गतत्वस्य, अपरत्र समुद्रसङ्गतत्वस्य च स्फुटावगमात् । तद्यथा ऋ० सं० १०. १२१. ४—

“यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाह्व, कस्मै देवाय हविषा विधेम”—इति ।

नैतन्मन्त्रश्रुता रसा साधारणनदीपरेति सम्भाव्यते ; बहु-  
वचनान्ततया अनिर्देशात् ; अपि त्वेतस्या रसाया नदीषु प्राधान्यं  
च गम्यते ; भारतप्रधानयोर्हिमवत्समुद्रयोः समानत्वेनाख्यात-

प्रतीतेः । सैयं समुद्रसङ्गता रसा त्वद्यतनार्यावर्त्ततो बहिष्ठा, खोरा-  
शान्-राज्यान्तर्गता 'आवेस्ता'-ग्रन्थवर्णिता, 'रंहा' इत्याह विश्व-  
कोषकारः । तथा चैयं रसा तदानीन्तनार्यावासस्य पश्चिमसीमेति  
च स्यात् पूर्वदर्शित-देवशुनीपणिसंवाद एतद्विषयक एव वेति ।

अंशुमत्याद्यानद्यस्त्वेतदार्यावर्त्तीया एवेत्यत्र किमस्ति वक्तव्यम् ।  
“अंशुमती” ऋ० सं० ८. ८६. १३, १४. १५ ऋचो द्रष्टव्याः ।  
सैषा यमुनासङ्गता, दृषद्वतीतः प्राक् स्थिता । “अश्वन्वती” च  
ऋ० सं० १०. ५३. ८ । एषा किल घर्घरातः प्रत्यक्, शतद्रुतो  
बहुप्राक्, उत्तरतोऽवाग्वहमाना, विनशनप्रदेशीया ।

यदिह नदीपरपारगमनं श्रुतम्, तन्नूनं मध्येशियातः समा-  
गतानां पूर्वतनार्याणां वच इति शस्त्राद्यादिपाश्चात्यसिद्धान्तोऽनर्थको  
निर्मूलश्च ; स्थानीयार्याणां वच एवेत्युक्त्यैव तथोपपत्तेः किं महतो  
वंशस्तम्बास्तद्वानुकर्षणेनेति सुधीभिर्विभाव्यम् । ऋ० सं० १.  
१०४. १, २, ३ ऋचु वर्णिता शिफानाम नदी तु निषधदेशीयैव  
सम्भाव्यते । तत्रथमर्च्येव निषदनामोस्तेखदर्शनात् । ऋ० सं०  
६. २७. ६-ऋग्द्वयश्रुतेः 'हरियूपीया' 'यव्यावती' च नद्यौ  
आफगानस्थानीये एव सम्भाव्येते । तत्रच तत्रत्य-'हजारा'-प्रदेशीया  
सम्प्रति हरिरुदित्युच्यमाना नद्येव स्यात् वैदिकहरियूपीयेति ।

“पीवानं मेष मपचन्त वीरा न्युप्ता अक्षा अनु दीव आसन् ।

हा धेनुं ब्रह्मती मग्वा१न्तः पवित्रवन्ता चरतः पुनन्ता”-इति ।

अस्मिन् मन्त्रे ( ऋ० सं० १०. २७. १७. ) अन्यत्र च यद्  
ध्वन्यते अक्षा इति, तदपि स्यात् आफगानुत्तरतः प्रवहमाना  
'अक्षस्' नदीति च सुवचम् ।

श्वेती नद्येव सम्प्रत्यर्जुनीत्युच्यत इत्युक्तं पुरस्तात् ( पृ० २८



पं० १); सा हि श्वेतपर्वतान्निर्गतेत्येव तस्यास्तथा नाम सम्पन्नम् ।  
 आम्नातञ्च शतपथे—“प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः  
 प्रतीच्योऽन्याः”—इति १४. ६. ८. ९ । ऋक्संहितायां नून  
 मैतैवान्नाता “श्वेत्या त्वा”—इति १०. ७५. ६ । श्वेतयावरी  
 मद्यपि स्यात् तच्छ्वेतगिरिप्रभवैव । तदिदं श्रूयते—“उत स्या  
 श्वेतयावरी”—इत्यादि ८. २६. १८ । अपि संहितायां सरयुनदी  
 त्रिः श्रुता ( ४. ३०. १८ ; ५. ५३. ८ ; १०. ६४. ८. ) तत्र सर्व-  
 त्वैव सिन्धुसङ्गता तक्षशिलानामनगरीतलवाहिन्येव गम्यते । अपि  
 यच्छ्रूयते वाजमनेयसंहितायाम्—“काम्पिल्यवासिनी”—इति  
 ( २३. १८. ) सैषा काम्पिल्यनगरी प्रवराध्यायवचनात् दशार्ण-  
 प्रदेशतः प्रागिति गम्यते, अद्यापि काम्पिलेत्येव प्रसिद्धा दक्षिण-  
 पाञ्चालस्था । साङ्गाश्वनगर्यपि तन्नैर्ऋत्येऽस्ति । बृहदारण्योक्तः  
 कपिप्रदेशोऽपि ( ३. ३. १ ; ७. १. ६. ५. १. ) तत्सन्निहित एव ।  
 इतिहासवर्षिता यक्षु-वक्षु-सीता-गौर्यादयस्तु आर्यपरिव्राजकविज्ञाता  
 अपि नास्मत्पूर्वतनार्याणां निकेतनभूमयः । तत्त्वतो या पुनर्नद्यो  
 हिमवत्पृष्ठोत्तरभागतः प्रवहमानाः प्राच्यप्रतीच्योदीच्यभूखण्डगताः,  
 ताः सर्वा एवान्यदेशीयाः इति ध्रुवम् ; अपि यास्तु हिमवत्पृष्ठ-  
 दक्षिणभागतः प्रवहमानाः प्रागपाग्भूखण्डगतास्ताः सर्वा अस्म-  
 देशीया एव ; विन्दुसरोमानससरोरावणङ्गदादयोऽप्यार्यपरिव्राजक-  
 परिचिता अपि नास्मदेशीयाः किं मत्र चिन्तनीय मस्ति ।  
 श्रयणावसरस्तु नूनं मार्यावर्तीयम् । तदाहुः शाक्यायनिनः—  
 “श्रयणावड वै नाम कुरुक्षेत्रस्य जघनादे सरः स्यन्दते”—इति  
 ऋ० सं० १. ८४. १३ सा० भा० द्रष्टव्यम् ।

अपि श्रूयते मन्त्र एषः ( ऋ० सं० १०. ३४. १. )—

“प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति

प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः ।

सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो

विभीदको जागृविर्मह्य मच्छान्”—इति ।

‘प्रावेपाः’ सततकम्पनशीलपत्राः, ‘प्रवातेजाः’ अपरवन-  
स्पत्यादिशून्ये बहुवायुयुते प्रान्तरे जनिष्णवः, ‘इरिणे’ इराननाम-  
पारस्यदेशे ‘वर्वृतानाः’ अधिकतया वर्तमानाः, ‘बृहतः’ विभीदक-  
वृक्षाः ‘मा’ मां मादयन्ति । ‘जागृविः’ भक्षयितुर्जागरणहेतुः,  
‘विभीदकः’ कोष्ठस्य मलस्य वायोश्च भेदनकारी, अयं ‘मौजवतः’  
मूजवन्नामपर्वतोत्पन्नस्य सोमस्य ‘भक्षः’ भक्ष्यांश्च ‘इव’ ‘मह्यम्’  
‘मच्छान्’ हृदयति, मोहयतीति तदर्थः ।

इरिण मित्यस्य यास्केन द्विविधा व्याख्या कृता— ‘इरिण  
मृणातेरपार्णं भवति, अपरता अस्मादोषधय इति वा’—इति ( ८.  
१. ८. ) । तयोराद्योऽर्थ एवात्र उपपद्यते ; तद्देशीयानां हि  
भारतीयानां मिव पुत्रपौत्रादिष्वपि पितुर्ऋणं न सङ्गमत इति  
दर्शनात् । मूजवान् पर्वतस्तु कैलाशगिरेः पश्चिमस्थोऽपि ।

तदेव मृक्संहिताकाले ईरान्-नाम-जनपदस्य चार्थावर्तीयत्वं  
तथा मूजवतोऽपीति स्यान्मन्तव्य मिति ।

अथर्वसंहितायाः पञ्चमकाण्डोऽयचतुर्दशर्चद्वाविंशतितमसूक्तस्य  
तृतीयमन्त्रे परुषनामजनपदस्य, चतुर्थे महाहृषप्रदेशस्य, पञ्चम-  
सप्तमयोः मूजवत्प्रदेशस्य बह्नीकदेशस्यापि, अष्टमे पुनर्महाहृषमूज-  
वतोः, नवमे पुनरेव बह्नीकस्य, चतुर्दशे त्वन्तिमे अङ्ग-मगध-मूज-  
वद्-गन्धारीणां च अवण मस्ति ; पर मुक्ता इमे सर्व एव जनपदा-  
स्तदानीं मासन्ननार्यवासा इति च गम्यतेऽत एव ; न ह्यन्यथेषु

तकमस्थापन मभीष्टं भवेदिति । तद्यथा तच्चतुर्थमन्त्र एषः—

“गन्धारिभ्यो मूजवद्गोऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।

प्रेथं जन मिव शेवधिं तकमानं परिदक्षसि”—इति ।

न ह्यार्यवास्तव्येषु तकमस्थापन मिष्टं स्यादाथर्वणिकानामार्याणाम् ।

नन्वेवं परुष—(पेशावर) देशस्य गान्धार (कन्दाहार) प्रदेशस्य, पूर्वमुक्त मार्यावर्त्तान्तर्गतत्वं किं न विरुध्येत ? अत्र ब्रूमः ;—तयो-  
रार्यावर्त्तान्तर्गतत्वेऽपि एतन्मन्त्रद्वक्-कालेऽनार्यवासत्वे कोऽस्ति बाध  
इति, कालभेदात् सर्वसामञ्जस्यं भवेदेवेति । न चैव मप्यथर्व-  
संहिताया ऋक्संहितातो विभिन्नकालिकत्वं मन्तव्यं स्यात् ;  
मन्त्राणां मेव प्रकाशकालपार्थक्यस्वीकारात् तदुपपत्तेः । स्वीकृतञ्चै-  
तदस्माभिर्निरुक्तालोचने (ठ पृ०) ‘वस्तुत एक एव वेदः’—इत्यारभ्य  
(ठू पृ०) ‘चत्वार एव वेदास्त्रयीशब्दवाच्याः’—इत्यन्तेन, पुनः  
(तू पृ०) ‘यास्केन’—इत्यारभ्य (तै पृ०) ‘पुरा तु बहुकाल मभि-  
व्याप्य बहुभिर्ऋषिभिर्बहुभिरेवोच्चावचैरभिप्रायैः प्रणीता बहवो  
मन्त्राः’—इत्यन्तेन च ।

प्रदर्शितं मूजवद्नाम तु ऋक्संहितायां ( १०. ३४. १ ) श्रूयते  
इति सत्यम् ! परं न तथापि मूजवत्पर्वतस्यार्यावासत्वं मन्तव्यं मेव ;  
तेन हि तत्रत्यसोमाना मौत्कर्षमात्रप्रतीतेः । यच्चाथर्वणिका-  
ज्ञानम्—“उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम्”—इति  
( ५. ४. ८. ), अस्माच्च तत्रत्यकुष्ठस्यौत्कर्षमात्रं गम्यते, न त्वन्यत् ।  
सोमस्यानार्याधिकृतत्वन्तु ऐतरेयब्राह्मणेऽपि सुव्यक्तम् । एवं  
महावृषस्यापि सिद्धान्तः कृत एव । श्वेतपर्वतादपि प्रतीचस्य  
बह्नीकस्य तु यदार्यावासत्वं प्रतीयते “बह्नीकः प्रातिपीयः शुश्राव”  
—इत्यादि ( शत० ब्रा० १२. १. ३. ) श्रुतितः ; तस्यापि कालभेद-

व्यवस्थैव स्वीकार्या ; अपिवा तस्यार्याभिजनत्वे तु न कमपि बाधं पश्यामः । अङ्गराज्यस्य चासीत् तदानीं मनार्यत्वमेव ; कुरुराजदुर्योधनकालत एव तस्याभवदार्यावर्त्तान्तर्गतत्वम् । मगधस्य त्वनार्यवासत्वेन निन्दाश्रूयते । तथाहि (ऋ० सं० ३. ५३. १४.)—

“किं कृण्वन्ति कीकटेषु गावो

नाशिरं दुर्गे न तपन्ति घर्मम्”—इति ।

निरुक्तकारेण चैतद्व्याख्याया मुक्तम्— “कीकटो नाम देशोऽनार्यनिवासः”—इति ( ६. ६. ४. ) । कीकट एव मगधः ; अस्ति हि स्मृतिवचनम्— “कीकटेषु गया पुण्या , पुण्या नदी पुनपुना । चवनस्याश्रमं पुण्यं पुण्यं राजगृहं वनम्”—इति, गयादयस्तु मगधराज्यान्तर्गता इति प्रसिद्धमेवेति ॥

तत्त्वतो हिमवत्पृष्ठमध्यस्थो मूजवान्नाम नगराजस्तु स्यादार्य-वासोऽनार्यवासो वा , परमासीत् पुराऽऽर्यावर्त्तोत्तरसीमेति तु मन्तव्यमेव । अत एव वाजसनेयिनः समामनन्ति— “एतत् ते रुद्रावसम् , तेन परो मूजवतोऽतीहि”—इति ( सं० ३. ६१. ) । एतस्यापि यजुषो व्याख्यानं कृतं शतपथे । तथाहि— “अवसेन वा अध्वानं यन्ति , तदेनं सावस मेवान्ववार्जति यत्र यत्रास्य चरणं , तदन्वत्र ह वा अस्य परो मूजवतोऽतीहि”—इति ( २. ६. २. १७ ) । तदेव मन्त्रे रुद्रनाममृत्युदेवताया मूजवतः परपारे गमनप्रार्थनात् आर्यावर्त्तत एव दूरे गमनं प्रार्थितं गम्यते ॥

तदेव मध्यतन पारस्यराज्यपश्चिमोत्तरस्थैशियामाइनरतः प्राक् प्रत्यगनुगङ्गप्रदेशात् , उदक् सिन्धुसागरसङ्गमात् , अवाक् च मूजवतश्चाय मार्यावर्त्तः संहिताकालीन इति निष्पद्यते ॥



आर्याधिकारस्त्वितोऽप्यन्यत्रावस्थित इत्यन्यदेतत् । तद्यथा

( ऋ० सं० ७. १८. १८. )—

“आवदिन्द्रं यमुना तृक्षवश्च प्रातः भेदं सर्वताता मुपायत् ।

अजासः शिग्रवो यक्षवश्च वलिं शीर्षाणि जम्बुरश्वानि”—इति ।

अस्यार्थः ।— यः ‘इन्द्रः’ सम्राट् ‘अत्र’ राज्ये ‘सर्वताता’ सर्वकर्मसु ‘भेदं’ राजप्रजयोर्विचारादिवैलक्षण्यं ‘प्रमुपायत्’ प्रमु-  
ष्णाति प्रच्छिन्नीकरोति, एवं कृत्वैव सर्वाः प्रजाः ‘आवत्’ अवति;  
तम् ‘इन्द्रं’ सम्राजं ‘यमुनाः’, ‘तृक्षवः’, ‘अजासः’, ‘शिग्रवः’,  
‘यक्षवः’ ‘च’ यामुनप्रदेशादिवासिनः सामन्तराजानः ‘अश्वानि’  
अश्वादिवाहितानि, ‘शीर्षाणि’ शीर्षतः प्रवाहितानि ‘च’ ‘वलिम्’  
उपढौकनं ‘जम्बुः’ प्रददुरिति ।

अस्या मृचि श्रुताः यामुनादयः सर्व एव जनप्रदाः तदानीन्तना-  
र्यावासतोऽद्यतनादस्मादार्यावर्त्ततश्च वहिर्मूता एव स्युः । अतो-  
भयत्रास्ति च किञ्चिद् विचार्यम् । गङ्गायाः प्रत्यक्पार्श्वस्थिता एषैव  
यमुना अस्या मृचि श्रुता, उत्तान्येति ? अस्मन्मते त्वन्यैव । शिशु-  
जनपदोऽपि स्याच्चन्द्रभागाप्रभवोर्ध्वगतादन्य एवेति । अपि वा  
आर्यावर्त्तीयावप्येतौ तदानीं करदप्रदेशावेवेत्यपि किं चित्रमिति ॥

अथैतरेयकाले अयं भार्यावर्त्त आसीद् यादृगायतनः, तदपि  
किञ्चिदवगम्यते एतदुग्रन्यत एव । तथाहि श्रूयतेऽत्राभिषेकप्रकरणे  
—“प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः०—० दक्षिणस्यां दिशि  
ये के च सत्वतां राजानः०—० प्रतीच्यां दिशि ये के च नैच्यानां  
राजानो येऽपाच्यानां०—० उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं  
जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्राः०—० ध्रुवायां मध्यमायां प्रति-

छायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः सवशीशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते”—इति ( ८. ३. २. ) ।

अत्र, ‘प्राच्यानां राजानः’—इति सामान्येन अवणादवगम्यते न तदानीं प्राच्यां दिशि प्रबलः कश्चिदासीन्नरपतिः, प्रत्युतासन् क्षुद्र-राजानो बहव इति । अत एव श्रुतं मतैवान्यत्र “प्राच्यो ग्रामता बहुलाविष्टाः”—इति ( ३. ४. ६. ) । तदानीं प्राग्देशीय-पार्वत्य-जनपदो य आसीदासंहिताकालात् प्रसिद्धोऽद्यतन-नयपालादि-किरातनगरादिकः तत एव सोमवल्लीनां क्रयो विहितश्चात्रैतरेयके—“प्राच्यां वै दिशि देवाः सोमं राजान मक्रीणन्”—इति ( १. ३. १. ) । तदेवं पाणिन्यागमतोऽपि हि येषां कान्यकुजा-हिच्छत्रादीनां प्राच्यभूमौ विद्यमानतोपलभ्यते ( १. १. ७५. ), ऐतरेयकाले तु तेषा मासीद्वा ग्रामत्व मेवेति ।

दक्षिणस्यां तदानी मासीदेकं सत्वद्राज्य मेव बलवत्तमम्, तदे-वेदानीं क्वत्रपुरित्याख्यायत इति स्यात् । तदेतत् “आदत्त यज्ञं काशीनांभरतः सत्वता मिव”—इति ( शत० ब्रा० १३. ४. ५, २१. ) गाथावचनश्रुतेरेतदैतरेयतोऽपि बहुप्राचीनतरं भरताधिकृतश्चासी-दिति गम्यते । स्याद् दौष्पन्ति-भरतेन तत् स्थापित मिति तद्व-श्याश्चिर मेव भरता इत्येवोच्यन्ते, दृष्टञ्चैतदैतरेयेणापि भरताधिकृत मेवेति । अतएवेहान्यत्र श्रुतम्—“तस्माद्वाप्येतर्हि भरताः सत्वनां वित्तिं प्रयन्ति”—इति ( २. ४. १. ) । अन्यच्च “तस्माद्देदं भरतानां पशवः सायङ्गोष्ठाः सन्तो मध्यन्दिने सङ्गविनी मायन्ति”—इति ( ३. २. ६. ) । अनयोः श्रुतिवचनयोः ‘आयन्ति’ ‘प्रयन्ति’—इति वर्त्तमानकालिकप्रयोगदर्शनात्, ‘इदम्’—इत्यङ्गुल्या निर्देशा-च्चावगम्यतेऽनेनैतरेयेण स्वयं मपि दृष्टं स्यात्तद्राज्यं भरतवंशीय-

शासनाश्रित मिति । तस्य च दौष्पन्तेर्भरतस्य राज्ञः कीर्तिकथा  
बहुप्राचीना इत्येवैतरेयादिषु गाथेति व्यपदिष्टा । तद्यथैतरेये  
( ८. ४. ८. ) “तदप्येते श्लोका अभिगीताः—

हिरण्येन परीवृतान् कृष्णाञ्जुक्लदतो मृगान् ।

मणारे भरतोऽददाच्छतं वद्वानि सप्त च ।

भरतस्यैष दौष्पन्तेरग्निः साचीगुणे चितः ।

यस्मिन्सहस्रं ब्राह्मणा बह्वशो गा विभजिरे ।

अष्टासप्ततिं भरतो दौष्पन्तिर्यमुना मनु ।

गङ्गायां वृत्रघ्नेऽवध्नात् पञ्चपञ्चाशतं हयान् ।

त्रयस्त्रिंशच्छतं राजाश्वान् बध्वाय मेध्यात् ।

दौष्पन्तिरत्यगाद्राज्ञो मायां मायिवत्तरः ।

महाकर्म भरतस्य न पूर्वं नापरे जनाः ।

दिवं मर्त्य इव हस्ताभ्यां नोदापुः पञ्चमानवाः”—इति ।

शतपथेऽप्येव मेव श्रूयते प्रायः— “तदेतद् गाथयाभिगीतम्”—  
—इत्यादि ( १३. ५. ११-१४. ) द्रष्टव्यम् ।

प्रतीच्यां दिशि तु नैक मप्यासीत् सुसमृद्धं राज्यम्, अप्यास  
स्तूत्तरभागे पर्वतपादस्थभूमिपाः ‘नीच्याः’ केचनाप्रसिद्धराजानस्तथा  
दक्षिणभागेऽप्यवाच्याः केचन, मध्यभागे त्वरण्यभूमय एवेत्युक्तं मिह  
नीच्याना मपाच्याना मिति । इहैवान्यत्र श्रूयते “प्रत्यञ्चि दीर्घा-  
रण्यानि भवन्ति”—इति ( ३. ४. ६. ), “प्रतीच्योऽप्यापो बह्वयः  
स्यन्दन्ते”—इति ( १. २. १. ) च ।

उदीच्यां तु हिमवत्पृष्ठदण्डस्योत्तरे भागे आर्यावर्त्ताद् वह्नि-  
विद्यमानावपि आर्यमित्त्रजनपदाविमौ उत्तरमद्रः उत्तरकुरुक्षेत्रेति  
श्रूयेते । एवं हि गम्यते— यथैव हिमवतो दक्षिणभूभागोऽय

आर्यावर्त्तौ मद्रदेश-कुरुदेशाभ्यां मासीत्तदानीं द्विधा विभक्तः ,  
तथैव हिमवत उत्तरभूभागश्च स मद्रदेश-कुरुदेशाभ्यां मासीत् पुरा  
द्विधैव विभक्त इति । आर्यावर्त्तीयमद्रदेशादुत्तर इति उत्तरमद्र  
इत्युच्यते सः , आर्यावर्त्तीयकुरुदेशादुत्तर इति उत्तरकुरुश्चेति ।  
आर्यावर्त्तीयप्रत्यन्तदेशेभ्यः परस्तात् ये देशा महादेशा वा सन्ति, न  
तेषु मन्वाद्युक्तार्थानार्थ्यनामादिसम्भव इत्युक्तं पुरस्तात् ( १७ पृ०  
१६ पं० ) । तथा च तद्देशवासिना मार्यत्व मनार्थ्यत्वं वा नैव  
विचार्य मस्ति ; परमुत्तरकुरुदेशस्य नैसर्गिकसौन्दर्यस्वास्थ्यकरत्वा-  
दितः , तद्देशवासिनाश्च शान्तिप्रियत्व-तपःपरायणत्वादिदेवस्वभाव-  
दर्शनात्, पुण्यमयत्वं देवक्षेत्रत्व मजेयत्वञ्च । तथाहि ऐतरेयकम्—  
“देवक्षेत्रं वै तन्न वैतन्मर्त्यो जेतु मर्हति”—इति ( ८. ४. ८. ) ।  
तेषां शान्तिप्रियत्वादिस्वभाव एवाजेयत्वे हेतुः प्रबलः । तदुक्तं  
महाभारतीय-सभापर्वणि चार्जुनदिग्विजये—

“तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् । ऋषिकल्पां-  
स्तथा सर्वान् ददर्श कुरुनन्दनः ॥ × × × ॥ तत एवं महा-  
वीर्यं महाकाया महाबलाः । द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचन  
मब्रुवन् ॥ पार्थ ! नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथञ्चन । उपा-  
वर्त्तस्व कल्याण पर्याप्त मिद मच्युत ॥ × × × ॥ न चापि  
किञ्चिज्जेतव्य मर्जुनात्र प्रदृश्यते । उत्तराः कुरुवो ह्येते नात्र  
युद्धं प्रवर्त्तते ॥ × × × ॥ अयेह पुरुषव्याघ्र ! किञ्चिदन्य-  
च्चिकीर्षसि । तत् प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात् तत्र भारत ॥  
ततस्तानब्रवीद्राजमर्जुनः प्रहसन्निव । पार्थिवत्वं चिकीर्षामि  
धर्मराजस्य धीमतः ॥ न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मन्यसे ।  
युधिष्ठिराय यत् किञ्चित् करपण्यं प्रदीयताम् ॥ ततो दिव्यानि



वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च । क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते  
प्रददुः करम्”-इति २८ अ० ४-१६ श्लो० । तदिदं महानगरं  
सम्प्रति तीब्बदित्युच्यते, स्थौल्यवदिति तदर्थः ; एतद्देशीया हि  
प्रायशः स्थूलनासिकोदरजङ्घा भवन्ति ।

अस्ति चान्यः कुरुवर्षः ; स नूनं मेरुसन्निहितः, ‘शान्तपितृवर्ग’-  
प्रभृति ‘सुवीर्य’-देशान्तः, योऽयं मद्यतन-सेण्टपिटरस्वर्गादिसार्द्ध-  
वीरियान्तः । तस्य स्वर्गत्वेन वर्णनञ्च महाभारतरामायणादौ  
बहुत्र । तद्यथा महाभारतीयानुशासनपर्वणि— “अहो सह  
शरीरेण प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम् । उत्तरान् वा कुरुन् पुण्यानथ-  
वाप्यमरावतीम्”-इति (५४. १६) । पुनस्तत्रैव— “नैवेशिकं सर्व-  
गुणोपपन्नं ददाति वै यस्तु नरो द्विजाय । स्वाध्यायचारित्र्य-  
गुणान्विताय तस्यापि लोकाः कुरुपूतरेषु”-इति ( ५७. ३३. ) ।

अथ यदिह ‘मध्यमायां दिशि’-इति, ततो गम्यते कुरुपञ्चा-  
लादयश्चत्वार एवैते प्रदेशा स्तदानीं मासन् मध्यदेशाः, आर्या-  
वर्त्तस्य मध्यभूभागा इति यावत् । तत्र च यच्छ्रुतो वशो  
देशः, स एव स्यात् महाभारतादिप्रसिद्धः ‘शिविः’ । किञ्च य-  
एते ‘ध्रुवायां प्रतिष्ठायाम्’ इति हे पदे तद्विशेषणे श्रूयेते, ततो  
ज्जायते चात्रैव मध्यार्यावर्त्ते तदानीन्तनसम्त्राजा मासीद्राज-  
धानीति । एवञ्च कुरु-पञ्चाल-शिवि-सौवीरप्रदेशात्मकमध्यदेशत-  
एवात्र प्राच्यादयो दिशोऽभीष्टा इत्यपि नानवगतम् ॥

तदेव मैतरेयकाले हिमवद्दक्षिणपार्श्वनिम्नस्थं किरातजाति-  
निकेतनं किरातनगरं मेवासीत् आर्यावर्त्तस्यास्य पूर्वप्रत्यन्तः, दक्षि-  
णस्यां भरतवंशीयाधिकृतं सत्वद्राज्यं मप्यासीदार्यावर्त्तान्तर्गतम्,  
पश्चिमस्यां गिरिगिरिनदीग्रामसीमानां प्राचुर्यवर्णनात् गान्धार-

देशादिभ्यः परस्तादप्यासीदार्यवास इति गम्यते, उत्तरस्यान्तूत्तर-  
कुरुणा मज्जेयत्वेन वर्णनात् ततोऽर्वागीवासीदार्यावर्त्तोत्तरसीमेति च  
प्रतीयत एवेति । एकत्र चात्र श्रुतम्—“त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शवराः  
पुलिन्दा मूतिवा इत्युदन्त्या बहवो भवन्तीति” ( ७. ३. ६ ) ।  
तत्र ‘एते’—इति इदं शब्दव्यवहारादैतरेयकालेऽप्यासन्निमा जातय  
इति, ‘उदन्त्याः’—इत्युक्ते प्रत्यन्तवासीनोऽनार्या इति च गम्यते ।  
तथाचैषां देशाना मनार्यभूत्वाभिधानादेषा मन्तःस्थिताः प्रदेशा  
एवासन् तदानीं मार्यभूमय इति सुवचम् । अन्धजातयोऽधुना  
दक्षिणात्येषु प्रसिद्धा, पुण्ड्र इति त्विदानीं ‘दीनाजपुर’—इति प्रत्न-  
तत्त्वानुसन्धित्सवो वदन्ति, एवं शवरपुलिन्दमूतिवाः विन्ध्यगिरि-  
वासिनो म्लेच्छजातिविशेषास्त्वद्यापि प्रायः प्रसिद्धा एव । तदेवं  
न तदाप्येष आर्यावर्त्तः प्राच्या मतिविस्तृत इत्येवास्माकम् ॥

अथ श्रूयते ह्येतद् विदेघमाथवाख्यानं शतपथे १ का० ३ प्र०  
३ ब्रा० १०-१८ क० “विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे  
बभार ०—० स इमाः सर्वा नदीरति ददाह सदानीरेत्युत्तराद्  
गिरेर्निर्द्वावति तां ह वै नातिददाह, तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा  
न तरन्त्यनतिदग्धाग्निना वैश्वानरेणेति । तत एतर्हि प्राचीनं बहवो  
ब्राह्मणास्तद्वाक्षेत्तरमिवास स्वावितर मिवास्वदित मग्निना वैश्वा-  
नरेणेति । तदु हैतर्हि क्षेत्तरमिव ०—० सैषाप्येतर्हि कोशल-  
विदेहानां मर्यादा, ते हि माथवाः ०—० स मे मुखान्निरपादीति”  
—इति । एतस्मादाख्यानात् व्यक्तमभिगम्यते, विदेहनाममैथिल-  
जनपदस्यानतिप्राचीनार्यभूत्वम् । परं न तदापि दक्षिणमगधस्थार्या-  
वर्त्तत्वं सम्पन्नं मन्यामहे वयम् ; अनतिप्राचीनपातञ्जलमहाभाष्य-  
वर्णितार्यावर्त्तलक्षणतोपि दक्षिणमगधात् प्रत्यगेवार्यावर्त्तत्वप्रतीतिः ।

अपीह शतपथे ( १२. ८. ३. ३. ) “बह्नीकः प्रातिपीयः शुश्राव”-इति श्रवणात् पश्चिमस्यां तावदप्यासीद् बाह्नीकस्यार्यावर्तत्वमिति च स्वीकार्यम् । पाणिन्यागमेऽपि आयुधजीविवाचि-पश्चादिगणे पठितो बह्नीकः ( पा० सू० ५. ३. ११७. ) । “कम्बोजास्तुक्”-इति ( पा० सू० ४. १. १७५. ) कम्बोजग्रहणञ्च दृश्यते । तत्र सिन्धादिगणेऽपि पठितः कम्बोजः ( पा० सू० ४. ३. ८३. ) । गणपाठोऽपि पाणिनिनैव कृत इति सिद्धान्तितं भगवता पतञ्जलिना ( १. १. ३४. ) । महाभारतेऽपि वर्णितौ कम्बोजबाह्नीकौ ( द्रो० प० ११७, १५५ अ० ) ।

अथ भगवता यास्केनापि “कम्बोजाः कम्बलभोजाः कमनीयभोजा वा ; कम्बलः कमनीयो भवति”-इति कम्बोजशब्दो निरुक्तः ( २. १. ४. ) । “प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते विकृतय एवैकेषु”-इत्याद्युक्त्वा तदुदाहरणाय प्रोक्तं चैतत्—“शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते ०—० विकार मस्यार्येषु भाष्यन्ते शव इति ; दातिलवनार्ये प्राच्येषु, दात्र मुदीच्येषु”-इति ( २. १. ३, ४. ) । पातञ्जले महाभाष्ये प्रस्पृश्या मप्येव मेव ।

अपि तत्र पातञ्जले आर्यावर्तस्यास्य चतुस्त्रीमनिरूपणमेवं कृतम् ।—“कः पुनरार्यावर्तः ? प्रागादर्शात्, प्रत्यक् कालकवनात् दक्षिणेन हिमवन्तम्, उत्तरेण पारिपात्रम्”-इति ( २. ४. १०. ) । अत्राह तद्दीकाकारः कैयटः—“आदर्शादयः पर्वतविशेषाः”-इत्येव । “जनपदतदवध्योश्च ( पा० सू० ४. २. १२५. )”-इतिसूत्रस्योदाहरणभूतं यदिद मादर्शक इति पदं लभ्यते, इतो ज्ञायते अस्यादर्शनामा कश्चित् सीमपर्वत इति । सोऽयमादर्शः स्यादञ्जनपर्वतः ; तत्पदनिरुक्तितस्तथैवावगतेः । स चेदानीं

सुलैमानित्युच्यते । स हि शतपथब्राह्मणश्रुतश्वेतगिरेरेव दक्षि-  
णांशः । एवञ्च पतञ्जलिकालेऽपि स एव श्वेतगिरिरेवासीदार्या-  
वर्त्तस्य पश्चिमसीमेत्यनुमान मपि न स्यादसङ्गतम् । तदानीन्त-  
नार्यावर्त्तस्य पूर्वसीमभूतं कालकवनं तु स्यात् धर्मारण्यतः प्राग्-  
विद्यमानं दक्षिणमगधस्य प्रत्यक् स्थितं वकासुर-(वक्सर)-प्रदेशीयं  
ताडकवनम् । पुरासीत् तद्धि कालयवनाश्रितम् ; तत्प्रभृत्येव तस्य  
कालवनं कालकवनं वेति च नाम सम्पन्नम् । हरिवंशोल्लिखितस्य  
विष्णुपुराणोक्तस्य च ( ५. २३. ५. ) तस्य कालयवनस्य मगध-  
राजजरासिन्धुमित्त्वत्वेन वर्णनात् कालवनमगधयोः सामीप्यानुमानं  
स्याच्च सङ्गतम् । अत एव प्राच्यमगधस्य अनार्यवासत्वेनोक्तेखोऽपि  
तस्यैतस्य पतञ्जलेः सङ्गच्छते । तथाहि— “हम्मतिः सुराद्रेषु ,  
रंहतिः प्राच्यमगधेषु ; गमि मेव त्वार्याः प्रयुञ्जते”—इति  
( म० भा० पस्पशा० ) । तदेवं तदापि सौराष्ट्रजनपदस्य, तथे-  
दानीं पटनेत्यादिप्रसिद्धानां प्राच्यमगधीयकुसुमपुरादीनाञ्च आर्या-  
वर्त्तसीमतो वहिःस्थितिरासीदित्यत्र नास्ति संशयलेशोऽपीति ।

अथात्र भगवान् मनुस्वाह— “आ समुद्रात्तु वै पूर्वादा  
समुद्राच्च पश्चिमात् । तयोरेवान्तरं गिर्योरायावर्त्तं विदुर्बुधाः”  
—इति ( २. २२. ) । ‘तयोः गिर्योः’ पूर्वोपात्तयोः हिमवद्विन्ध्ययोः ।  
तदित्यं पूर्वापरसमुद्रव्याप्येष देशो मनोः सम्मतः । तत्र पूर्वः स्यात्  
गङ्गासागरसङ्गमः , अपरस्तु सिन्धुसागरसङ्गमः । स एष आर्यावर्त्तः  
ब्रह्मावर्त्तप्रदेशो ब्रह्मर्षिदेशो मध्यदेशो यज्ञिय देशश्चेति चतुर्विधत्वेन  
वर्णितस्त्वेन तत्प्रान्तभूमीनां ज्ञेच्छभूत्वमुररीकृतञ्च । तद्यथा —

“सरस्वतीदृषदत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥



कुरुक्षेत्रञ्च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्राह्मावर्त्तादनन्तरः ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि ।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥

कृष्णसारसु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।

स ज्ञेयो यज्ञियो देशो क्लेच्छदेशस्त्वतः पर”-इति

( म० २अ० १७, १८, २१, २३श्लो० ) ।

अत्र हि ब्रह्मावर्त्त-ब्रह्मर्षि-मध्यदेशास्तु ‘यज्ञियाः’ यज्ञकार्याह-  
भूमय एव, तत्र कास्ति विचारणा; निर्दिष्टेभ्य एभ्यो बहिरपि  
आर्यावर्त्तान्तर्गताः सिन्धुसौवीरकाश्यादयो देशा अपि यज्ञानुष्ठानाह-  
भूमय इति ‘यज्ञियदेशाः’ उच्यन्ते । एतस्माच्चार्यावर्त्ताद् बहिःस्थिताः  
“किराता यस्थान्ते, पश्चिमे यवनाः स्मृताः । आन्ध्रा दक्षिणतो  
वीर ! तुरस्कास्वपि चोत्तरे”-इति ( वा० पु० १३. ४० ), एव-  
मादिकाः खोराशान-तुरस्क-पूर्ववङ्गोत्तरवङ्गान्ध्रप्रदेशादयोऽस्यार्या-  
तर्त्तस्य प्रान्तभूमयः सर्वाः एव क्लेच्छदेशाः ; किच्चार्यावर्त्तान्तर्गता  
दक्षिणवङ्गाङ्गप्राच्यमगधादयोऽपि कृष्णसारसृगहीनत्वेनायज्ञियत्वात्  
क्लेच्छदेशा एव ।

तत्त्वतस्तु “तयोरेवान्तरं गिर्योः”-इति मनूक्तेः पूर्वस्यां यावत्येव  
विन्ध्यगिरेः प्रसृतिस्तावानेव यज्ञिय आर्यावर्त्तः स्वीकार्यः, ततो  
वहिरार्यावर्त्तत्वेऽपि न त्वस्ति यज्ञियत्व मिति क्लेच्छभूत्व मेव । अत  
एवाङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च गमननिषेधः सङ्गच्छते ;  
सूचितन्त्वेतत्तत्र मनुनैव “एतान् द्विजातयो देवान् संश्रयेरन्  
प्रयत्नतः”-इति ( २. २४. ) । ‘एतान्’ ब्रह्मावर्त्तादीनित्यर्थः ।  
तथैषु देशेषु पुरा नासन् ब्राह्मणा इति प्रवादोऽप्युपपद्येत । एत-

ह्यपि प्राच्यमगधेषु पटनाप्रभृतिषु, अङ्गप्रदेशेषु भागलपुरादिषु चान्यत आगताः शाकलद्वीपिब्राह्मणाः, तथा वङ्गेष्वत्र कान्यकुब्जा-  
दागता एव ब्राह्मणा राठि-वारेन्द्र-वैदिका इति ख्याता वसन्ति,  
कलिङ्गसौराष्ट्रयोरप्येवम् ।

कलिङ्गप्रदेशागम्यत्वं तु पाणिनिसूत्र-तदवार्त्तिक-तन्महा-  
भाष्येभ्यश्चावगम्यते । तथाहि— अस्ति पाणिनेरेकं सूत्रं “परोक्षे  
लिट्”—इति ( ३. २. ११४ ), अत्र चास्ति कात्यायनवार्त्तिक  
मिदम्— “अत्यन्तापङ्गवे च”—इति, लिट् वक्तव्य इति शेषः, उदा-  
हरणञ्चास्य दर्शितं पतञ्जलिना—“नो कलिङ्गान् जगाम”—इति  
विवृतं च तत् कैयटेन— “न केवलं तद्देशस्य भोजनादेरपङ्गवो यावत्  
तद्देशगमनादेरपि”—इत्यादि । एष च कलिङ्गप्रदेशोऽद्यप्यार्या-  
वर्त्ताद्वहिरेव संस्थितो मेदिनीपुरादारभ्य तैलङ्गदेशान्तं यावद्  
विस्तृतः । पुरा आसीदय मुत्कलिङ्ग-मध्यकलिङ्ग-कलिङ्गेति  
त्रिधा विभक्त इति त्रिकलिङ्गनामा । त्रैलिङ्गनाम तु तत एव  
समुद्भूतम्, अप्युत्कलिङ्गनामत एवोत्कलनामप्रसिद्धिरित्याहुरेतिहा-  
सिकाः । अतएव श्रीक्षेत्रे वर्णविचाराभावस्तद्दोषनिवृत्तये चोत्त-  
रत्र समये केनचिदुत्कलखण्डप्रणयनञ्चेति सम्भाव्यते ।

अथामरमिंहोऽपि प्राचोदिच्यमध्यन्तेच्छेति चतुर्विभक्त मार्या-  
वर्त्तदेशसंस्थानमश्लोकयत् । तद्यथा— “आर्यावर्त्तः पुण्यभूमि-  
र्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः”—इति ( २. १. ८. ) । तत्र “शरा-  
वत्यास्तु योऽवधेः । देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्य उदीच्यः पश्चिमोत्तरः ।  
प्रत्यन्तो स्लेच्छदेशः स्थान्मध्यदेशस्तु मध्यमः इति ( २. १. ६, ७. ) ।  
प्राक्सहितो दक्षिणो देशः ‘प्राग्दक्षिणः’, एवं पश्चिमसहित  
उत्तरदेशः ‘पश्चिमोत्तरः’, अन्तं प्रति गतः ‘प्रत्यन्तः’ सीमान्त-

प्रदेश इति, तदर्थः । तदित्य ममरसिंहकाले 'शरावती'—नाम-  
नद्येवासीत् प्राच्योदीचयोः सीमेति गम्यते । अत एवोक्तं  
काशिकावृत्तौ ( पा० सू० १. १. ७५. )—

“प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा ।

विदुषां शब्दसिद्धयर्थं सा नः पातु शरावती”—इति ।

अथात्र युरोपीयभ्रातरः केचन सम्प्रवदन्ते । श्रूयते हि ऋक्-  
संहितायाम्— “अनु प्रत्नस्योकसो हुवे”—इति ( १. ३०. ६. ),  
तेनावगम्यते सारस्वतप्रदेशीयार्याणां मादिपुरुषाणां वास आसीत्  
पुरा कचिदन्यत्रैवेति । तच्चार्याणां मादिनिकेतनं मस्यैवासिया-  
खण्डस्य मध्यभागस्थितयोर्वेलुर्त्ताग्मुश्ताग्वर्षतयोः पश्चिमपार्श्व-  
गताधित्यका भूमिः, तत एव भारतीयाः पारसिकाः शर्मण्यादयश्च  
विकीर्णा भारतादिष्विति ।

वयं मत्र ब्रूमः ;—भारतीयपारसिकशर्मण्यादीनां मार्यमूलत्वे-  
नैकजातिप्रभवत्वन्तु स्यात् स्वीकार्यम्, किन्त्वहौपनिवेशिका वयं  
मिति नैव मन्तव्यं मस्माकम् ; स्वदेशस्वत्वहान्यादिदोषत्रयप्रसङ्गात्,  
तेषां तन्मतपोषकप्रमाणहेतूनां मतिदौर्बल्याच्चेति ।

ते त्रयो दोषाः खल्वेते—नैष देशोऽस्माकं पैतृकोऽपि तु यथा-  
भवद्यवनानां अधिकृतोऽद्य चेलण्डीयानाम्, तथैव पुरास्मात्पूर्व-  
पुरुषैरत्रत्याननार्यान् विजित्य बलाद् गृहीत इति । एतेनास्मिन्  
देशेऽस्माकं मूलस्वत्वं कदापि नास्ति, प्रत्युत यथा पूर्वं यवनानां  
जयलब्धं स्वत्वं सम्पन्नं मद्य चेलण्डीयानाम्, तथैवैकदास्माकं मपि  
वभूवेत्येवेति प्रथमो दोषः । तदनु सम्प्रत्यत एवास्माकं यहुद्यादीनां  
मिवौपनिवेशवासित्वं मिति द्वितीयो दोषः । स्वार्थानुरोधतः

स्वावासकण्टकभूताना मेतद्देशीयमूलस्वत्ववता मनार्याणा मुच्छेदन-  
 चेति तृतीयः । यदि हि तेषां तन्मत मस्माक मृत मित्यभिमतं  
 स्यात् , तर्ह्येते तयोऽपि दोषा गलेकुठारन्यायेन मन्तव्या एव स्युः ।  
 न च तथा । प्रत्युत दृश्यते हि न कश्चित् स्वावासभूमेऽतुरङ्गुल-  
 भूमिस्वत्व मपि त्यक्तु मुत्सहते, तद्वय मिहार्यावित्ते चिर मासृष्टे-  
 निर्वसन्तोऽपि तद्विरुद्धप्रबलप्रमाण मन्तरा कथङ्कारं नाम पैटकं  
 स्वत्व मुत्सृजन्तोऽत्र दोषभावं क्षमामहे ? अपि राजशासनतोऽन्नाभा-  
 वादितो विपुलार्थार्जनसृष्टहासन्ताडनादितो वा ये केचनार्या  
 अनार्याश्च स्वदेशाद् वह्निर्भूता औपनिवेशिकत्व मापन्ना आपद्यन्ते  
 वाद्यापि, अस्तु तेषां तथात्व मदोषाय ; अतथाविधाना मस्माकं विषये  
 तेषां तथाविधजल्पनं कथं न नो हृदयं व्यथयेत् ? एवं दुर्बलाना  
 माद्यानार्याणां प्राणादिसम्पीडनेनैवास्मत्पूर्वपुरुषा इह वास्तुस्थान  
 मालेभिर इत्यनृत मपि यद्वृतायेत, तर्ह्येष तत्कलङ्कप्रवादः कथं न  
 भवेद् दोषायेति च हृदयवद्भिः सुधीभिरेवाकलनीयम् ॥

सन्ति चात्र तेषां तन्मतपोषका येऽष्टावनुमानहेतवो लिखिताः,  
 तेष्वेकोऽपि न विचारसह इत्यस्माकम् । तद्यथा—

(१) 'एशियाखण्डतः प्रोषिता एवार्याः कालेन सर्वत्र यूरोप-  
 खण्डादौ बभूवुः कृतवास्तव्याः'—इत्येव मस्येकः प्रवादः , अतोऽव-  
 गम्यते नूनं मासीदार्याणा मादिवासः प्रथम मेशियाखण्डमध्य-  
 भूभाग इति तेषां तथाविधानुमानस्याद्यहेतुवर्णनम् । अत्र ब्रूमः—  
 जागर्तु स प्रवादस्तेन किम् , तथा स्वीकारेऽपि न भवेदस्माकं  
 भूस्वत्वनाशः ; आर्यावर्त्तस्यास्य चैशियाखण्डीयभूभागत्वात्,—  
 निरवसिताश्चास्माद् विश्वामित्रर्षिपुत्रादयः । तथाहि—“त एतेऽम्ना  
 पुण्ड्राः शवराः पुलिन्दा मूतिवा इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति वैश्वा-



मित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः”—इति ऐ० ब्रा० ७. ३. ६ । अत एव त्वग्दोषदुष्टा भर्तृपरित्यक्ता अत्रिसुता विदुष्यपालैव ग्रीकदेशीया अपेलो देवतेति सम्भाव्यते । तदत्र ऋ० सं० ८. ८१ सूक्तव्याख्यानपरं शाक्यायनब्राह्मणं द्रष्टव्यम् ।

( २ ) भारतीयपारसिकेंलण्डीयादीनां विभिन्नजातित्वेऽपि भाषासौसादृश्यं दरीदृश्यते , विशेषतः सर्वास्वेव भाषासु शीतर्तुनामैकविधमेव प्रायः , तस्माच्चावगम्यते सर्वेषां मेवैषा मेकवंशप्रभवत्वं शीतप्रधानवासित्वञ्चेति तेषां तादृशानुमानप्रवृत्तौ द्वितीयहेतुवर्णनम् । अत्र ब्रूमः— अस्त्वेषा मेकवंशप्रभवत्वम् , अपि स्वीकार्यञ्च स्यात् पुरासीदेषां सर्वेषां मेव हिमप्रधानैकदेशवासित्वञ्च ; तेन किम् ? शीतप्रधाने तस्मिन् सुवासुप्रदेशे हि तेषां मुक्तसर्वजातिमूलार्याणां वासस्वीकारेऽपि किं नेतन्नोपपद्यते ? उपपद्यत इति चेत् कृतं कल्पनाकल्पितसुदूरजन्मजल्पनयेति । अपि पारसिकावेस्ताग्रन्थस्य ‘वेन्दिदाद्’-प्रकरणीयाद्याध्याये ‘हरख् इति’-नामकस्यैकस्याभ्युदयशालिनो नगरस्य यद् वर्णनं दृश्यते , तन्नूनमेतस्य सारस्वतप्रदेशस्यैव ; ‘सरस्वती’-शब्दस्यैव हि पारसिकभाषायां ‘हरख् इति’-व्यवहारः सर्वसम्मतः , सिद्धान्तितश्च तथा क्लार्कमहोदयेनापि ( १८६२ ख्रि. सु. व्या. ५६-५८ पृ० ) ।

( ३ ) तत्रैव ‘अवेस्ता’-ग्रन्थस्य ‘वेन्दिदाद्’-प्रकरणे देशवर्णनप्रसङ्गे ‘ऐर्यनम्वेजो’-नामा कश्चिज्जनपदोऽपि वर्णितो दृश्यते । हिमर्तुप्रधानश्च स इति चोक्तिखितं तत्र । स एष जनपदः पारसिकानामादिवास्तव्यः स्यात् , स्वीक्रियते च तथा तैः पारसिकैः । भारतीयपारसिकयोर्वदनमण्डलसारूप्यात् भाषासादृश्यात् , अग्निपूजकत्वसाम्याच्चैकप्रभवत्वं व्यज्यत एवेति सर्वमूलार्याणां मेवा-

वासभूमिः स्यात् स 'ऐर्यनम्वेजो' जनपद इति तत्र तृतीय-  
हेतुवर्णनम् । अत्र ब्रूमः— अस्तु पारसिकानां मार्यवंशसमुत्पन्न-  
त्वेनास्मद्भाष्यत्वम्, स्याच्च स्वीकार्यं तेषां मादिपुरुषाणां मार्यनम्-  
वेजोवासित्वम् ; न तथाप्यस्माकं तद्देशमूलत्वं भवेदुररीकार्यम् ;  
राजाज्ञादिभिरस्मद्देशतो विताडितानां तदादिपुरुषमात्राणां तथात्व-  
सम्भवात् । एकवंशप्रभवानां मपि हि पूर्वपुरुषाणां नानाहेतुतो  
नानादेशवासित्वं सम्भवत्येव, सम्भवति च तत्र केषाञ्चित् स्वदेश-  
वासित्वं मपीति सुवच मेव । अपि वा राजतरङ्गिणीवर्णितः 'आर्या-  
णक'-देश एव 'ऐर्यनम्वेजो'-इति पारसिकनामभागासीत्,  
स च स्यात् केषाञ्चिदार्याणां वासभूमिः, पारसिकानाञ्चैषां  
तेभ्य एवोत्पत्तिः स्वीकार्येति सर्वं मवदातम् । स च देशः काश्मीरा-  
दुत्तरो हिमप्रधानोऽप्यार्यावर्त्तान्तर्गत एव । तथाहि—

“तुषारवर्षैर्बहुलैस्तमकाण्डनिपातिभिः ।

आर्याणकाभिधे देशे विपन्नं केचिदूचिरे”—इति (४, ३६७.) ।

वस्तुतस्तु ऐर्यनम्वेजोनाम नगरं नाद्य क्वचिदपि केनाप्युप-  
लभ्यते, पुरा क्वासीत् तस्य विद्यमानतेत्यपि नाद्य यावत् सुनिर्णी-  
तम् ; तदलं खपुष्पपर्यालोचनयेति ।

(४) अस्ति चैव मपि प्रवादः— ग्रीक्रोमकजाति-पूर्वपुरुषाः  
पूर्वोत्तरदेशतः प्रोषिता इताल्यादौ न्यवात्सुरिति । स एष प्रवाद-  
स्तदैव सङ्गच्छेत, यदि नामासियाखण्डस्य मध्यभूमिरेव तेषां माद्या-  
र्याणां निकेतनं मन्येतेति तत्र चतुर्थहेतुवर्णनम् । अत्र ब्रूमः—  
पूर्ववर्णितः सुवास्वादिप्रदेशोऽपीताल्यादिभ्यः किञ्चिदुत्तरपूर्वगत  
एवेत्यतस्तत्राप्रवादोपपत्तिरुभयत्र समानैवेति ।

(५) हिमालयस्योत्तरभागस्य पवित्रतमत्वेन लोकातीतमहिमा-

नितत्वेन स्वर्गरूपत्वेन चेदानीन्तनानां मार्याणां स्वीकारात् तादृश-  
स्थानस्यैतदादिपुरुषाणां वासभूत्वं सम्भाव्यत इति तत्र पञ्चमहेतुवर्ण-  
नम् । अत्र ब्रूमः— हिमवदक्षिणभागस्था आर्याः तपस्साधनादिकं  
चिकीर्षवश्चिरमेव हिमवदुत्तरभागं गत्वा कृतकृत्या भवन्ति, इत-  
एव तस्य पवित्रतमत्वेन वर्णनम् ; न त्वादिपितृवासनिबन्धनमिति ।  
लोकातीतमहिमान्वितत्वं तु उत्तराणां कुरूणां मज्जियत्वादिश्रवणत-  
एव । हिमवद्वृष्टस्य स्वर्गरूपत्वं तु पौराणिकम्, उत्तरशब्दमात्रं  
तद्बीजम् । तदिदं स्फुटं प्रतिपादयिष्यामोऽष्टमे, इह चोत्तरत्र  
किञ्चिदिति ।

(६) श्रूयते हि कौषीतकब्राह्मणे— “उदीच्यां दिशि प्रज्ञात-  
तरा वागुद्यते, उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिञ्चितुं, यो वा तत  
आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्ति इति ह स्माहैषा हि वाचो दिक्  
प्रज्ञाता”—इति ( १. ७. ६. ) । तदेवं कौषीतकब्राह्मणग्रन्थ-  
प्रवक्तुराचार्यस्य हिमवदक्षिणखण्डस्थत्वेऽपि तदादिपुरुषाणां हिम-  
वदुत्तरखण्डवासित्वेनैषोत्तरदिक्स्तुतिः सङ्गच्छत इति तत्र षष्ठ-  
हेतुवर्णनम् । अत्र ब्रूमः— ऐतरेये च ब्राह्मणे समाम्नातैतदर्थिका  
स्तुतिः ; ऐतरेयकाले कुरुपञ्चालशिविसौवीराणां मध्यदेशत्वं पूर्वं  
वर्णितम् ( ४२ पृ० ) । मध्यदेशापेक्षयोद्याननगरस्योत्तरत्वं सर्वै-  
श्चक्षुषमिदं नित्यमेव । एष एवोद्यानदेशो राजतरङ्गिण्या मुञ्जा-  
नक इत्युक्तः ; तस्यास्य विद्यानिवासत्वेन स्तुतिरन्यत्रापि । स एष  
काश्मीरसन्निहित उद्याननामजनपदोऽत्रेष्टो विद्यानिलय इति कथं  
धावेम हिमवतोऽप्युत्तरमिति ।

(७) श्रूयते हि— “तोकं पुष्येम तनयं शतं हिमाः”—इति  
( ऋ० सं० १. ६. ८४. ) आशीर्मन्त्रः । तदत्र विवेचनीयम्,

हिमर्त्तुतोऽब्दपरिगणनं तु तत्रैवोपपद्येत, यत्र प्रदेशे हिमप्रपात-  
स्यातिशयं विद्यते सदैव; नात्र तथोपलभ्यते; अपि त्वासिधा-  
मध्यभूभागस्थो वेलुर्तागमुश्तागपर्वतयोरन्तरालप्रदेशस्तु नूनं तादृश  
इति तेषां तत्र प्रबलोऽयं हेतुः सप्तमः । अत्र ब्रूमः— “यदि हि  
हिमर्त्तुवाचिहिमशब्देनाब्दपरिगणनश्रवणात् हिमशब्दस्याब्दवाचि-  
त्वेन व्यवहाराद्वा स्यादस्मत्पूर्वपुरुषाणां हिमर्त्तुप्रधानदेशवासित्वानु-  
मानम्, तर्हि शरदृतुवाचिशरच्छब्देनाब्दपरिगणनश्रवणात् शर-  
च्छब्दस्याब्दवाचित्वेन व्यवहाराद्वा किं न स्यात् तेषां शरदृतुप्रधान-  
देशवासित्वानुमानम् ? अस्ति तथापि श्रवणं बहुत्रैव । तद्यथा—

“तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वा मिद्”—इति ऋ० सं० १. १२. ७२ ।

“शत मिन्नु शरदो अन्ति देवाः”—इति ऋ० सं० १. १४. ६० ।

“शतं नो रास्व शरदो—०ऽश्यामायूष्मि”—ऋ० सं० २. ३. २७ ।

“अस्मै शतं शरदो जीवसे धाः”—इति ऋ० सं० ३. ३. ३५ ।

“प्रतिजीवातिशरदः शतम्”—इति च ऋ० सं० १०. ८६. ३६ ।

वस्तुतस्त्वार्याणां न कदापि हिमर्त्तुमात्रभोगौकस्त्व मासीत्,  
न च कदापि शरदृतुमात्रभोगौकस्त्वम्; अपि नाम “शर-  
च्छृता अस्या सोषधयो भवन्ति, शीर्णा आप इति वा”—इति  
यास्कोक्तेः (४. ४. ४.), शृणाति हिनस्ति प्राणिनः इति शरच्छब्द-  
व्युत्पत्त्या शरदृतोरस्वास्थ्यकारित्व मासीदार्याचार्यसम्मत मिति  
तस्यर्त्तोरब्दान्यत्व ममानि तैरिति प्रतीयते । सति चैवं तस्याब्दा-  
न्तावयवत्वे, हिमर्त्तोरब्दावयवत्वं सुतरां सम्पन्नम् । अत एवाब्द-  
गणनाप्रसङ्गे शरच्छब्दहिमशब्दयोरन्यतरस्य प्रयोगो बहुत्र श्रूयते  
वेदे, सङ्गच्छते च तयोः शब्दयोगौण्या वृत्त्याब्दवाचित्व मपीति ।

(८) अपि श्रूयते—“उत्तरं गिरि मति दुद्राव”—इति ( शत०



ब्रा० १. ८. १.) । ‘उत्तरं गिरिं’ हिमालयम् ‘अति’ अतिक्रम्य  
उल्लङ्घ्य ‘दुद्राव’ द्रुतगमनं कृतवानिति च तस्य तत्सम्मतोऽर्थः ।  
तदस्मादपि वचनात् हिमालय मुल्लङ्घ्य इहागमनं सुव्यक्त मिति तेषां  
तादृशानुमानेऽष्टमो हेतुः । अत्र ब्रूमः— तस्याः श्रुतेराद्यन्तपर्या-  
लोचनया अतिशब्दार्थालोचनया चैतद्विपरीत एवार्थः प्रतीयते ।  
तथाहि— “स औघ उल्यिते नाव मापेदे । तं स मव्य उपन्या पुष्पुवे ।  
तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रति मुमोच । तेनैत मुत्तरं गिरि मति-  
दुद्राव । स होवाच । अपीपरं वै त्वा । वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व ।  
तं तु त्वा मा गिरौ सन्त मुदक मन्तश्चैत्सीत् । यावद्यावदुदकं  
समवायात् तावत्तावदन्ववसर्पासीति । स ह तावत्तावदन्ववससर्पं  
तदप्येतदेवोत्तरस्य गिरेर्मनोरन्ववसर्पणम्”—इति पूर्णं तच्छतपथ-  
वचनम् । तदेतत्पर्यालोचनया गम्यते— कदाप्येकदा सम्भूतेऽत्र  
जलप्लावनेऽस्मादेवार्यावर्त्तीयसमुद्रादुल्यितस्य जलोघस्य हिमालय-  
शृङ्गाधिरोहणम्, उपशान्ते च तदुपद्रवे ततः क्रमादभिसर्पणञ्चेत्ये-  
वेति सत्यमतानुकूलैवैषा श्रुतिः । अत एव ‘अतिदुद्राव’—इति  
पदस्य ‘अधिजगाम’—इत्यर्थः कृतस्तज्ञाप्यकृता हरिस्वामिना ।  
वेदार्थनिर्णयायैव यास्कप्रणीते निरुक्ते त्वभिपूजितेऽर्थेऽतिशब्दो  
निर्णीतः— “अति सु इत्यभिपूजिते”—इति ( १. १. ५. ) ।  
‘अतिधनः’—इति, ‘सुब्राह्मणः’—इति च तदुदाहरणद्वयम् । अति-  
शयोऽप्यर्थोऽप्यस्यतेर्यास्वीयः । अत एव “अतिमृत्यु मेति”—इत्यादौ  
( श्वेता० उ० ६. १५. ) अतिशयोऽर्थ एव प्रतीयते, नोल्लङ्घनार्थः ।  
“अतिरतिक्रमणे च”—इति पाणिनिसूत्रस्य ( १. ४. ५०. )  
व्याख्यायां ह्याहैव ज्ञानेन्द्रसरस्वती— “अतिक्रमण मुचितादधिक-  
स्यानुष्ठानम्”—इति । प्रकृतौ अतेरुल्लङ्घनार्थत्वस्वीकारेऽपि हिमा-

लयोत्तरवासिनां तेषां दृष्ट्यास्य हिमालयस्य उत्तरगिरित्वं कथं  
सम्भवेन्नामेति च तैरेव विचारणीयं स्वयं मिति दिक् ॥

एव मस्मत्पूर्वपुरुषाः खल्वासन् पुरा सुमेरुप्रदेशवासिन एवेति  
वालसिद्धान्तोऽपि वालसिद्धान्तः । तथाहि—

उत्तरमेरुप्रदेश एवास्मत्पूर्वपुरुषाणां माद्यार्याणां मासीद्  
वास्तव्यभूरिति प्रमाणयितुं तेन निष्प्रमाणोऽपि वागाडम्बरो बह्व-  
पन्यस्तः ; तत्र तु प्रमाणपरतन्त्राणां मौनं मेव श्रेयः ; ततो यानि  
तु श्रुतिवचनादीनि प्रमाणत्वेनोपन्यस्तानि, तत्रेदं प्रथमं मन्यामहे  
वयम्— “अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा ,

नक्तं ददृशे कुहचिद् दिव्येयुः ।

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि ,

विचाकशच्चन्द्रमा नक्तं मेति ॥”—इति ऋ० १. २४. १० ।

स्यादस्यैषोऽर्थस्तत्सम्मतः—‘अमी’ ‘ये’ ‘ऋक्षाः’ सप्तर्षयः ‘उच्चा’  
उच्चैः शिरःप्रदेशे ‘निहितासः’ स्थापिताः, सृष्टिकर्त्तृति शेषः । ते  
‘नक्तं’ रात्रौ ‘ददृशे’ दृश्यन्ते, ‘दिवा’ ‘कुहचित्’ ‘दिव्येयुः’ गच्छेयुः, न  
दृश्यन्त इति यावत् । ‘चन्द्रमाः’ अपि ‘नक्तम्’ एव ‘विचाकशत्’ प्र-  
दीप्यमानः ‘एति’ दृश्यत इति भावः । तदेवमादीनि ‘वरुणस्य’ राज्ञः  
‘अदब्धानि’ कथं मप्यविनाश्यानि ‘व्रतानि’ कर्माणि , ज्ञेयानीति ।  
एवञ्च शिरःप्रदेशे सप्तर्षिमण्डलावस्थानं गम्यते , तच्च सुमेरावेवोप-  
पद्यते ; अत एतादृङ्मन्त्रद्रष्टृणां माद्यार्यर्षीणां मासीत् पुरा तत्रैवा-  
वास इति तदभिप्रायः । वयन्तु ब्रूमः— यास्कमते ऋक्षा इति  
पदेनेह सर्वेषां मेव नक्षत्राणां ग्रहणं मिष्टम् ( नि० ३. २० ) ;  
सर्वेषां मेव तेषां रात्रावेव द्योतमानत्वात् सुसङ्गच्छत एव चात्र

यास्कस्य तन्मतम् । अपि सुमेरुप्रदेशतो नक्षत्राणि उच्चैर्दृश्य-  
मानानि, इतोऽपि उच्चैरेव दृश्यमानानि, कुमेरुतोऽपि तानि उच्चै-  
रेव दृश्यमानानीति तेषां मुच्चैष्ठत्वं सर्वत्र प्रत्यक्षम्, किं सुमेरुत  
एव । न ह्युच्चैःपदेन मस्तकोपरि वर्त्तमानं भ्राम्यमानं वा गम्यते ।  
यद्युच्येत शतपथब्राह्मणे ( २. १. २. ४. ) ऋक्षशब्दः सप्तर्षिवाचको-  
ऽपि श्रुत इति ; तत्रापि नो न क्षतिः । “उत्तरम्, उद्धततरम्”  
—इत्यादिनैरुक्तवचनात् ( २. ३. २ ) उच्चैश्च निबन्धनं मेवोत्तरनाम-  
व्यपदेश इत्यवगमात् उच्चैरित्यस्येह सप्तर्षिपक्षे उत्तरस्या मित्येवार्थः  
पर्यवस्यति ; श्रुतञ्च तथा तत्रैव शतपथे तदनुपदम्— “उत्तरा हि  
सप्तर्षय उद्यन्ति”—इति ।

वस्तुत एष मन्त्रो वरुणविज्ञानपरस्ततो वरुणकर्मपरिचायक  
एव प्रधानतः ; तदस्माद् वरुणपदार्थबोधाच्च विलीयत एवैतद्  
वालविजृम्भितं समन्तात् । तथाहि— “रात्रिर्वरुणः”—इति श्रुतेः  
( ऐ० ब्रा० ४. २. ४. ) वरुणस्य रात्रिदेवत्वम्, निघण्टौ द्वादशा-  
दित्यनामोप्रक्रमे वरुणशब्दपाठात् सूर्यविशेषत्वञ्च, “येना पावक  
चक्षसा०—० पश्यन् जन्मानि सूर्य”—इति स्त्रोदाहृतश्रुतिव्याख्यानेन  
भगवता यास्केनापि हि प्रतिपादितञ्च तदेव ( १३. ३. ६. ) ; एवं  
हि रात्रिकालिकोऽधःस्थः सूर्य एव वरुण इति प्रतिपद्यते । एवं  
वरुणार्थस्वीकारेणैवोपपद्यते वरुणराजकर्तृकः सप्तर्षिप्रभृतीनां  
चन्द्रमसश्च प्रकाशः । परं न चैतद् वचः सङ्गच्छते मेरुप्रदेश-  
वासिनाम्, तत्र सूर्यविशेषस्य वरुणस्य तदधःस्थत्वेन चन्द्रमः-  
प्रभृतीनां प्रकाशकत्वासम्भवात् ; प्रत्युत आर्यावर्त्तवासिना मेव  
सङ्गच्छते । तदित्य मेषोऽपि मन्त्रोऽस्मन्मतपोषक एव न वेति  
सुधीभिरेवाकलनीयम् ।

तद्वितीयप्रमाण मध्येव मेव । तथाहि—

अस्यैक मष्टादशर्चं सूर्यसुन्नाम सूक्तम् (ऋ० सं० १०. ८८.) ।

तस्य द्वितीयस्या ऋचः प्रथमार्द्धर्च एषः—

“स सूर्यः पर्युरु वरांस्येन्द्रा वहत्याद्रध्येव चक्रा”—इति ।

इमं मेव मन्त्रांशं भवत्वस्वयं सुमेरोराद्यार्थावासभूत्वं प्रमाणयितुं चेष्टितं तेन । तदुक्तम्— मस्तकोपरि रथचक्रा-  
कारेण नक्षत्राणां भ्रमणं तत्रत्यानां मेव सम्भवतीति । वस्तुत-  
स्तन्मन्त्रस्य व्याख्यानालोचनतो न तादृशतच्छायापि गम्यते ;  
प्रत्युत तन्मतविपरीतं यत् सत्यं तदेव प्रमाणितं भवति । तद्यथा  
—‘इन्द्रः’ परमैश्वर्यादिगुणयुक्तः ‘सः’ ‘सूर्यः’ ‘उरु’ उरौ  
विस्तीर्णान्तरिक्षे ‘वरांसि’ पृथिव्यादिग्रहोपग्रहमण्डलानि ‘आव-  
हत्यात्’ सदैव आवर्तयति । तत्र दृष्टान्तः— ‘रथ्या चक्रा इव’  
यथा अक्षः मध्यस्थः सन् रथसम्बन्धीनि चक्राणि भ्रामयति , इत-  
स्ततोविच्छिन्नपतनतस्तानि रक्षयति च, तद्वदिति । एतेन मध्यस्थित-  
सूर्याकर्षणशक्तितः सर्वेषां ग्रहोपग्रहाणां मितस्ततोविच्छिन्नपतन-  
राहित्यं भ्रमणञ्चेति विज्ञानं सुपदिष्टं भवति । वालमते तु तेषां  
मस्तकोपरि सूर्यस्याविद्यमानत्वादक्षरूपत्वेन सूर्यस्य मध्यस्थितित्वं  
कथं सङ्गच्छेतेति पक्षपातशून्याः सुधिय एव विभावयन्तु । सुव्यक्तं  
मपि श्रुतं मत्तरूपेण सूर्यस्य स्थितिर्वर्णनं तदुत्तरम्—

“यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्

विश्वक् तस्तन्म पृथिवी मुत द्याम्”—इति ।

अस्यार्थः ।—‘यः’ सूर्यः ‘शचीभिः’ आकर्षणक्रियाभिः ‘पृथिवीम्’  
स्वनीचैः स्थितां भूमिम् , ग्रहमण्डलनिम्नार्द्धभागगता मिति भावः ;  
‘उत’ अपि ‘द्याम्’ स्वोच्चैः स्थितां सुतरां द्युस्थाम् , ग्रहमण्डलोर्ध्व-



भागगता मिति भावः; 'विष्वक्' सर्वतः 'तस्तम्भ' स्तम्भन् वर्त्तते । तस्तम्भेति "कृन्दसि लङ्लुङ्लिटः"—इति सार्वकालिको लिट् । तादृशस्तम्भनेन ग्रहाणा मितस्ततः पतनजन्यं कक्षाचवनं वारितं भवति । अत्र दृष्टान्तः— "अक्षेणैव चक्रिया"—इति । 'चक्रिया' चक्रियौ, चक्रगतौ निम्नोर्ध्वप्रान्तौ यथा 'अक्षेण' स्तब्धौ दृश्येते लोके, तद्वदिति ॥

तत्तृतीयप्रमाणन्तु स्वसिद्धान्ताघातमेव न सहते, किम्पुनः सत्य-सिद्धान्ताघातम् । तथाहि— यदिदं श्रूयते सप्तविधसोमयागेषु अग्निष्टोमादिषु प्रातरनुवाकविधावैतरेयके— "प्रातर्वै स तं देवेभ्यो ऽन्वब्रवीत्"—इत्यादि ( २. २. ५. ) । एतया श्रुत्या प्रातरनुवाक-पाठस्य प्रातरेव कालो व्यक्तीकृतः । ततस्तदुत्तरत्र प्रातरनुवाकर्चां सङ्ख्याविधौ श्रूयते— "सहस्र मनूचं स्वर्गकामस्य"—इत्यादि पञ्चान्तरत्वेन । स एषः सहस्रर्चां पाठपक्षः प्रातःकाले कथमिहार्यावर्त्ते सङ्गच्छेत ? सुमेरुप्रदेशे तु सङ्गच्छते ; तत्रोषसो मास-द्वयव्यापित्वात् । तदित्य मुषसि सहस्रर्चानां पाठविधानं गमयत्ये-वाद्यार्याणां दीर्घौषसे सुमेरौ तदानीं मासीद् वास इति ।

अत्र ब्रूमः— नैषः प्रातरनुवाकविधिः क्वचिद्वक्संहितायां श्रुतः, अपि श्रूयते ब्राह्मणे त्वैतरेयकादौ, तत् किं मिदं मैतरेयादिकं मपि तत्रैव प्रोक्तम् ? तथा स्वीकारे यदिदं श्रूयतेऽत्वैतरेये— "ध्रुवायां मध्य-मायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपञ्चालानां राजानः"—इत्यादि ( ३८५० २४५० ), तत् कथं सङ्गच्छेत ? किञ्च यदि प्रातरनुवाक-पाठस्य कालो द्विमासात्मको मन्येत, तर्हि प्रातस्सवनमाध्यन्दिन-सवनतृतीयसवनानां कालाः कीदृशा मन्तव्याः ? संवत्सरसत्रकालश्च कीदृशः ? इत्यादि च तेन निरूपणीयं मेव । अथापरम्, यदि

दीर्घौषसे सुमेरावेव प्रातरनुवाकपाठसम्भव इति मन्येत , तर्हि युधिष्ठिरादिभिर्बाजिरावान्तैरार्यावर्त्तवासिभिरनुष्ठितेष्वश्वमेधादिषु प्रातरनुवाकानां पाठो न बभूवेति किं मन्तव्यम् ?

अन्यच्च ; यथा सहस्रवार्षिकसत्रस्यासम्भवता मालक्ष्य मीमांसायां अधिकरण मेक मारचितम् , तथैवेहोषसि सहस्रसङ्ख्याकानां मृचां पाठोऽसम्भव इति किं नात्र विचारित मित्यपि विचार्य मेवेति ।

वस्तुतस्तु “महति रात्र्या अनूच्यः पुरा शकुनिवादात्”—इत्येव विधिः । ‘रात्र्याः’ पूर्वस्यौपवसथाख्यस्य दिनस्य अग्निष्टोमीयपञ्च-  
नुष्ठानयुक्तस्य या रात्रिः तस्या रात्रेः सम्बन्धिनि शेषे ‘महति’ अवतिष्ठमाने सति प्रातरनुवाकाख्यानां मृचां पाठ आरब्धव्यः , ‘शकुनिवादात्’ शकुनयः पक्षिणः , ते यस्मिन्नुषःकाले प्रबुध्य वदन्ति ध्वनिं कुर्वन्ति , ततः ‘पुरा’ पूर्वं मेव तत्पाठः समाप्य इत्यर्थः । अत्राह सायणः— “एतदुक्तं भवति , यस्मिन् काले प्रारब्धः प्रातरनुवाकः तमसोपघातात् पुरैव समापयितुं शक्यः स्यात् , तदा प्रारब्धव्यः”—इति ( २. २. ५. ) । अवश्यपाठ्य-  
प्रातरनुवाकस्य सङ्ख्या त्वेकविंशतिरेव ( ऐ० ब्रा० २. २. ६. ) ; काम्यपाठ्यस्य तु शतादिका सहस्रान्ता । तदत्रावश्यपाठ्यानां मृचां पाठस्तु प्रातरेव नूनं सम्पद्यत इति प्रातरनुवाकनामकरणमुपपद्यते । काम्यपाठ्यानां शतादीनां मृचां पाठस्तत्रोषस्यसम्भव इत्येव श्रुतं तत्र तदुत्तरम्— “अपरिमित मनूच्यम्”—इति ( २. २. ७. ) । “शतं महस्र मित्यादि सङ्ख्यापरिमाणं परित्यज्य मध्यरात्रादूर्ध्वं मुपक्रम्य सूर्योदयात् प्राचीनकाले यावतीरनुवक्तुं शक्तिरस्ति तावतीरनुब्रूयात्”—इति च तत्र सायणभाष्यम् ।

वस्तुतस्त्वस्ति च प्रातरनुवाकस्य सर्वदिवापाठ्यत्वश्रुतिः—

“उदित आदित्ये प्रातरनुवाकमनुब्रूयात् ; सर्वं ह्येवैतदहर्दिवाकीर्त्यं भवति”—इति ( ऐ० ब्रा० ४. ३. ४. ) । काम्ये बहुसङ्ख्याकर्चां पाठपक्षे एतदेव स्याच्छरणम् ; नित्यपाठ्यानां प्रातरनुवाकर्चा मत्स्यसङ्ख्यात्वेन प्रातःपाठस्य अवश्यभावित्वात् प्रातरनुवाक इति नामधेयस्यान्वर्थतापि नानुपपन्नेति सर्वं भवदातम् ॥

उषोदीर्घत्वश्रवणपरं तदीयचतुर्थप्रमाणं मध्यकिञ्चित्कारम् । तथाहि— “स क्षपः परिषस्वजे”—इति ( ऋ० सं० ८. ४१. ३. ) मन्त्रे श्रूयते “तस्य वेनीरनु व्रतमुषस्तिस्त्रो अवर्द्धयन्नभन्ताम्”—इति । तदिह उषसस्त्रित्वश्रवणात् दीर्घत्वं गम्यते, तच्च सुमेरावेव सङ्गच्छत इति तदीयम् । तत्त्वतस्त्रित्वं वरुणविज्ञानोपदेशके मन्त्रे नोषसस्त्रित्वमभिहितम्, प्रत्युत ‘तस्य’ वरुणस्य ‘व्रतम्’ कर्म ‘अनु’-सृत्य ‘उषः’ कालः ‘तिस्त्रः वेनीः’ त्रिविधाः जरायुजाजरायुजो-द्विज्जाः ‘वेनीः’ प्रजाः ‘अवर्द्धयत्’ वर्द्धयति इत्येवोपदिष्टम् । अन्यत्रान्यत्र च “प्रजा ह तिस्त्रो अत्याय मीयुः”—इत्यादौ ( ऋ० सं० ८. १०१. १४. ) प्रजानां त्रिविधत्वं श्रुतमेवेति द्रष्टव्यम् । ‘अवर्द्धयत् + नभन्ताम्—इतिपदद्वयसन्धिजन्यम् अवर्द्धयन्नभन्ता मिति रूपम् ; अपिवा व्यत्ययकृतं बहुवचनम् ।

उषसो दीर्घत्वप्रमाणाय तेन यदियं ऋगुदाहृता— “कियात्या यत् समया भवति”—इति ( सं० १. ११३. १७. ), सैषा उषोविज्ञान-सूक्तान्तर्गता उषसोऽनन्तत्वं वेदयति, न तु प्रादेशिकदीर्घत्वम् ।

तथोषसः पञ्चविभागत्वाख्यानेन दीर्घत्वं सूचयितुं तस्य यत् तैत्तिरीयानुवाकस्योद्धरणम् ( सं० ७. २. २०. ), तदपि निरर्थकम् ; तादृशविभागस्यात्रार्यावर्त्तेऽप्यस्त्युपयोग इति ।

किञ्चेहेदमपि विवेच्यम्,— सुमेरुप्रदेशीयोषसो दीर्घत्वं

किं मायावर्त्तवासिना मस्माकं दृष्ट्या प्रतिपाद्यते, उत तत्रत्यानां मिति । इहत्यानां मिति चेत्, तेन कथं सिध्येत् तत्राद्यार्याणां वासः ? अथ तत्रत्यानां तादृशमन्त्रकृत्त्वं प्रमेय मिति चेत्, तदपि नोपपद्यते ; दीर्घत्वं ह्यापेक्षिकं भवतीति न तत् उषोऽन्तरदर्शन-विरहादपि सङ्गच्छते ! तत् किं मेतेन उषोदीर्घत्वप्रकाशकमन्त्रा-न्वेषणेनेति धीषणावता तेनैव स्वयं विवेच्य मिति ॥

यदिदं श्रूयते—“तानीदृहानि बहुलान्यासन् या प्राचीन मुदिता सूर्यस्य”—इति ( ऋ० सं० ७. ७६. ३. ), तदितः खलू-षसः कतिदिनव्यापित्वं गम्यते स्फुट मिति तेषां माद्यार्याणां सुमेरुवासित्वे पञ्चमं प्रमाणं मित्याह । अस्माकं तु नात्र श्रुतौ तिल-कोद्भाविता मर्यतिलकं प्रतीयते, प्रतीयते तु अङ्गा मानन्त्यम् ; तदिहाशेषशेषुषीमन्तो भूमिदेवा एव प्रमाणम् ॥

उषःशब्दस्यानेकत्र बहुवचनान्तप्रयोगोऽप्यत्रास्यैकं प्रमाणम्, तदिदं षष्ठं स्यात् । तद्यथा तैत्तिरीयब्राह्मणे मन्त्रः—

“इमा एव ता उषसो याः प्रथमा व्यौच्छन् ।

ता देव्यः कुर्वते पञ्चरूपा । शश्वतीर्नावपृज्यन्ति ।

न गमन्त्यन्तम्”—इति ( २. ५. ६. १३. ) ।

तत्त्वतस्तत्प्रदर्शितो ह्येष मन्त्रः पुनर्जन्मविषयो न तूषसो दैर्घ्यं भावेदयति ; तत् पश्यत्वेनत्पूर्वमन्त्रावेतौ—

“पूर्वं देवा अपरेणानुपश्यञ्जन्मभिः । जन्मान्यवरैः पराणि ।

वेदानि देवा अयं मस्मीति माम् ।

अहं हित्वा शरीरं जरसः परस्तात्”—इत्येकः,

अथापरः—“प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रम् । वाचं मनसि सम्भृताम् ।

हित्वा शरीरं जरसः परस्तात् । आ भूतिं भूतिं वयं सश्रवावहे”



—इत्यतस्तृतीय एवैष यः पूर्वं प्रदर्शितः । तथा च पूर्वजन्मनि दृष्टा एवेमा उषस इत्येव तत्फलितार्थः सम्पद्यते । एवञ्च न कथ मध्येष मन्त्रः सुमेरुप्रदेशीयोषसो बहुदिनव्यापित्वे प्रमाणं भवितु मर्हतीति स्फुटम् । किञ्च तत्रत्योषसो बहुदिनव्यापित्वं तत्रत्यानां कथं भवेदधिगन्तव्य मित्यपि विचार्य मेव ॥

यदप्युक्तं सूर्यस्य उषसश्च सुमेरुतो दक्षिणोदयदर्शनादेव “पुत्र-  
श्चरति दक्षिणायाः ( ऋ० सं० ३. ५८. १. )”—इति दक्षिणापुत्रत्व-  
व्यपदेशोऽपीति । तच्चैतत् सप्तमं प्रमाण मपि मज्जमानस्य बह-  
मानवणावलम्बन मिवाकिञ्चित्करम् । उत्तरः = ऊर्ध्वस्थः सूर्यः ,  
दक्षिणा = अधःस्था पृथिवी , इत्येव सर्वत्र ज्ञेयम् । सुमेरु-  
वासिनां तु येयं दिगस्माकं पश्चिमा , सैव स्याद् दक्षिणा ; यस्यां  
दिशि सूर्योदयस्तस्या एव प्राक्तनियमात् । पुरः, पुरस्तात्, प्राक् ,  
पूर्वेत्यभिन्नार्याः ; सूर्योदयास्तनिबन्धन एवात्र भवत्यस्माकं दिग्-  
व्यवहारः प्राक्प्रत्यगुदगर्वागितीति । श्रुतिसिद्धं ( ऐ० ब्रा० १.  
२. ३. ) युक्तिगम्यच्चैतत् किं तेन स्वमतप्रतिपादनव्यग्रतया विस्मृत  
मिति विचारयन्तु धीमन्त एव ॥

अहो चित्र मिदम् ! “सप्तर्षिहस्तावचितावशेषानधोविवस्वान्”  
—इति कुमारसम्भवश्लोकोऽपि तेन स्वमतप्रमाणत्वेनोपन्यस्तः, तत्  
कि मद्ययुगीयस्य “अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो  
नाम नगाधिराजः”—इतिवादिनः कालिदासस्यापि सुमेरुस्थत्वं  
मन्तव्यम् ? तदिदं तदीय मष्टमं प्रमाण मस्मानतीव विस्मापयती-  
त्यत्र मौनावलम्बन मेव श्रेयः ॥

“दीर्घतमा मामतेयः”—इत्येतद्वगुक्तो ‘दीर्घतमाः’—इति सञ्ज्ञा-  
पद मपि स्वमतप्रमाण समानि तेन । तदिदं तदीयं नवमं

प्रमाणम् । तत्त्वतो वेदार्थमीमांसैकप्रयोजनस्य मीमांसादर्शनस्य मते दीर्घतमा इति हि प्रावाहणिरितिवत् कल्पितं नाम ;— यः खलु ममताप्रसूतः , स नूनं दीर्घतमास्तत्र कः सन्देहः । द्रष्टव्य-  
शेष सिद्धान्तो मी० द० १. १. २८-३२ सूत्रभाष्ये ॥

यदपि निर्णीतम्,— वैदिकमन्त्रेषु 'नवग्वा'—इतिपदस्वारस्यात् नवमासात्मको वर्षः, 'दशग्वा'—इतिपदस्वारस्याद् दशमात्मको वर्षश्च गम्यते ; तादृशवर्षो नास्मत्प्रदेशेष्विति नूनं सुमेरुप्रदेशीय एवैवं वर्षो वर्णित इति स्वीकार्यं मित्य मपि सिध्यति तस्यार्यादिवासभूत्व मिति । तदिदं दशमं प्रमाण मपि निर्वीज मेव । अत्र हि बह्व्यः पृच्छाः ममुत्थीयन्ते । तद्यथा— सुमेरुप्रदेशे किं मद्यापि नव-  
मासात्मकोऽब्दः प्रचलितो विद्यते ? उत दशमासात्मकः ? आद्यश्चेत् दशग्वशब्दस्य का गतिः ? द्वितीयश्चेदाद्यस्य का गतिः ? उभयविध एवाब्दस्तत्राद्यापि भवतीति चेत् , कथं तयोरेकत्र समावेशः ? यथास्मद्देशेष्वत्र भूभ्रमणजन्य मब्दपरिगणनं भवति तथा तत्र तत् किन्निबन्धनम् ? अस्मदब्द एव तेषां मेकदिनम् , तादृशकति-  
दिनात्मकः को मासः ? तादृशकतिमासात्मकश्चाब्दः ? तादृश-  
कत्यब्दस्थायि च तेषां जीवनम् ? श्रुतिसिद्धं शतायुश्च तेषां कथ-  
ङ्कार मुपपद्यत इति ।

इहापर मपि विवेच्य मस्ति,—यथा नवग्वा पदं नवमासात्मक-  
वर्षवाचकम् , दशग्वा पदं दशमासात्मकवर्षवाचकं चेति स मन्यते,  
तथैव शतग्विपदं किं शतमासात्मकवर्षवाचकं मन्तव्यम् ?  
श्रूयते तु शतग्विपद मपि । तद्यथा—

“शनैश्चिदन्तो अद्रिवोऽश्वावन्तः शतग्विनः ।

विवक्षणा अनेहसः”—इति ऋ० सं० ८. ४५. ११ ।

“आ न इन्द्रो शतग्विनम्”—इति च ऋ० सं० ८. ६७. ६ ।

वस्तुतस्त्वेवमादिषु स्वमतपोषकत्वदर्शनं तस्य नूनं पाण्डु-  
रोगिणां सर्वत्र पीतदर्शनं भिष्वेवेति मन्यामहे वयम् ॥

यच्च सिद्धान्तितं तेन,—वैदिकमन्त्रादिषु देवयानशब्दतः सूर्यस्य  
सुमेरुयानं मुत्तरायणं भवगम्यते, पितृयानशब्दतश्च सूर्यस्य कुमेरु-  
गमनं दक्षिणायनम् ; तथा च सुमेरुप्रदेशेषु देवयानेऽहः सम्पद्यते,  
पितृयाने च रात्रिरतो देवयानपितृयानशब्दान्वितमन्त्राणां तत्रैव  
रचना सम्पन्नेति तत्रार्यादिवासस्येदं मेकादशं प्रमाणं मिति । एतच्च  
सर्वं स्यात् प्रेक्षावतां परीक्षणासह मेव । तच्चैवम्,— मध्यभूभागे  
एव हि उत्तरायणदक्षिणायने परिदर्शनीये, उत्तरदक्षिणकेन्द्रभू-  
वासिनान्तु नैते समधिगम्ये ; तत् किमु देवयानपितृयानशब्दार्थतो  
दिवानिशेत्यादिसमुद्भावनादिविचारेणेति । यद्युच्येत इहत्या एव-  
र्षयो देवयानपितृयानशब्दान्वितमन्त्रद्रष्टारो बभूवुरिति स्वीका-  
र्येऽपि देवयानार्थस्तु सुमेरुगमनमार्गः, सुमेरोश्च देवस्थानत्वकथन-  
मार्थपूर्वपुरुषावासनिबन्धनगौरवसूचकं मिति, एतदप्यसङ्गतम् ;  
शतपथब्राह्मणादौ ( १४. ८. १. ) देवयानपितृयानशब्दयोरपर-  
विधार्थप्रतीतेः, सुमेरोर्देवस्थानत्वे स्वीकृतेऽपि तत्रास्मदादिपुरुषाणां  
वासस्य हेतूपलाभाभावाच्चेति स्वच्छधिया ध्यातव्यम् ।

वस्तुतस्तु ‘देवाः’ द्युस्थाः अश्विप्रभृतयो ‘यान्ति’ गच्छन्ति,  
येन मार्गेण, स एव भूमण्डलादिभ्रमणमार्गो देवयानाख्यः ; तथा  
‘देवाः’ द्युस्थाः रश्मयः पृथिव्यादौ गच्छन्ति, यैर्मार्गैस्तेषाञ्च  
सुतरां देवयानसञ्ज्ञा ; तैरेव मार्गैः पृथिव्यादिशनैश्चरान्तनिवा-  
सिनो विनिर्मुक्तस्थूलदेहा जीवा रश्मिभिराकृष्यमाणा द्युलोकं  
गच्छन्ति । तथैव पितृस्थानानां चन्द्रमण्डलादीनां भ्रमणमार्गं

एव पितृयानम्, अपि अन्तरिक्षस्थं यमनामवायुविशेषाधिकृतं चन्द्रलोक मपरं वा तत्सन्निहितं पितृलोकं त्यक्तस्यूलदेहा अर्चिरादिसहाया गच्छन्ति येन, स एव मार्गः पितृयानाख्यः । तिलकोदाहृतमन्त्राभ्याञ्चैव मेव बुद्धयते । तत्र प्रथम एषः—

“अतारिष तमसस्सार मस्य प्रति वां स्तोमो अश्विनावधायि ।

एह यातं पथिभिर्देवयानैर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्”—इति

ऋ० सं० १. १८३. ६ ।

अस्यार्थः— हे ‘अश्विनौ’ प्रातरुद्यमानप्रथमयुग्मदेवौ ! ‘देवयानैः पथिभिः’ द्युस्थैः स्वमार्गैः ‘इह’ पृथिव्याम् ‘आयातम्’ उदयताम् । तथा चेह युवयोरुदयात् ‘अस्य तमसः’ रात्रिजन्यान्धकारस्य ‘पारम्’ पर्यन्तम् ‘अतारिष’ उत्तीर्णाः स्मः । ‘वां प्रति’ ‘स्तोमः’ कृतज्ञतासूचकं स्तोत्रम् अस्माभिः ‘अधायि’ । ‘इषम्’ अन्नम्, ‘वृजनं’ मनोबलम्, ‘जीरदानुं’ जरान्तव्यापिनं सुदीर्घजीवनञ्च ‘विद्याम’ लभेम, वय मिति । एवञ्चाश्विनोरुदयकाले जाग्रतः स्तोत्रगानं कुर्वतोऽन्नादीनि अवश्यम्भावीनीति समर्थैर्जनैस्तथा कर्तव्य मित्युपदेशः फलितः ।

अथापरः ऋ० सं० १. २. १८ पूर्वार्द्धः—

“परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्”—इति ।

अस्यार्थः— हे ‘मृत्यो !’ ‘ते’ ‘देवयानात् इतरः यः स्वः’ पन्थाः, ‘तं’ ‘पन्थां’ पन्थानम् ‘अनु’-मृत्यु ‘परेहि’ इति । अत्र मृत्युर्माध्यमिको वायुविशेषः, आन्तरिक्ष्यो मार्ग एव पितृयानाख्यस्तस्य स्वकीयः । यथा भूस्थाना मग्निः राजा, द्युस्थानां सूर्यः, तथैव मध्यस्थानां पितॄणां मृत्युर्यमो वा राजेति । यायजूकानां स्वर्गगामिनां पितॄणा मर्चिरादिसाहाय्येन पितृयान मेव शरणम् ।



संहिताया मन्यत्रान्यत्र चैवं श्रुतम् । तद्यथा ऋ० १०.२.७--

“पन्था मनु प्र विद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि”

हे ‘अग्ने !’ ‘पितृयाणं विद्वान्’ त्वं ‘समिधानः’ सन् ‘द्युमत्’  
यथा स्यात् तथा ‘प्रविभाहि’ इति तत्सङ्केपार्थः । एतेनाग्निशिखानां  
पितृयानगामित्वम्, तदनु अनुष्ठितयागानां त्यक्तपार्थिवदेहा-  
नाञ्चेति ध्वनितम् ॥

श्रुतं हि तैत्तिरीयब्राह्मणे — “एकं वा एतद् देवाना महः  
यत् संवत्सरः”—इति ( ३.८. २२. २. ) । अप्येतन्मूलकं स्यादे-  
तन्मनुवचनम् ( १. ६७. )—

“दैवे रात्रग्रहणी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।

अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षिणायनम्”—इति ।

तदेवमादिवचनानि तूपपद्यन्ते सुमेरावेवेत्यतः स एव देवलोको  
मन्तव्यः । अत एव महाभारतीयवनपर्वणि—

“उद्दीचीं दीपयन्नेष दिशं तिष्ठति वीर्यवान् ।

महामेरुर्महाभागः शिवो ब्रह्मविदां गतिः”

—इत्यादिकथा च वर्णिता ( १६३अ० १२श्लो० ) ।

तानीमान्येव वचनान्यवलम्ब्य प्रथमं सुमेरोर्देवनिलयत्वं सर्वसम्मत  
मिति प्रमाणयितुं चेष्टितं तेन, ततस्तत्रार्यपितृपुरुषाणां वास  
आसीदित्यत एव देवनिलयत्वेन स मेरुर्वर्णित इति सिद्धान्तितं  
निराबाधमिवेति ।

अहो वत ! तस्यैष सिद्धान्तोऽपि दरिद्राणां मनोरथ  
इवैव प्रतिभात्यस्माकम् । न हि श्रुत्युक्तस्य देवाना मित्यस्य  
सुमेरुवासिना मित्यर्थावगतौ किञ्चिन्मान मस्ति ; अस्ति च  
ततोऽन्यत्र । मनुसंहितायान्तु अस्मत्संवत्सरकालमितं भवति देवाना

महर्षितुल्लिखित मिति तु सत्यम्, परं न तत्र सुमेरोगन्धोऽ  
 व्यस्तीत्यपि नासत्यम् । एवं महाभारतादौ सुमेरुवासिनां देवत्वं  
 वर्णित मिति च सत्यम्, पर मिहापि न तेषां देवानां मासत्त्व-  
 यनवत्सरमानान्यभिहितानीत्यपि नासत्यम् । ज्ञातव्यानि तु सुमेरु-  
 प्रदेशीयदेवशब्दवाच्यानां तानि च भवन्ति कथम्भूतानि ?  
 आयुःपरिमाणञ्च तेषां तदब्दमानतो भवति कीदृश मित्यपि ज्ञेय  
 मेव । अप्येवं “शतायुर्वै पुरुषः”—इत्यादिश्रुतिसिद्धं शतायुष्टं  
 तत्प्रदेशवासिनां तद्देशीयाब्दमानेनैव भवति चेत् कथं न तत्र  
 श्रुतिविरोधः सम्पद्यते ? वेदेषु हि यच्छ्रूयते मानवानां पूर्णायुः  
 शतवर्षाणीति तन्नून मस्मद्देशीयाहोरात्रमानत एवेति सर्व  
 मेवैतच्चिन्त्य मेव । किञ्च यथा सुमेरुप्रदेशेषु “दैवे रात्रग्रहनी  
 वर्षम्”—इति मनुवचनमुपपद्यते, तथैव कुमेरावपि किं नोपपद्यते  
 इत्यपि विचार्यम् । विचारितेषु चैतेषु सुमेरोराचार्यावासत्वनिर्णयाय  
 तेन प्रदर्शितं प्रमाणपारायणं कुतो न जलमध्यगतलवणक्षोदवद्  
 विलीयेतेत्यपि ध्येयम् ।

महाभारतादौ यद् वर्णितं सुमेरोर्देवलोकत्वम्, तत्त्वापेक्षिक  
 मिति चेह वर्णयिष्याम एवाष्टमे । वस्तुतो यथेह सौरजगति  
 भूलोकान्तरिक्षलोकद्युलोकविभागास्तथैवास्मच्छरीरैष्वपि मन्यन्ते  
 एव शरीरविद्भिरस्मद्देशीयैः । एव मग्निवायुसूर्यज्योतिषां प्रधानतो  
 भूरादीनि स्थानानीति स्वीकारकारिणोऽपि वय मिहैकत्र भुव्येव  
 किं तेषां विद्यमानतां न स्वीकुर्महे ? भुवि तेषां मस्तिवस्य कथा तु  
 दुरे आस्ताम्, भौमपदार्थेष्वस्मच्छरीरादिषु च सर्वत्रैव तेषां त्रयाणां  
 मेव देवानां सत्ता स्वीकुर्महे एव । तदेवं यथास्य सौरजगत  
 ऊर्ध्वभागे स्वर्गस्थितिः स्वीक्रियते, तथैवास्यां पृथिव्या मपि

वज्रादिदेशत ऊर्ध्वस्थाः काश्मीरादयो वज्रादिदेशीयानां स्वर्गाः, तत ऊर्ध्वस्थाः कैलास-गन्धमादन-रावणऋद-मानससरोवरादयः काश्मीरीयादीना मपि स्वर्गाः, ततोऽपि ऊर्ध्वस्थाः सुवीर्यादिप्रदेशाः शान्तपितृवर्गादयश्च रावणऋदादिवासिना मपि स्वर्गाः, तेभ्योऽप्यूर्ध्वतनः सुमेरुप्रदेशस्तु सर्वभूवासिनां स्वर्ग एवेत्यत्र कः संशयः । अपि हि पृथिव्या उत्तरकेन्द्रस्योपरिभागे ध्रुवस्य संस्थानदर्शनात् तत्केन्द्रभागस्योर्ध्वत्वम्, तत एव तस्योत्तर इति व्यप्रदेशश्चेति सिद्धान्तः सर्ववैदिकसम्मतः । अत एव महाभारते उदीच्यां देवनिलयो वर्णितः, अपाच्यां यमनिलयश्च, एव मन्यवान्यत्र च । तदित्यं सुमेरुप्रदेशस्य तस्य स्वीकृतेऽप्यापेक्षिकदेवनिकेतनत्वे न सिध्यति तत्राद्यार्यावास इति ध्रुवम् ॥

यदपि स्वमतपोषिकेत्युद्धृता मत्कृता सामटीप्पन्येका तेनायुषता, तदपि तथैव । पश्यतु तावत्,—अस्ति सामोत्तरामन्त्रः “समानो अध्वा स्वस्त्रोः”—इति ( सा० स० ८. ३. १४. ३.), श्रुतञ्चात्र ‘सुमेके’—इति पदम्; विवरणकृन्माधवाचार्येण तद्व्याख्यायां ‘संवत्सरे दक्षिणायने रात्रेर्वै वृद्धिः, उत्तरायणे त्वक्कः’—इत्यलेखि, मयैषैव पङ्क्तिस्तत्र स्वकीयटीप्पन्यां प्रकाशिता । सुमेरुप्रदेशवासिना मेव दक्षिणायने प्रसरति रात्रिः, उत्तरायणे च तथा दिन मिति तद्वर्णनपरैवैषा ऋगित्याह स श्रीमान् वालगङ्गाधरः । तत्त्वतस्त्वेतदार्यावर्त्तीययोरेवाहोरात्रमानयोर्वर्द्धनकालप्रकाशने एव तस्याः पङ्क्तेस्तात्पर्यम् ; दक्षिणायने हि वर्द्धत एवेह रात्रिमानम्, तथोत्तरायणे च दिवामान मिति । किञ्चात्रैव मन्त्रे यच्छ्रूयते ‘समानो अध्वा स्वस्त्रोः’—इति, भगिनीरूपयोः रात्रुप्रसोः सञ्चरमार्गं एक एव, येनाकाशमार्गेणोषा निर्गच्छति तेनैव रात्रिरपीति

तदर्थः । तदेव मिदं स्वप्नदृष्टाश्रुतपूर्वरत्नोद्धरणाय वेदावेस्तादि-  
जलधिप्लवमानस्याश्रयहीनस्य तस्य कुशकाशावलम्बनं सर्वथा  
निरर्थकं मेवेति किमु तत्रास्ति शोच्यमिति दिक् ॥

अथैवम् “अनु प्रलस्यौकसो हुवे ( १. ३०. ८. )”—इत्यादि-  
श्रुतिगम्य मार्याणां प्रलौकस्त्वं कतमस्य प्रदेशस्य स्यान्मन्त्रव्यमिति  
चेत्, अत्रोत्तरन्तु “स चार्यावासः पूर्वं तावत् हिमवत्पृष्ठस्य दक्षिण-  
भागे सुवास्तुप्रदेशे एवासीत्”—इत्यादिनोक्तं मिवैव द्रष्टव्यम् ( २२ पृ०  
१८ पं० ) । अपि “अनु प्रलस्यौकसो हुवे”—इत्युक्त्वावर्णमात्रेण किं  
सर्वेषां मेवार्याणां मादिवासोऽन्यत्र क्वचिदासीदित्यनुमानं स्यात्  
सङ्गतम्, किं सु स्यात् तन्मन्त्रद्रष्टुरेवेति च विवेच्यम् । अस्मा-  
भिस्तूक्तं पुरस्तात् ‘जङ्गवप्रदेशस्य पुराणौकस्त्वान्नानमिदं व्यक्तिगतं  
न तु सार्वजनीनमिति च वेदितव्यमिति ( २५ पृ० २३ पं० ) ।  
तथा चास्य मन्त्रस्य द्रष्टुः शुनःशेषस्यैव पूर्वावास आसीद् जाङ्गव्या  
मूले जङ्गूनाच्चाधिपत्ये ( ऐ० ब्रा० ७. ३. ६. ) जङ्गुमुन्याश्रम-  
कान्तारे ; तत एव हरिश्चन्द्रपुत्रो रोहितः तं क्रीत्वा सारस्वतप्रदेश  
मानीतवान् । तच्चाख्यानं मैतरेयके ७. ३. १—६ श्रुतम् ।  
जङ्गोस्तदाश्रमारण्यं त्वद्यापि जाङ्गवप्रदेश इति गङ्गाप्रभवे हिम-  
पत्पृष्ठे प्रसिद्धम् । तत एव जाङ्गवप्रदेशात् गङ्गायाः प्रकाशदर्श-  
नाद् गङ्गायाश्चापरं नाम जाङ्गवीति । तदित्यम् “अनु  
प्रलस्यौकसो हुवे”—इति श्रुतिः सिद्धान्तपक्षेऽपि सुसङ्गच्छत एव ।

अपिवा हिमवत्पृष्ठस्थौकोनामनदीतीरभूमय एव प्रलौकसः ;  
तत्र चासीत् केषाञ्चिदार्याणां पुरा वास इत्यपि सुवचमिति ॥

इदानीं सैषार्यावर्त्तभूमिः पश्चिमत उत्तरतश्च क्रमात् सङ्गुचिता  
दक्षिणस्याम्नायः पूर्ववदेव, पूर्वस्यान्तु बहुवृद्धिज्ञतेत्युत्कल-राट्-



गौड़-वङ्ग-नरक-प्रदेशा अप्यद्यार्यावर्त्तान्तर्गताः पुण्यभूमय एव  
गण्यन्ते ; अतोऽत्रत्यवाङ्माद्याश्चाद्य यूरोपादीनां स्तेच्छदेशत्वं मत्वा  
तत्र गन्तुं न हृदयेनोत्सहन्ते ! कालो हि बलवत्तर इति ॥

अथाद्य प्रसङ्गत इदं मध्यत्र वक्तव्य मस्ति,— वैदिककाल-  
विदितार्यावर्त्तीयार्यानायमात्राणां शिक्षणाद्याभ्युदयिकार्थं मेवैषा  
त्रयी विद्या प्रादुर्भूता, न त्वन्यदेशीयानाम् ; अत्रैतद्देशीयनगनगर-  
नदीग्रामसीममात्राणां वर्णनश्रुतेः । यदि हि सर्वदेशीयमानवानां  
हितार्थैवैषोपदिष्टा स्यात् , तर्हि नूनं मिह सर्वदेशीयभूधरादीनां  
मप्युल्लेखो दृश्येतेति । किञ्च यदि पार्थिवसर्वदेशार्थैवैषेति स्यान्मन्त-  
व्या, तर्हि मङ्गलादिसर्वग्रहोपग्रहस्थितजीवाद्यर्थताप्यस्याः किं न  
मन्तव्या ? अपि नाम, यथास्य सौरजगतो हितार्थताऽस्यास्त्रयी-  
विद्यायाः , किन्न तथा ऽपरेषा मपि अनन्तसौरजगता मिति  
च भवेद् ध्येयम् । अत इदं पुनर्ब्रूमः— वैदिककालिका-  
र्यावर्त्तप्रभववंशीया आर्या आपन्नार्यभावाच्च येऽस्मिन्नार्यावर्त्ते वा  
दाक्षिणात्ये वान्यत्रान्यत्र वा यत्र कुत्रचिदासते , तेषां मेव सर्वेषां  
मैहिकामुष्मिकाभ्युदयार्थैवैषा त्रयी विद्या, नान्यार्थेति । सूचित-  
ञ्चैतदिह ( १७ पृ० १७पं० ) पुरस्तादपीति सङ्क्षेपः ॥

अथ प्रकृतं मनुसरामः । एतस्मिन्नेवार्यावर्त्तेऽस्यैतरेयस्यासीद्  
वास इति स्वीकृतेऽपि, तदानीन्तनार्यावर्त्तस्वरूपेऽभिज्ञातेऽपि, कतम-  
स्मिन् प्रदेशे स उवासेति निर्णयोऽसम्भव इव प्रतिभात्यस्माकम् ;  
वक्ष्यमाणप्रकारेणास्य पाणिन्यास्कादिभ्योऽतिप्राचीनत्वनिर्णयात् ।  
एव मपि तत्र कृतेऽतियत्नेऽवगम्यते स्यादैरावतीतटसन्निहिते क्वचित्  
प्रदेशे इति । श्रुतं ह्यत्रैकत्र ऐरावतीपारदृष्टान्तः— “यथा सैरावती  
नावं पारकामाः समारोहेयुः”—इति ( ६, ४, ५, ) । इह ‘सा’ इति

द्वितीयैकवचनस्य सौ रूपम्, ता मित्यर्थः । सायणेन तु सैरावती  
मित्येकं पदं नाव मित्यस्य विशेषणं कृतम्, समुद्र मित्यध्याहृतञ्च ।  
तन्न रोचतेऽस्मभ्यम् ; अकृतेऽध्याहारेऽपि सम्पन्नेऽर्थेऽध्याहारस्या-  
नौचित्यात्, समुद्रस्यैवं सर्वदैव नावा तरणं सर्वदेशीयानां सर्वेषां  
मनुपलम्भाद् दृष्टान्तयोग्यत्वाभावाच्चेति । सैषा नदी संहिताकाले  
परुष्णोति प्रसिद्धासीत्, तदुक्तं निरुक्तकारेण “इमं मे गङ्गे”-इति  
मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे “इरावतीं परुष्णीत्याहुः”-इति ( ६. ३.  
५. ) । तदेव मत्रैवार्यावत्ते इरावत्या नद्याः सन्निधौ कस्मिंश्चि-  
ज्जनपदे स विरराज महिदास ऐतरेय इति सिद्धम् ॥

( ४ )

अथ कः कालोऽस्यैतरेयस्येति विचार्यम् । श्रूयते हि ऋक्संहि-  
तायां चतुर्दशर्चं सूक्तं मिदम्— “प्रैते वदन्तु प्र वयं वदामः”-इति  
( १०. ६४. १—१४. ) । तदिदं सर्वचरुनामजनपदे अर्बुदनामर्षिणा  
दृष्टम् । तदाहैतरेयः— “देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः, ते ह  
पाम्पानं नापजघ्निरे । तान् होवाचार्वुदः काद्रवेयः सर्पऋषि-  
मन्त्रकृत्”-इति ( ६. १. १. ) । तस्मिन् सर्वचरौ अर्बुदोदासर्पणी,  
नामैका प्रपदासीत् । प्रपद् = जलप्रपातो निर्भरो वा । ऐतरेय-  
कालेऽपि सा प्रपदासीत् प्रसिद्धा । तदुक्तं तदुत्तरम्— “तद्वाप्येत-  
र्ह्यर्बुदोदासर्पणी नाम प्रपदस्ति”-इति । सैषा प्रपत् यास्ककालात्  
पुरैवाभवद् विलुप्तेति गम्यते, अन्यथा तदानीन्तनं तन्नाम निरुच्येतैव  
तेन, यथा विपाशः । तथाहि— “आर्जीकीये शृणोह्या सुषोमया”

—इति ( ऋ० सं० १०. ७५. ६. ) ऋगंशव्याख्यावसरे निरुक्तं तेन—  
 “आर्जीकीयां विपाडित्याहुः ०—० पूर्व मासीदुरुञ्जिरा”—इति  
 ( निरु० ८. ३. ५. ) । तदेवम्, यास्कसमये या नदी विपाडिति  
 प्रसिद्धा, सैवासीत् तन्मन्त्रकाले आर्जीकीया, ततः पुरा उरु-  
 ञ्जिरेति च व्यक्तम् । एव मेकस्या एव नद्याः कालभेदात् त्रिधा  
 प्रसिद्धिर्दर्शिता ; नात्र तथा अर्बुदोदासर्पण्यास्तात्कालिकं नामा-  
 दिकं किमप्युक्तम् ; इतोऽवगम्यते ततः पुरैव सा विलुप्ता, विभिन्न-  
 नामहेतुतोऽपरिचेया वाभूदिति । तथा चाय मैतरेयो निरुक्त-  
 कृतोऽस्माद् यास्कात् पूर्वतनः । उपलभ्यते चेत् ऐतरेयतोऽपि  
 बह्वनि वचनान्युद्धृतानि यास्केनेति । तद्यथा— “यस्यै देवतायै  
 हविर्गृहीतं स्यात् तं मनसा ध्यायेत् वषट् करिष्यन्निति ह विज्ञा-  
 यते”—इति निरु० ८. ३. ७ ; एतत्त्वाम्नात मैतरेये ३. १. ८ ।

भगवता पाणिनिमुनिना यश्चाय मितराशब्दः शुभ्रादिगणे  
 पठितः ( ४. १. ११३. ), यतः सम्पद्यते इतराया अपत्यं पुमानैतरेय  
 इति ; गणकारश्च पाणिनिरेवेति ध्वनितं पूर्वापरावरेतिसूत्रभाष्ये ;  
 अतोऽवगम्यते अय मैतरेयः पाणिनितोऽपि पूर्वतन इति ।  
 अपि नडादिगणे ( पा० सू० ३. १. ६६. ) आश्वलायनशब्द-  
 मूलस्य अश्वलशब्दस्य पाठाच्चावगम्यते तदेव ; आश्वलायनाच्चायं  
 पूर्वतनइतिसिद्धान्तात् । सूत्रितञ्चेतत् “छन्दोगौक्थिकयाज्ञिक-  
 बह्वचनटाञ्ज् अगः”—इति ( पा० ४. ३. १३६. ) । अनेनैव  
 सूत्रेण छन्दोगानां धर्मं आम्नायो वेत्यर्थं सिध्यति छान्दोग्य मिति  
 पदम् ; तथा च छान्दोग्यात् परभवत्वं पाणिनेनूनं मन्तव्यम्,  
 श्रूयते च तत्र छान्दोग्ये “तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः”—इति  
 ( ५. १६. ७. ) । इतोऽप्यसन्दिग्धं मस्य पाणिनिपूर्वजत्वम् ।

कल्पकृदाश्वलायनोऽपि नून मेतस्मादैतरेयात् परतनः ; तत्र बहुत्र ऐतरेयनामस्मृतेः । तद्यथा — “अन्तरेण हविषी विष्णुमुपांश्चैतरेयिणः” — इति आश्व० श्रौ० सू० १. ३. १२. पुनः ३. ६. ३, १०. १. १३ इत्यादीनि च ।

पञ्चशाकलशाखाप्रवक्तृभ्यः शिशिराद्याश्वलायनान्तेभ्यः पञ्चम्य-  
शाय मैतरेयः पूर्वतनः ; इहोद्धृतमन्त्राणां तत्रादर्शनात् । तदिदं  
मनुपदं प्रतिपादयिष्यामः शाखाविचारप्रसङ्गे ।

एतेन यत् सिद्धान्तितं केनचित् पाश्चात्येन विदुषा — “इहैतरेये  
‘पारिक्षितस्य जनमेजयस्य’ — इति — ( ७. ५. १. ) — अवणात् स्यादयं  
मैतरेयो जनमेजयाच्च राज्ञः परभवः” — इति, तन्नून मपास्तम् ।  
वस्तुत एतन्नामश्रुतित एव अर्जुनपौत्रस्य पारिक्षिन्नाम बभूव, बभूव  
च तथा तत्पुत्रनाम जनमेजय इत्येव स्यात् सर्वसाममञ्जस्य मिति ।

अथ यदत्र श्रूयते ( ३. ४. ५. ) —

“तदेषाभियज्ञगाथा गीयते —

यदस्य पूर्वं मपरं तदस्य यदस्यापरं तदस्य पूर्वम् ।

अहेरिव सर्पेणं शाकलस्य न विजानन्ति यतरत् परस्तादिति”  
— इति । तदेतेनास्य शाकलाचार्यात् परभवत्वं स्पष्टम् । एष  
च शाकलः शकलस्यानन्तरापत्यं नूनम् ; गोत्रे तु “गर्गा-  
दिभ्यो यञ् ( पा० ४. १. १०५ )” — इत्येतेनैव भाव्यम्, तथाच  
सम्पद्यते शकलस्य गोत्रापत्यं पुमान् शाकल्य इति । मुद्रिते  
ऐतरेयारण्यकभाष्ये ( ३. २. १. ) यद् दृश्यते ‘शकलस्य पुत्रः  
शाकल्यः’ — इति, तत्स्यात् गोत्रविवक्षयैव ; अनन्तरापत्यविवक्षया  
यजोऽप्रवृत्तेः । अपि वा मुद्राशोधकप्रमादत एव तत्र तथा पाठः  
सम्पन्नः ; ‘शकलस्य पौत्रः’ — इति, ‘शाकलस्य पुत्रः’ — इति, ‘शाक-



लस्य गोत्रः’-इति वा स्यात् तत्रत्यपाठो विशुद्धः । ये तु शाकल्य-  
शिष्याः शिशिरादयः, ते चासन् शाकला एवोच्यमानाः ; छात्रेऽणि  
विवक्षिते “गोत्रे लुगचि”-इति ( पा० ४. १. ८६. ) गोत्रप्रत्ययस्य  
यञो लुगविधानाद् । परं नात्र यज्ञगाथायां तेषा मन्यतमस्य  
नामग्रहणं सम्भाव्यते ; कथं हि स्यादैतरेयतोऽतिप्राचीनगाथायाम्  
ऐतरेयोत्तरभवस्य शाकलस्य नामश्रवण मिति । तेषा मैतरेयपर-  
भवत्वं त्विहैवोपरिष्ठादुपपादयिष्यामः ।

“अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्”-इति ( ४. १. १६२. ) पाणि-  
न्युपदेशात् शकलस्य गोत्रापत्यत्वं तु शकलपौत्रस्य, शकलप्रपौत्रस्य,  
शकलाच्छततमाधिकपुरुषस्य च स्वीकार्यं मेव ; तदेवं शकलगोत्र  
इति विवक्षिताः सर्व एव पुरुषाः शाकल्य इत्याख्याता भवन्ति ।  
अत एव बहुक्प्रातिशाख्ये ‘शाकल्यस्य’-इत्येतन्मात्रोक्तिः प्रसि-  
द्धस्य पदकारस्यैव शाकल्यस्य बोधः स्यादिति क्वचित् ‘स्थविरस्य  
शाकल्यस्य’-इत्युक्तम् ( १अ० २प० ६व० ), क्वचित् ( १. ४. १. )  
‘शाकल्यपितुः’-इत्युक्तम् , क्वचिन्निर्विशेषणञ्च ‘व्याडिशकल्य-  
गार्ग्याः’-इति ( ३. १. ३. ) । तदत्र व्याडिशकल्यगार्ग्या इत्य-  
त्रातिप्रसिद्धस्य पदकारस्य शाकल्यस्य ग्रहणं भवति, शाकल्यपिते-  
त्युक्त्या चास्यैव ग्रहणं मिथ्यते, स्थविरविशेषणविशिष्टस्तु ततोऽपि  
प्राचीनः कश्चिद् बुध्यते । एवं यत् श्रूयते शतपथब्राह्मणे—“अथ  
हैनं विदग्धः शाकल्यः प्रपच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति”-इत्यादि  
( १४. ६. ८. १. ), सोऽयं याज्ञवल्क्यसमसामयिकः शाकल्योऽन्य  
एव । अद्यप्रचलितायाः शाकलान्यतमाया आश्वलायन्याः शाखायाः  
प्रवक्तुराश्वलायनस्याचार्यश्चाभवदपरः शाकल्यः । त इमे सर्व एव  
शाकल्याः प्रदर्शितगाथाम्नातशाकल्यात् परतनाः प्रतीयन्ते ।

तत्र स्थविरात् शाकल्यात्, विशेषणशून्यात् शाकल्याच्च नूनं  
मयं परभवः ; एतदारण्यके तदुभयोरेव नामश्रवणात् । तथाहि—  
“अथ शाकल्यस्य”—इत्यादि ३आ० १अ० २ख०, ततः “प्राणो वंश  
इति स्थविरः शाकल्यः ३आ० २अ० १ख०”—इति । किञ्चात्रैवार-  
ण्यके ( ३. १. ३. ) श्रूयते—“पृथिव्यायतनं निर्भुजम्, दिव्या-  
यतनं प्रहसम्, अन्तरिक्षायतनं मुभय मन्तरेण”—इति, ततस्तन्नि-  
र्भुजादिस्वरूपबोधनाय च श्रुतं मिदम्—“यद्धि सन्धिं विवर्त्तयति,  
तन्निर्भुजस्य रूपम्; अथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति, तत् प्रह-  
सस्य; अथ उ एवोभय मन्तरेणोभयं व्याप्तं भवति”—इति । ‘निर्भुज-  
शब्दः संहितावाची, प्रहसशब्दः पदवाची, उभयमन्तरेणेत्यनेन  
क्रमो विवक्ष्यते’—इति चाह तद्भाष्ये सायणः । तदेवं पदपाठप्रादु-  
र्भावात् क्रमपाठप्रादुर्भावाच्च परतनोऽयं मत्र कोऽस्ति संशयः ।  
पदकारस्त्वेकः शाकल्य एव । तथाहि “वने न वायो”—इति निगम-  
व्याख्यानावसरे निर्णीतं मिदं भगवता यास्केन—“वेति च य  
इति च चकार शाकल्यः”—इत्यादि ( ६. ५. ५. ) । क्रमप्रवक्ता  
त्वमवदुः ‘वाभ्रव्यः’ । तथाहि बह्वृक्प्रातिशाख्यम्—“इति प्र-  
वाभ्रव्य उवाच च क्रमम्”—इति ( २अ० ५प० ६व० २श्लो० ) ।

तदित्य मेष महिदास ऐतरेयोऽद्यप्रचलितशाखाप्रवक्तुः शाक-  
लाश्वलायनस्याचार्यात् शाकल्यात् प्राक्तनोऽपि पदसंहिताप्रवक्तुः  
शाकल्यात् परतनः; अपीह ( ७. २. ११. ) यदिदं श्रूयते—“पूर्वा  
पौर्णमासी मुपवसेदिति पैङ्ग्य मुत्तरा मिति कौषीतकम्”—इति,  
तदाभ्यां पैङ्ग्यकौषीतकाभ्यां मपि परभव इति च सिद्धम् ॥

( ५ )

अथेदानीं विचार्य मस्ति, कौटुशाख्यासन् तदानीन्तनाचार-  
व्यवहारविज्ञानानीति । तत्र प्रथमं तावत् तेषा माचारानालोच-  
यितुं प्रवृत्ता वयं बहूना माचारपार्थक्यानां मूलं जातिपार्थक्यं सुपल-  
भामहे, अतस्तज्जातिपार्थक्यं मेव प्रथमं समासतो वर्णयामः—

यथा गोत्वोद्भूतमनुष्यत्वादयो जातयो निसर्गजा इति आकृति-  
ग्रहणा भवन्ति, न तथा ब्राह्मणत्वादयः ; ब्राह्मणत्वादयस्तु सामा-  
जिकानाम् ऐहिकाभ्युदयिककार्यव्यवहारसौकर्याध्यात्माद्युन्नति-  
सिद्धार्थाः पूर्वं गुणकर्मानुसारतः पूर्वसामाजिकैः कल्पिताः । तदे-  
तदिहापि श्रुतम् — “देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्प-  
माना अनु मनुष्यविशः कल्पन्त इति”—इत्यादि १. २. ३. । तथा  
चाध्ययन मध्यापनं यजनं शंसनं स्तवनं मुद्रानं ब्रह्मण्यं मन्त्रणादानं  
सुपदेशदानादिकञ्चेति मुख्यानि मुखकर्माणि च येषां समाजेषू-  
पलभ्यन्ते, तेषा मेव ब्राह्मणजातिः कल्पिता । क्षत्रियादीनां  
मध्येवं बलादिप्रकाशकबाह्यादिभिरीपम्यं तत्तज्जातिकल्पनावीजम् ।  
तदेव श्रुतं मृक्मंहितायाम् १०. ६०. १२—

“ब्राह्मणोऽस्य मुख मासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत”—इति ।

एवञ्च प्राचीनतमजातिविभागाः अग्निविभागा एव गम्यन्ते । अतः  
एव देवतिर्यङ्मुद्गिच्छन्दःस्तोममन्त्राणां मपि सर्वेषां जाति-  
विभागाः समान्नाताः । तद्यथा देवानाम्—

“ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः”—इति तै० सं० २. २. ६. १ ।

एवमादिषु ब्रह्मशब्दार्थो ब्राह्मणः ; तथाहि—

“ब्रह्म हि ब्राह्मणः”—इति च श० ब्रा० ५. १. १. ११ ।

“अग्ने ! महा॑ असि ब्राह्मण ! भारत !”—इति तै० ब्रा० ३. ५. ३।

अन्यत्रान्यत्र च—“ब्रह्म ह्यग्निः”—इति श० ब्रा० १. ५. १. ११।

“ब्रह्म वै बृहस्पतिः”—इति श० ब्रा० ३. ८. १. ११।

“तच्छ्रेयोरूप मत्सृजत क्षत्रं, यान्येतानि देवता क्षत्राणि ; इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति०—० स विश मसृजत, यान्येतानि देवजातानि गणंश्च आख्यायन्ते ; वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति०—० स शौद्रं वर्णं मसृजत पूषणम्”—इति श० ब्रा० १४. ४. २. २३, २४, २५।

तिरश्चां जातिविभागो यथा—

“ब्रह्म वा अजः”, “क्षत्रं वा अश्वः”, “वैश्यश्च शूद्रश्चानु रासभः”

—इत्यादि श० ब्रा० ६. ४. ४. १२—१५।

उद्भिदां जातिविभागो यथा—

“ब्रह्म वै पलाशः”—इति श० ब्रा० १. १. १. ४।

“क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दुर्वा ; क्षत्रं राजन्यः” ऐ० ८. २. ४।

स्तोममन्त्राणां जातिविभागो यथा—

“ब्रह्म वै स्तोमानां त्रिवृत्, क्षत्रं पञ्चदशः,०—०

विशः सप्तदशः, शौद्रो वर्ण एकविंशः”—इति ऐ० ८. १. ४।

त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशैकविंशाः सामवेदीयस्तोममन्त्राः।

छन्दसां जातिविभागो यथा—

“गायत्र्यच्छन्दसा (ब्राह्मणः)”, “त्रिष्टुभ्यच्छन्दसा (क्षत्रियः)”

—इत्यादिग्रन्थो द्रष्टव्यः ऐ० ७. ४. ५, ६।

तैत्तिरीयसंहितायान्वेकैव स्तोमदेवताच्छन्दस्साममनुष्य-

पशूनां श्रेणीविभाग आम्नातो द्रष्टव्यः ( ७. १. ६-८. )। तथाच

त्रिवृत्स्तोम-अग्निदेव-गायत्रीच्छन्दो-रथन्तरसाम-ब्राह्मणमनुष्य-क्लाग-



पशूनां मुख्यत्वेनैकश्रेणीत्वम् , पञ्चदशस्तोम-इन्द्रदेव-त्रिष्टुप्छन्दो-  
बृहत्साम-राजन्यमनुष्य-मेषपशूनां बलवत्त्वेनैकश्रेणीत्वम् , सप्तदश-  
स्तोम-विश्वदेवदेव-जगतीच्छन्दो-वैरूपसाम-वैश्यमनुष्य-गोपशूनां बहु-  
त्वेनान्नसाधकत्वेन चैकश्रेणीत्वम् , एकविंशस्तोम-अनुष्टुप्छन्दो  
वैराजसाम-शूद्रमनुष्य-वाजिपशूनां पादोपजीवित्वेनैकश्रेणीत्वञ्चेति  
सुव्यक्तम् । एषु च स्तोमच्छन्दस्साम्नां पादोपजीवित्वं त्वक्षरसङ्ख्या-  
नुगतत्वाद् बोध्य मिति ।

तदेवं यद्यपि गुणकर्मानुसारतो ब्राह्मणाद्या जातयः कल्पिता  
इति स्पष्टम् , तथापि पशून्निजमनुष्येषु सम्प्रति ता जन्मानु-  
सारिण्य एव मन्यमाना भवन्ति । यथा मिष्टाम्रवीजतो मिष्टा-  
म्राणा मेव फलनं प्रायो नैसर्गिकम् , तथैव ब्राह्मणवीर्यादि-  
जातानां ब्राह्मणादित्वं मवश्यभावीत्येव तत्र हेतुः । एव मपि यथा  
क्षेत्रादिदोषतो वस्तुगुणान्यथाभावोऽपि दृश्यते, तथैव ब्राह्मणाद्यौ-  
रसजाता अप्यब्राह्मणादयो भवन्तीत्यपि नादृष्टचरम् । अत एव  
“जातो नार्या मनार्यायाम्”—इत्याद्यपि स्मृतं मन्वादिभिः , इह  
चोद्धृतं तत् पुरस्तात् ( १७ पृ० ८ पं० ) ।

अथ तेषां ब्राह्मणादिचतुर्वर्णानां स्वभावादय इहैतरेये यथा  
वर्णितास्ते चेह क्रमात् प्रदर्श्यन्ते । तत्र स्वभावाः—

ब्राह्मणानाम्— आदायित्वम् , आपायित्वम् , अवसायित्वम् ,  
यथाकामप्रयाप्यत्वञ्चेति चत्वारो धर्मा विशेषतो लक्षिताः ।  
‘आदायी’ आदानं ग्रहणम् , प्रतिग्रहादिना जीविकादीना मादान-  
कारी । ‘आपायी’ अपायस्त्यागः , दानादिना धनादीनां त्याग-  
कारी । ‘अवभायी’ अवसायः सिद्धान्तः , विद्याबलेन सर्वतत्त्वानां  
निश्चयकारी । ‘यथाकामप्रयाप्यः’ प्रयाणं युद्धाय प्रस्थानम् , तत्र

राजादिभिः सेनानायकत्वादिना प्रेर्यः 'प्रयाप्यः', काम मनतिक्रम्य यथाकामम्, स्वकामनानुरूप मिति यावत् ; तदेवं राज्यरक्षणा-  
द्यर्थं युद्धाय प्रयाण मिच्छेच्चेत् राज्ञा प्रेषणीयो 'यथाकामप्रयाप्यः' ।  
तदेतदिह ७. ५. ३ द्रष्टव्यम् । क्षत्रियाणान्तु— बलप्रतिष्ठा, आश्रित-  
रक्षणम्, सर्वोपकारित्वम्, तेजस्विन्त्वम्, यशस्वित्वञ्चासीद्  
वर्षनीयम् । वैश्यानां खलु— अन्यस्य वलिकृत्वम्, अन्यस्य  
आद्यत्वम्, यथाकामजेयत्वञ्चेति त्रीणि लिङ्गानि । शूद्राणां  
हि— अन्यस्य प्रेष्यत्वम्, कामोत्थाप्यत्वम्, यथाकामवध्यत्वञ्चेति  
च वर्णितं तत्रैव ( ७. ५. ५, ६. ) । अथ भक्ष्याः—

ब्राह्मणानां बलकरो भक्ष्यः सोमो निर्णीतः, क्षत्रियाणां  
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षफलानि बलहेतुभक्ष्याणि निर्णीतानि, तथा  
वैश्यानां दध्येवैकं बलकरं भक्ष्यं सूचितम्, शूद्राणां त्वाप एव  
भक्षिताः सम्यग् बलकरा भवन्तीति च तत्र ७. ५. ३—६ ।  
अपर मपि—“एता वै प्रजा हुतादा यद् ब्राह्मणा अथैता अहु-  
तादा यद्राजन्यो वैश्यः शूद्र इति”—इति ७. ४. १ । अथायुधानि—

“एतानि वै ब्राह्मणस्यायुधानि यद्वज्रायुधानि ; अथैतानि  
क्षत्रस्यायुधानि— यदश्वो रथः कवच इषु धन्व”—इति च तत्रैव ।  
तानि च यज्ञायुधान्यन्यत्र परिगणितानि—“स्फुरश्च कपालानि  
च, अग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च, कृष्णाजिनं च, शम्या च, उलूखलं  
च मुशलं च, दृषच्चोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानि”—इति तै०  
सं० १. ६. ८. २, ३ । तदानीं मासीदपि क्षत्रियतोऽपि भूयस्त्वं  
ब्राह्मणानाम् । तद्यथा— “भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्रियादिति”—  
इति ७. ३. ३. ।

शूद्राणां ब्राह्मणपङ्क्त्यावुपवेशनमप्यासीद्दोषावहम् । तथाहि

“दास्याः पुत्रः कितवो ऽब्राह्मणः कथं नो मध्येऽदीक्षितेति”  
 -इत्यादि ( २. ३. १. ) समालोच्यम् । यज्ञकार्येषु गोदोहना-  
 दिष्वपि तेषां निषिद्धोऽधिकारः, तथा च तैत्तिरीयकम्— “शूद्र  
 एव न दुह्यात्, असतो वा एष सम्भूतो यच्छूद्रः । अहविरेव  
 तदित्याहुयच्छूद्रो दोग्धीति”—इति ( ब्रा० १. २. ३. ) । अत एव  
 तेषां मयज्ञियत्वम् । यज्ञे दीक्षितस्य देवभाव मापन्नस्य यज-  
 मानस्य तैश्चायज्ञियैः सह वाक्यालापोऽपि निषिद्धः शतपथादौ—  
 “स वै न सर्वेणैव संवदेत ; देवान् वा एष उपावर्त्तते यो दीक्षते  
 स देवताना मेको भवति ; न वै देवाः सर्वेणैव संवदन्ते,—  
 ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा ( संवदन्ते ) ; ते हि  
 यज्ञियाः”—इत्यादिना ( ३. १. १. १०. ) । मूर्खानां सामीप्यमप्या  
 सीक्षदानीं क्लेशयेत्याम्नातम्— “तेभ्यो वै देवा अपैवावीभत्सन्त  
 मनुष्यगन्धात्”—इति ३. ३. ६. । अत्र देवा इति सत्यवादित्वा-  
 दिनाप्तदेवत्वानां विदुषा भार्याणां ग्रहण मिष्टम्, मनुष्यशब्देन  
 चानृतभाषणादिमनुष्यधर्मेवतां मूर्खाणां शूद्राणां मित्येव । तदिदं  
 शूद्राणां मयज्ञियत्वम्, मूर्खाणां सामीप्यायोग्यत्वञ्चातिमूर्खत्वक-  
 चरत्वकदाचारत्वकदाकारत्वादिनिबन्धन मेव ; नान्यथा तान् प्रति  
 कृत-दुर्व्यवहारस्य प्रायश्चित्तशासनं विहितं श्रूयेत । तच्च यथा  
 य० वा० सं० २०. १७. १—

यच्छूद्रे यदये यदेनश्चक्षमा वयं

यदेकस्याधिधर्मणि तस्यावयजन मसि”—इति ।

शूद्राणां मुन्नत्यर्थं यथायोग्यज्ञानोपदेशविधिश्च विहितः संहिता-  
 याम्, प्रदर्शितञ्चेह पुरस्तात् ( १७ पृ० )—

“यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः ।

‘ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय’—इति ।

चतुर्णां मेव वर्णानां हितप्रार्थने साम्यञ्च श्रुतं बहुत्र । तद्यथा  
तत्रैव यजुस्संहितायाम् १८. ४८. १—

“रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नस्कृधि ।

रुचं विश्वेषु शूद्रेषु, मयि धेहि रुचारुचम्”—इति ।

आथर्वणिका अप्यामनन्त्येव मेव १८. ७. ८—

“प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु ।

प्रियं सर्वस्य पश्यत, उत शूद्र उताय्ये”—इति ।

चतुर्णां वर्णानां माह्वानप्रयोगपार्थक्यं मपि श्रुतं मन्यत्र—

“तानि वा एतानि चत्वारि वाचः,— एहीति ब्राह्मणस्य,  
आगच्छाद्रवेति वैश्यस्य राजन्यबन्धोश्च, आधावेति शूद्रस्य”—इति  
श० ब्रा० १. १. ४. १२ ।

अन्योन्यकरग्रहणेनान्योन्यकुशलजिज्ञासारूपः सम्मर्शननामशिष्टा-  
चारश्चासीत् तदापीति च तत्रैव । तथाहि (३. ५. ४. १६, १७)—

“अथाध्वर्युश्च यजमानश्च सम्मृशेते । पूर्वयोर्दक्षिणे ऽध्वर्यु-  
र्भवत्यपरयोरुत्तरे यजमानः, सोऽध्वर्युः पृच्छति यजमानं किं मत्वेति  
भद्रं मित्याह, तन्नो सहेत्यपांश्चध्वर्युः । अथापरयोर्दक्षिणे  
ऽध्वर्युर्भवति पूर्वयोरुत्तरे यजमानः, स यजमानः पृच्छत्यध्वर्यो  
किं मत्वेति भद्रं मित्याह, तन्म इति यजमानस्तद्यदेव ऽसम्मृशेते  
प्राणानेवैतत् सयुजः कुरुतस्तस्मादिमे प्राणाः परः संविद्रेऽथ यत्पृष्टो  
भद्रं मिति प्रत्याह कल्याणं मेवैतन्मानुष्यैर्वाचो व्वदति तस्मात् पृष्टो  
भद्रं मिति प्रत्याह”—इति । अद्यतनेङ्गलण्डीयादीनां मस्त्येवं सम्म-  
र्शनम्, परं तेषान्वेककरग्रहणप्रथैव दृश्यते, अस्माकन्तु करद्वरग्रहणं  
मित्येव विशेषः । अतएवैवं निरुक्तम्— “प्रगृह्य पाणी देवान् पूज-



यन्ति”—इति (१२. ७. ४. ) । “विद्वांसो सै देवाः”—इति त्वसक्कदिह वक्तव्यो वैदिकसिद्धान्तः ; तेषां दर्शनमात्रतः स्वपाणिद्वयेन तत्पाणि-  
द्वयस्य ग्रहणं मेव प्रथमं पूजनम्, सम्मर्शनं नाम सत्कार इति तदर्थः ।

प्रत्युत्थानशिष्टाचारश्चासीत् तदानीम् । तथाहि— “प्रति वै  
श्रेयांस मायन्त मुत्तिष्ठन्ति”—इति ( २. ३. २. ) । ‘श्रेयांस  
मतिप्रशस्त माचार्यपित्रादिक मायन्तं स्वसम्मुखत्वेन समागच्छन्तं  
प्रति शिष्यपुत्रादय उत्तिष्ठन्त्येव’—इति तत्र सायणः । मनुसंहि-  
ताया मेत देव स्मृतम्— “शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्”  
—इत्यादि ( २. ११६, १२०. ) ।

न केवलं प्रत्युत्थानं किन्तु अनुवर्त्तनं मपि विहितम् ।  
तथाहि— “अनु वै श्रेयांस पर्यावर्त्तन्ते”—इति ( २. ३. २. ) ।  
‘श्रेयांस माचार्यादिक मनुगम्य शिष्यादयः परितः सञ्चरन्ति’—  
इति तत्र सायणः ।

वाग्व्यवहारविषयेऽप्यासन्निह बहव उपदेशाः । तद्यथा—“वाक्  
तु सरस्वती” ( ३. १. १. ), “वाग्धि सरस्वती” ( ३. १. २. ),  
“वाग्वै सरस्वती” ( ३. ३. १३. ), “वाचो वाव तौ स्तनौ, सत्यानृते  
वाव ते” ( ४. १. १. ), “कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुम्,  
सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः” ( १. १. ६. ),  
“विदुषा सत्यमेव वदितव्यम्” ( ५. २. ६. ), “एतद् वै मनुष्येषु  
सत्यं निहितं यच्चक्षुः, तस्मादाचक्षाण माहुरद्रागिति, स यद्यदर्श  
मित्याहायास्य अदधाति ; यद्यु वै स्वयं पश्यति न बहूनाञ्च नान्येषां  
अदधाति ” ( १. १. ६. ), “अवत्येनं सत्यं नैन मनृतं हिनस्ति”  
( ४. १. १. ), “विचक्षणवतीं वाचं वदेत्” ( १. १. ६. ), “असूर्या  
ह वा इतरा गिरः” ( ३. ५. ५. ), “मनसा वा इषिता वाग

वदति, यां ह्यन्यमना वाचं वदति असुर्या वै सा वागदेवजुष्टा ( २. १. ५ ; ४. ५. ), “यां वै दृप्तो वदति, या मुन्मत्तः, सा वै राक्षसी वाक्” ( २. १. ७. ) । अबच्छेदकावच्छिन्नव्यवच्छिन्नासम्बद्ध-

सम्बन्धसम्बद्धान्यायभाषापीदानीन्तनन्यायभाषेतिविदेहवङ्गप्रसिद्धा ननु का भाषा, वानरी वा राक्षसी वा, यावनिकी वा ? इत्यप्यत्र स्याच्चिन्तनीयम् ; अपौरुषेयवैदिकग्रन्थेषु, अतिप्राचीनसूत्रस्मृति-न्यायमीमांसावेदान्तादिषु, अनतिप्राचीनेतिहासपुराणतन्त्रवैद्यक-ज्योतिषसङ्गीतकाव्यादिषु वा क्वचिदपि तथाविधवाग्जालाच्छन्नो-च्छन्नहेतुनिवेशप्रवेशाप्रतीतिः “वाक् च मनश्च वर्त्तन्थौ ; वाचा च हि मनसाच यज्ञो वर्त्तने ; इयं वै वागदी मनः” ( ५. ५. ८. ), “अद्वा पत्नी, सत्यं यजमानः, अद्वा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम् ; अद्वाया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लोकान् जयति” ( ७. २. ६. ), “पापस्य वा इमे कर्मणः कर्त्तार आसते ऽपूतायै वाचो वदितारो यच्छापर्णा इमापुत्यापतेमे मेऽन्तर्वेदि मासिषतेति” ( ५. १. १. ), “सोऽब्रवीत् तदहं तुभ्य भव ददामि य एव सत्य मवादीरिति ; तस्मादेवं विदुषा सत्य मेव वदितव्यम्”—इति ( ५. २. ६. ) च ।

विवाहबन्धन मपि तेषा मासीद्वितकरत्वेनाभिप्रेतम् । अत एवैवं श्रूयते—“नापुत्रस्य लोकोऽस्ति”—इति, “ऋण मस्मिन्सन्न-यत्यमृतत्वञ्च गच्छति । पिता, पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्”—इति च ७. ३. १ । पिता एव पत्नीगर्भं प्रविश्य पुत्र-रूपेण पुनः प्रकाश मापद्यत इति च तत्रैव । तथाहि—“पति र्जायां प्रविशति गर्भी भूत्वा स मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते”—इति । तदेव मुत्पादिते पुत्रे वंशपरम्परया अमृतत्व मेव स्वस्यापादितं भवतीति तेषा मभिप्रायः ।

तत्र क्षत्रियाणां वैश्यशूद्रस्वभावपुत्रनिन्दायास्तु का कथा,  
ब्राह्मणस्वभावपुत्रोऽप्यासीदनीप्सितः । तथाहि—“ब्राह्मणकल्पस्ते  
प्रजाया मा जनिष्यत”—इत्यादि ( ७. ३. ) द्रष्टव्यम् । वैश्य-  
शूद्रस्वभावपुत्रानीप्सापि तत्रैवान्नाता ।

तदानीं मेकस्यां तदधिकायां वा जायायां जीविताया मपि  
जायान्तरग्रहणं नासीद् दोषावहम्, ततश्च जीवत्पत्नीकस्यापि  
पुंसः क्रमाद् युगपद्वा बहुविवाहो नैवासीदसामाजिकः । तदुक्तं  
मिह—“यदि ह वा अपि बह्व्य इव जायाः पतिर्वाव तासां मिथु-  
नम्”—इति ( ३. ५. ३. ) । इतोऽपि व्यक्तं मान्नातम्—“एकस्य  
बह्व्यो जाया भवन्ति”—इति ( ३. २. १२. ) । अपि नासीच्च  
तदानीं मपि जीवत्पतिकायाः स्त्रियाः पत्यन्तरग्रहणाचारः ।  
तदप्युक्तं तत्र उत्तरम्—“नैकस्यै बहवः सह पतयः”—इति । अत्र  
सहशब्दं श्रुतेर्मृतपतिकायाः त्यक्तपतिकाया वा पत्यन्तरग्रहणं न तदा-  
नीन्तनाचारविरुद्धं मित्यपि गम्यत एव । किन्तु तथाविधविधवा-  
वेदनन्त्वासीन्नीचजातिष्वेव प्रचलितं मिति च पुराणेतिहासा-  
द्याख्यानतोऽवगम्यते, तत्त्वितदानीं मपि वर्त्तत एवेत्यस्माकम् ।  
स्वयम्बरसभायां समागतेषु कन्यापाणिग्रहणार्थिषु प्रणजयकारिणे  
कन्यादानप्रथाप्यासीत्तदापि । तदाह—“प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे  
दुहितरं प्रायच्छत् सूर्या सावित्रीम् ; तस्यै सर्वे देवा वरा आगच्छं  
स्तस्या एतत् सहस्रं वहतु मन्वाकरोद्, तदेतदाश्विन मित्याचक्षते  
—इति ( ४. २. १. ) । तदानीन्तनस्त्रीणां मप्यासीदसाधारण-  
पाण्डित्यम् । तदग्निहोत्रकालनिर्णायिकाख्यायिकायाम्—“कुमारी  
गन्धर्वगृहीता वक्ता स्मः”—इत्यादि ( ५. ५. ४. ) ।

तदानीं मपि सुषा श्वशुराल्लज्जते स्मैवार्याणाम् । तथाहि—

“सुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैति”—इति ( ३. २. ११. ।  
अपि तदाप्यार्याणां सोदर्याणां मपि भगिनीनां भ्रातृजायानुगतत्वं  
मेवासीत् । तच्चाम्नात मिह यथा—“समानोदर्या स्वसा ऽन्योदर्यायै  
जायाया अनुजीविनी जीवति”—इति ( ३. ३. १३. ) । तदेवं  
सोदर्याया अपि स्वसुरनात्मीयत्वं मन्यकुलतो लब्धाया अपि जायाया  
आत्मीयत्वं पारम्पर्यागतमेवेति स्यात् स्वीकार्यम् ।

अत्राग्निहोत्रस्य त्वतिकर्त्तव्यतया अयत्नीकस्यापि तत्कर्त्तव्यता  
प्रतिपादिता । तथाच— “तदाहुर्वाचापत्नीको ऽग्निहोत्रम्”—  
इत्यादि ( ७. २. ६. ) । तस्य ह्यग्निहोत्रस्य दृष्टं मद्दृष्टञ्च फलं  
तैरधिगतम् ; अत एव तैर्नित्याग्निहोत्रिभिः सद्भिः सदैव स्वस्व-  
गृहेषु अग्निरक्षणं कर्त्तव्यमिति सिद्धान्तितम् । तदिदं श्रूयते  
— “मनुषो दुरोणे”—इति ( ऋ० सं० १०. १११. १. ),  
व्याख्यातञ्चेतद् यास्केन ‘मनुष्यस्य मनुष्यस्य गृहे ( ८. २. २. )’  
—इति । हिमानीवासिनां तेषां प्राचीनार्याणां हिमपातक्लेशनिवा-  
रणाय स्वस्वगृहेष्वग्निरक्षणं नूनं मासीत् सुखाहम् ; श्रुतं ह्येवम्  
—“अग्निर्हिमस्य भेषजम्”—इति ( वा० सं० २३. १०. ) । तत्र चाग्नौ  
विवधसुगन्धादिद्रव्यदानविधानञ्च श्रुतमस्ति । तद्यथा—“कुलाप  
मिव ह्येतद् यज्ञे क्रियते यत् पैतुदारवाः परिधयो गुग्गुलूर्णासुकाः  
सुगन्धितेजनानीति”—इति ( १. ५. २. ) । तैत्तिरीये त्वत्र  
आख्यायिकाख्यानमपि सं० ६. २. ८ द्रष्टव्यम् । तैः सुगन्धादिभिः  
गृहजातवायुदोषोऽपिप्रशमितो भवतीति च दृष्टम् । यदग्नौ आज्या-  
शिरपयःपयस्यासान्नाव्यचरुपुरोडाशसोमाद्याहुतयः प्रदीयन्ते ततस्त-  
द्वाप्यप्रसूता वृष्टिधारास्तत्तद्गुणयुक्ता भवन्त्येवेति तज्जातीषध्यादीनां  
भक्षणतः खल्वाज्यादिसाराहार एव सम्पद्यतेऽस्माकमिति च दृष्टं



मेव । अदृष्टं तु स्वर्गादि, श्रुतिमानगम्यम् । तदेवं दृष्टादृष्टफल सि-  
द्ध्यर्थं मेवासीत् तेषां नित्याग्निहोत्रानुष्ठान मिति प्रतीयते स्फुटम् ।

अग्निहोत्रानुष्ठानाय प्रातःस्नानस्य कर्त्तव्यता चात्र सूचिता ।  
तथाहि—“य आहिताग्निर्यदि प्रातरस्नातोऽग्निहोत्रं जुहुयात्,  
का तत्र प्रायश्चित्तिरिति”—इत्यादि ७. २. ८ । तत्रैव आग्रयणे-  
नानिष्ठा नवान्नप्राशने, पाकपात्रे नष्टे, पवित्रनाशे, हिरण्येऽनुद्दिष्टे  
अपहृते च जीवत्यपि, कस्मिंश्चिदात्मीये स मृत इति श्रुते, जायायाः  
स्व-गोर्वा यमसन्तानजननेऽपि प्रायश्चित्तं विहितम् । तथा तत्रैव  
सूतकान्नप्राशनकारिणा मपि प्रायश्चित्तं विहितम् । यथा  
विहितहोमादिरूपप्रायश्चित्तत एषु तथाविधपापानां भवति सङ्ख्य  
इति च तत्र तत्र सुव्यक्तम् । अग्निहोत्राद्यनुष्ठानाय ततः प्राक् स्नानं  
न विहितम्, न पुनः किञ्चिद् भोजनं तु निषिद्धम् ; प्रत्युत किञ्चिद्  
भुक्तैव कर्माणि कुर्वीतेत्येवेहान्यत्र ध्वनितम् । तथाहि—“घृतं  
प्राश्य शंसेद् यथा ह वा इद मनो वा रथो वाक्तो वर्त्तत एवं  
हैवाक्तो वर्त्तते”—इति ४. २. १ ।

मृतस्य शरीरालाभे पर्णशरीरदाहोऽप्यासीत्तदानीं मपि अव-  
स्थितः । तदाह—“यदि शरीराणि न विद्येरन्, पर्णशरः  
षष्टिस्त्रीणि च शतान्याहृत्य तेषां पुरुषरूपक मिव कृत्वा तस्मिंस्ता  
मावृतं कुर्युः । अथैनाञ्जरीरैराहृतैः संस्पृश्याद्वासयेयुः ; अर्ध-  
शतं काये, सक्थिनी द्विपञ्चाशे च विंशे, चोरु द्विपञ्चाशे, शेषन्तु  
शिरस्युपरि दध्यात्”—इति ७. २. १ ।

तदानीन्तनार्याणां देवपितृमानुषार्चनपरताप्यासीत्, तदभावे  
‘अनङ्गापुरुषः’—इति निन्दाभाजनत्वं तेषां मवश्यभाव्येवेति । तदाह-  
“कोऽनङ्गापुरुषः ? इति, न देवान्, पितॄन्, न मनुष्यान्”—इति

( ७. २. ८. ) । अत्रार्चतीति पदन्तु शेषयितव्यम् । स्फुट मेतच्छत-  
पथे—“एष ह वा अनङ्गापुरुषो यो न देवानर्चति, न पितॄन्,  
न मनुष्यान्”—इति ( ६. ३. १. १४. ) । ‘अङ्गा’—इति सत्यनाम  
( निघ० ३. १०. ४. ), अनङ्गा—असत्यः, तथाचानङ्गापुरुषोऽसत्य-  
पुरुषः । एवं हि यः पुरुषो देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च नार्चति, अजा  
गलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम्—इति भावः । तदेवं देवाद्यर्चन-  
विहीनस्य निन्दावादः सम्पन्नः । तदत्र समासतो देवादीनेव  
पूर्वं निरूपयामः ।—

देवाः । निघण्टौ व्युत्थानभाजनेषु ‘देवाः’—इति षड्विंशं  
पदम् । ततो गम्यते व्युलोक एव प्रधानतस्तेषां स्थानम् । ‘देवाः  
रश्मय उच्यन्ते’—इति तद्भाष्ये देवराजः । महामुनियास्केनापि  
निरुक्ते देवा इत्यस्यैष एवार्थ उल्लिखितः—“रश्मयोऽत्र देवा  
उच्यन्ते”—इति ( १३. १. १२. ) । यास्कप्रदर्शित मुदाहरण मेव च  
देवराजेन प्रदर्शितम्—“देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम् ( ऋ०  
सं० १. ८६. २. )”—इति, निघ० ५. ६. २६ । निरु० १२. ४. ५;  
१३. १. ११ द्रष्टव्यम् । पार्थिवस्याग्नेर्माध्यमिकस्य च विद्युतोऽपि  
रश्मिजन्यत्वेन, उत्तमाग्नेः सूर्यस्य तु रश्मिजनकत्वेन जन्यजनकयो-  
रभेदात् रश्मिभिन्नत्वम् । किञ्चास्त्येषां प्रथममध्यमोत्तमानां त्रयाणां  
मेवाग्नीनां रश्मिवत्त्वम् ; “त्रयः केशिनः”—इत्यस्य व्याख्याने  
सुव्यक्तं मुक्तञ्चैतद् यास्केन—“केशा रश्मयः, तैस्तद्वान् भवति०—०  
आदित्य माह, अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते, धूमेनाग्नी  
रजसा च मध्यमः”—इति ( निरु० १२. ३. ६, ७, ८. ) । एषा  
मेव त्रयाणां भक्तिसाहचर्यादितो बहवो देवा अर्च्यन्ते । तदपि  
व्यक्तं मुक्तं यास्काचार्येण—“तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः०—०

तासां महाभाष्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति”  
—इत्यादि ७. २. १ ; ३. १० ! “यो देवः सा देवता”—इति च  
निरु० ७, ४. २ । विवरिष्यामश्चैतदिहैवोपान्त्यप्रकरणे ।

पितरः । निघण्टौ अन्तरिक्षस्थानभाजनेषु ‘पितरः’—इति  
द्वादशं पदम् । ततो गम्यते अन्तरिक्षलोक एव प्रधानतस्तेषां  
स्थानम् । “पिता, ‘पाता वा पालयिता वा’—इत्यादिना ( निरु०  
४. ३. ५. ) व्याख्यातः ; जस्”—इति तद्भाष्ये देवराजः । महामुनि-  
यास्केन हि— “पितरो व्याख्यातास्तेषा मेषा भवति”—इत्युक्तैव,

“उदीरतां भवर उत् परास

उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।

असुं य ईयुरवका ऋतज्ञासु

तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु”—इति (१०. १५. १.) ।

एषा ऋगिह उदाहृता । व्याख्याता च सा एवम्— “उदीरता  
भवर उदीरतां पर उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पा-  
दिनस्तेऽसुं ये प्राण मन्वीयुरवका अनमित्राः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा  
ते न आगच्छन्तु पितरो ह्वानेषु”—इति (निरु० ११. २. ६.) ।

तथाच तस्या ऋच एषोऽर्थः सम्पद्यते— “हवेषु” ‘ह्वानेषु’  
अस्मदाह्वानेषु सत्सु “ते” ‘पितरः’ पितृगणाः “नः” अस्मान्  
“अवन्तु” ‘आगच्छन्तु’ । ते कीदृशाः ? इत्याह— “ये” “असुं”  
‘प्राणम्’ “ईयुः” ‘अन्वीयुः’ प्राप्तवन्तः, पूर्वं प्राणान्विता आसन्निति  
यावत् । तत्र जीवितकाले “अवकाः” ‘अनमित्राः’ सर्वत्र सर्व-  
दैवसाधुव्यवहारतः अमित्रशून्याः, “ऋतज्ञाः” ‘सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा  
वा’ कर्तृतया कारयितृतया वा यज्ञानुष्ठानविदः, “सोम्यासः”  
‘सोम्याः = सोमसम्पादिनः’ च आसन्निति । ते च कतिविधाः ?

इत्याह—“अवरे”, “परासः” ‘परे’, “मध्यमाः” चेति त्रिविधाः । तत्र, ‘परे’ द्युस्थान्तरिक्षचारिणः, “ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते”—इत्यादिना छान्दोग्ये ( ५. १०. १, २. ) वर्णिता देवयानमार्गेण सूर्यलोकं गताः ; ‘मध्यमाः’ द्यावापृथिव्योरन्तरेण स्थायिनः, “य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्त मित्युपासते”—इत्यादिना छान्दोग्ये ( ५. १०. ३-६. ) वर्णिताः पितृयानमार्गेण चन्द्रलोकं गताः ; ‘अवरे’ भूपृष्ठस्थान्तरिक्षचारिणः, “अथैतयोः पथोर्न कतरेण च”—इत्यादिना छान्दोग्ये ( ५. १०. ८. ) वर्णिताः पृथिव्या मेव निरन्तरावर्तिनः । तदेषां त्रिविधानां पितॄणां मध्ये येऽवरास्तेषां मप्राप्तमार्गाणां मसक्तादावर्तित्वेन कचिदपि दीर्घकालस्थिति-सम्भावनाभावात् न पितृलोकस्थत्वम् ; ये परास्तेषां मप्यनावर्तित्व-श्रुतेस्तथात्व मेव ; ये तु मध्यमाश्चन्द्रलोकं पितृलोकं वा गतास्तेषां मेव स्वस्थानस्थत्वेन प्राधान्य मिष्टम् । अतएव अन्तरिक्षस्थानेष्वेव पठितं पितर इति पदम् । यास्केनाप्युक्तम्—“माध्यमिको यम इत्याहुस्तस्मान्माध्यमिकान् पितॄन् मन्यन्ते”—इति ( ११. २. ५. ६. ) । ‘स हि तेषां राजेति’—इति च तत्र दौर्गी वृत्तिः । “परे-यिवांसं प्रवतो महीरनु”—इत्यादिसूक्तद्वये ( ऋ० सं० १०. १४, १५ ) यमस्य पितृराट्त्वं पितॄणां स्वरूपञ्च सुव्यक्तम् ।

तत्त्वतस्तु अन्नरससाहाय्येन स्वजनकदेहे प्रविष्टो जीवो रेतो-ऽन्तःस्थः प्रथमगर्भः सम्पद्यते ; यदैव तद्रेतो योनौ सिक्तं भवति, तदैव तस्य प्रथमं जन्म । ततस्तद्रेतो मातृयोनौ द्वितीयगर्भा-कारेण परिणतं भवति ; भूमिष्ठे हि तस्मिन् गर्भे पुरुषस्य द्वितीयं जन्मेति मन्तव्यम् । ततो मृते च यत् पित्राद्यन्यतमं शरीरं लभते, तदैव तस्य तृतीयं गर्भरूपम् ; ततः पित्राद्यन्यतमलोक-



प्राप्तिरेव तत्तृतीयं जन्मेति मन्यते । तदाहुरेतरेयिणः— “अप-  
क्रामन्तु गर्भिण्यः । पुरुषे ह वा अथ मादितो गर्भो भवति, यदे-  
तद् रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूत मात्मन्येवात्मानं विभक्तिं,  
तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनं जनयति ; तदस्य प्रथमं जन्म । तत् स्त्रिया  
आत्मभूयं गच्छति, यथा स्वमङ्गन्तथा तस्मादेनां न हिनस्ति, सास्यै-  
त मात्मान मत्र गतं भावयति, सा भावयित्री भावयितव्या भवति,  
तं स्त्री गर्भं विभक्तिं, सोऽग्र एवं कुमारं जन्मनोग्रेऽधिभावयति, स  
यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मान मेव तद्भावयति एषां लोकानां  
सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकाः ; तदस्य द्वितीयं जन्म । सो  
ऽस्याय मात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ; अथास्याय मितर  
आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति, स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते ;  
तदस्य तृतीयं जन्म”—इति ( २ आ० ५. १. ) ।

शतपथे तु मृत्युप्रकारो मृतस्य तस्य पितृयादिदेहलाभश्चाम्नातः ।  
तथाहि— “स यत्रायं शरीर आत्मावर्त्य नीत्य सम्मोह मिव  
न्येत्यथैन मेते प्राणा अभिसमायन्ति, स एतास्तेजोमात्राः समभ्या-  
ददानो हृदय मेवान्ववक्रामति । स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः  
पराङ् पथ्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवत्येकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकी-  
भवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयतीत्याहुरेकीभवति  
न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत  
इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजाना-  
तीत्याहुः । तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष  
आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नी वान्येभ्यो वा शरीरदेहेभ्य-  
स्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राण मनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा  
अनूत्क्रामन्ति, सञ्ज्ञान मेवान्ववक्रामति, स एष ज्ञः सविज्ञानो

भवति ; तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च । तद्यथा  
 तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वात्मानं सुपसङ्हरत्येव मेवायं पुरुष  
 इदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वात्मानं सुपसङ्हरति ।  
 तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रा सुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं  
 रूपं तनुत एव मेवायं इदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्न-  
 वतरं रूपं तनुते, पितॄन् वा गान्धर्वं वा, ब्राह्मन् वा प्राजापत्यं वा,  
 दैवं वा मानुषं वान्येभ्यो वा भूतेभ्यः”—इति १४. ७. २. १—५. ।  
 अत्र पितॄन् गान्धर्वञ्च मिथो गुणकर्मादितः किञ्चिद्भेदयुक्तं मन्तरिक्ष-  
 लोकगं रूपम् ; ब्राह्मन् प्राजापत्यं च तथा मिथः सामान्यभेदयुक्तं  
 द्युलोकगं रूपम् ; एवं दैवं मानुषञ्च विदित्वाविदित्वभेदभिन्नं  
 मिहत्यं रूपम् । इत्थं मपि छान्दोग्याद्युक्तं पितॄणां गतित्वैविध्यम्,  
 उदीरतामितिमन्त्रान्नातपितृत्वैविध्यञ्चोपपन्नं भवति । तदेवं यास्क-  
 व्याख्यातस्योदीरतामितिमन्त्रस्थस्य ‘असुं य ईयुः’—इत्यंशस्य पितॄणा-  
 दन्यतमदेहगतं प्राणं ये अन्वीयुरित्येवार्थः सुष्ठुतर इत्यस्माकम् ।  
 पिण्डपितृयज्ञप्रकरणादौ च ( य० वा० २. २०—३४. ; श० ब्रा०  
 २. ४. ४. १—२४. ; तै० ब्रा० १. ३. १०, २. ६. ३. ) पितृगण-  
 स्वरूपं पर्यालोच्यम् । यमपितृलोके पुनर्निर्णेष्याम इहैवान्त्यप्रकरणे ।

मनुष्याः । ऐतरेये त्विहैतच्छब्दनिर्वचनमेवं प्रोक्तम्—“मेदं  
 प्रजापते रेतो दुषदिति०—०तन्मादुषं सन्मानुष मित्याचक्षते  
 परोक्षेण”—इति ( ३. ३. ६. ) । “मनुष्याः कस्मात् ? मत्वा  
 कर्माणि सीव्यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टाः, मनस्यतिः पुनर्मनस्वी-  
 भावे ; मनोरपत्यम्, मनुषो वा”—इति त्वाह यास्कः ( निरु० ३.  
 २. १. ) । “मनोजातावज्यतौ षुक् च”—इति च पा० ४. १.  
 १६१ सूत्रम् । ‘समुदायार्थो जातिः ; मानुषः मनुष्यः’—इति

तत्र दीक्षितः । तत्रास्मत्सु “षडर्घ्या भवन्ति,—आचार्य ऋत्विक्  
स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति”—इति गो० गृ०  
सू० ४. १० । मातृपित्राचार्याणां पूजनीयत्वं तु तैत्तिरीय-  
(आ० ७. ११.)-मन्वादि-(२. २२५.)-प्रसिद्धम् ॥

अतपथब्राह्मणे त्वेषां देवपितृमनुष्याणां मेकत्रैव विशेषपरिचय  
आम्नात उपासनाप्रकारश्च । तथाहि—“ततो देवाः ; यज्ञोपवीतिनो  
भूत्वा दक्षिणं जान्वाचोपासीदन् । तानब्रवीत्— यज्ञो वोऽन्नम्,  
अमृतत्वं वः, ऊर्गं वः, सूर्यो वो ज्योतिरिति । अथैनं पितरः,  
प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाचोपासीदन् । तानब्रवीत्—मासि  
मासि वोऽशनम्, स्वधा वः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योति-  
रिति । अथैनं मनुष्याः ; प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदन् । तान-  
ब्रवीत्—सायस्यातर्वोऽशनम्, प्रजा वो, मृत्युर्वो, ऽग्निर्वो ज्योति-  
रिति”—इति (२. ४. २. १, २, ३.) ।

एषा मेव देवपितृमनुष्याणां मर्चनं कर्तव्यत्वेनेहैतरेये समा-  
न्नातम्—“एष ह वा अनडापुरुष इत्यादिना । तत्र हि अग्नि-  
होत्रादिभिः श्रौतैः वैश्वदेवादिभिश्च गृह्यदेवानां मर्चनं सम्पद्यते ;  
पिण्डपितृयज्ञादिभिः श्रौतैः स्वस्वसूत्रोक्तप्रकारैः अद्वयान्नजलादि-  
प्रदानात्मकश्राद्धादिभिश्च पितॄणां मर्चनं सम्पद्यते ; निष्कपटविनीत-  
भावप्रदर्शनाज्ञापालन-ससमादरपक्वापक्वान्नाद्याहारादि-प्रदानैर्मनु-  
ष्याणां मर्चनं सम्पद्यते ।

अतिथिसत्कारविषये गाथाप्येकाम्नाता — “तद् यददो गाथा  
भवति — अनेनस मेनसा सो ऽभिश्स्तादेनस्वतो वापहरादेनः ।  
एकातिथि मप सायं रुणद्धि विसानि स्तेनो जहारेति”—इति ५. ५.  
५ । गाथैषा नैतद्ब्राह्मणप्रवक्तुः कल्पिता, प्रत्युत बहुप्राचीना,

अनेनात्र स्मृत्येव । तदाह तद्भाष्ये सायणः—‘पुरा कदाचित् सप्त-  
 षीणां संवादप्रसङ्गे कश्चित् पुरुषो विसस्तैन्यलक्षण मपवादं प्राप्य  
 तत्परिहारार्थं सृषीणा मग्ने शपथं चकार, तदीयशपथोक्तिरूपेयं  
 गाथा’—इति । तच्छपथस्वरूपञ्च तत्र तेनैवैवं व्याख्यातम्—  
 ‘विसानि पद्ममूलानि, तेषा मपहर्त्ता ( एवं ) प्रत्यवायपरम्परां  
 प्राप्नोतु ;— पापरहिते पुरुषे विसस्तैन्य मपवादं कृतवतो यः  
 प्रत्यवायः, पापिनः पुरुषस्य सम्बन्धि पापं स्वीकुर्वतो यः प्रत्य-  
 वायः, सायङ्काले गृहे समागच्छत एकातिथेर्वैदेशिकस्यारोधने  
 यः प्रत्यवायः, सेयं प्रत्यवायपरम्परा विसस्तैन्ये सति मम भूयादि-  
 त्येवं शपथः’—इति । अस्माकं त्वस्या गाथाया ऋजुतरोऽर्थान्तरः  
 प्रतिभाति । तद्यथा—यः कश्चित् ‘अनेनसम्’ अपापम् आरोप्य-  
 मानपापशून्यं जनम्, ‘एनसा’ आरोप्यमानेन पापेन ‘अभिशस्तात्’  
 निन्देत्, ‘सः’ निन्दकः ‘एनस्वतः’ स्वभावजातपापिनः तस्य  
 निन्दितस्य यत् किमपि स्वभावजम् ‘एनः’ पापम् अस्ति, तदेव  
 ‘अपहरात्’ अपहरणं कुर्यात् । सन्ति हि सर्वेषा मेव मानवानां  
 स्वभावजानि पापानि । तदप्याहात्रैव—“व्यतिषक्त इव वै पुरुषः  
 घाप्मना”—इति ( ४. १. ४. । इत्थं गाथापूर्वार्द्धेन वृथापवादकीर्त्तनं  
 निषिद्धम्, अथापरार्द्धेनातिथिविमुखीकरणं निषिध्यते— यः  
 कश्चिद् ‘सायं’ काले समागतम् ‘एकातिथिं’ सर्वातिथिलक्षणसम्पन्न  
 मत एव प्रधानातिथिम्, एकसङ्ख्यामात्र मतिथिं वा ‘अपरुणद्वि’  
 स्वागतासनान्नपानादिक मदत्वा विमुखीकरोति, ‘सः’ ‘स्तेनः’  
 चौरः सन् ‘विसानि’ मृणालानि, तद्गतानीव शूक्ष्मतन्तुरूपाणि तद-  
 तिथिशरीरस्थानि स्नायुनामजीवनहेत्वङ्गबन्धनानि ‘अपजहार’  
 तज्जीवनापहरणपातकभाग् भवतीति भावः ।



अहोऽतिथिसत्कारायासीत् तदाम्नाघातश्च प्रचलितः । तत  
 एव सोमे राजन्यागते या आतिथ्येष्टिविहिता, तत्र पशुघाता-  
 नुकल्पश्च विहितः— “तद्यथैवादो मनुष्यराज आगते, ऽन्यस्मिन्  
 वार्हति उच्चारणं वा वेहतं वा क्षदन्त एव मेवास्मा एतत्  
 क्षदन्ते, यदग्निं मन्यन्ति ; अग्निर्हि देवानां पशुः”—इति ( १.  
 ३. ४. ) । अप्युषःशब्दस्य पोषार्थतानिर्णयाय चाम्नात मेवम्—  
 “एतर्हि गव्यं मीमांसमानाः पृच्छन्ति, सन्ति तत्रोषाः इति”—  
 इति ( ४. ४. ५. ) । सायणकृत मेवैतद्व्याख्यानं द्रष्टव्यम् ।  
 मांसभक्षणविधिस्त्वाम्नात इहान्यत्रापि । तथाहि—“नाग्नीषो-  
 मीयस्य पशोरश्नीयात्०—० तत्तन्नाट्यम्०—० तस्याशितव्यञ्चैक  
 लीप्सितव्यञ्च”—इति ( २. १. ३. ) । अमेध्यमांसभक्षणे दोषो  
 मेध्यमांसभक्षणेऽदोषश्चाम्नातः । तथाहि—“एत उत्क्रान्तमेधा  
 अमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्”—इति २. १. ८. । ‘एते’  
 पुरुषकिम्पुरुषगौरगवयोऽङ्गरभा इति षट् अमेध्याः, अश्वगोऽव्य-  
 जपृथिवीभवाः पञ्च मेध्याः । पृथिवीभवत्वेनेह ब्रीह्यादीनां ग्रहण  
 मिष्टम् । अतएव श्रुतम्—“स वा एष पशुरेवालभ्यते यत् पुरो-  
 डाशः”—इत्यादि २. १. ९ । तत्राप्यजमांसस्यासीद् बहुप्रचलन  
 मिति च प्रतीयते ; तत्रैव “एष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो  
 यदजः”—इति श्रुतेः । “क्वागो वा मन्त्रवर्णात्”—इति चात्र मी०  
 द० ६. ८. ३१ सूत्रम् । इथापशुघातनिन्दाप्यस्ति — “अथ येऽतो-  
 ऽन्यथा सेडगा वा पापकृतो वा पशुं विमथ्नीरंस्तादृक्तात्”—इति  
 ७. १. १. । सैषा पशुहिंसा यद्यप्यस्मभ्यं न रोचते, तथाप्युदाहृत-  
 व्यवहाराणां यावन्नावैदिकत्वं प्रतिपद्येत, तावदेवमादिषु “आम्नाय-  
 वचनादहिंसा प्रतीयेत ( १. ५. २. )”—इति निरुक्तवचनमेव शरणम् ।

अतिथिसत्कार इवेहान्येऽप्युपदेशाः समाम्नाताः । तद्यथा—  
“अभिहेषते पिपाषते क्षिप्रं प्रयच्छेत्”—इति ( ६. २. ५. ) ।  
एतेन स्थानविशेषे द्रव्यविशेषस्य दानक्षिप्रता विहिता । “अप्रसूतः  
करोत्यक्तं तदक्तं सकरिति वै निन्दन्ति”—इति ( २. ५. ६. ) ।  
एतेन सर्वेष्वेव विचार्यकर्मसु गुर्वाद्यनुज्ञा स्वाम्यनुज्ञा वा ग्रह-  
णीयेत्युपदिष्टम् ।

आसीच्च तदानीं मार्त्विज्यप्राशस्त्यम्, अयाज्ययाजननिषेधश्च ।  
तदाह— “यशसा वा एषोऽभ्यैति, य आर्त्विज्येन । तं यः प्रति-  
रुन्धेद्, यशः स प्रतिरुन्धेद् ; तस्मान्न प्रत्यरोत्सीदिति । यदि  
त्वस्मादपोज्जिगांसेद्, यज्ञेनास्मादपोदियात् । यदि त्वयाज्यः स्वयं  
मपोदितं तस्मात्”—इति ६. ४. ८ । तदेव मार्त्विज्याय आहूतस्य  
तत्त्यागो दोषाय भवति, त्यागायोपदेशो बाधनं वापि दोषायैव । यदि  
तु स्वयं यष्टु मिच्छुः स्यादन्यत्र वृत्तो वा भवेत्, तर्हि परार्त्विज्य-  
त्यागो न दोषाय । एव मयाज्ययाजनं च न कर्त्तव्यम् । पापपुरुष-  
याजनस्य निषेधस्त्विहान्यत्राप्याम्नातः— “न पापः पुरुषो याज्यः”—  
इति ( ४. ४. ३. ) । अपि यथा पापपुरुषाणां मयाज्यत्वं  
विहितम्, तथैवार्त्विज्याय पापपुरुषाणां वरणं मपि निषिद्धम्—  
“पापस्य वा इमे कर्मणः कर्त्तार आसते ऽपूतायै वाचो वदितारो  
यच्छापर्णा इमानुत्थापतेमैऽन्तर्वेदि मासिषतेति”—इति ७. ५. १ ।  
अपरत्र चेह लोभाद्याहतचित्तानां तेजःशून्यानाम्, मात्सर्यादि-  
पूर्णानां च तमःप्रकृतीनाम्, पापानुष्ठातृणां दुर्मतीनाञ्चार्त्विज्याय  
वरणं निषिद्धम् । तथाहि— “त्रीणि ह वै यज्ञे क्रियन्ते,— जग्धं  
गौर्णं वान्तं०—०स एतेषां त्रयाणां माशां नेयात्”—इति ३. ५. २ ।  
यः खलु धनलोभादार्त्विज्यं कामयमानः कथं मपि यजमानं

तत्कर्मकारयितार मपरं वा चाटुवृत्त्यादिभिस्तोषयन्नात्स्वि ज्यंलभते,  
तादृशेन तेन कृतं तत् कर्म 'जग्धं' भक्षितं, मुखमध्ये प्रविष्ट मिव  
दूषितं भवति । यो हि समाजाधिपत्येन ग्रामप्रभुत्वेन वापरेण केनापि  
वा हेतुना यजमानादेर्भीति मुत्पादयन्नात्स्विज्यं लभते, तादृशेन तेन  
कृतं तत् कर्म 'गीर्णं' गिलितं, गलाधःकृत मिव दूषितं भवति ।  
यसु विद्वानपि पापकर्मा भवति, तत्कृतं यत् किञ्चन कर्म तत् सर्वं  
'वान्तं' उद्गीर्णं, कर्दित मिव घृण्यं भवति देवानाम् । तदेवं-  
विधानां त्रिविधाना ऋत्विजां वरणाय यजमानो मनसि आशा मपि  
न कुर्यादिति । मूर्खस्यात्स्विज्यदूषणन्तूक्त मिहान्यत्रापि— “त  
ऋत्विजो यजमानं कृत्व मन्वस्य वित्त मादाय द्रवन्ति, य मनेवं-  
विदो याजयन्ति”—इति ८. २. ७ ।

अथ व्यवहारः ।— राज्ञां पुरोहितस्यावश्यकता चात्र बहुधा  
प्रत्यायिता । तद्यथा — “न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्न  
मदन्ति, तस्माद्राजा यक्ष्यमाणं ब्राह्मणं पुरो दधीत, देवा मेऽन्न  
मदन्निति”—इति ८. ५. १ । इत्थं ब्राह्मणजातेरेव पुरोहित्य  
मिति च ज्ञापितम् । एतद्वचनोपक्रमे व्यक्तञ्चाम्नातम्— “ब्राह्मणः  
पुरोहितः”—इति । राजन्यवैश्ययोः पुरोहितार्षेयेण दीक्षावेदनञ्च  
विहितम्— “पुरोहितस्यार्षेयेण दीक्षा मावेदयेयुः, पुरोहितस्या-  
र्षेयेण प्रवरं प्रवृणीरन्”—इति ( ७. ४. ७. ) । इतो वैश्याना  
मपि पुरोहितार्षेक्षा सूचिता । बुद्धिमत्तमाना मार्याणां पुरो-  
हितविधेः कथा तु दूरे आस्ताम्, जडाना मपि पृथिव्यादीनां  
पुरोहिताः सन्तीति च कल्पितम्— “अग्निर्वाव पुरोहितः पृथिवी  
पुरोधाता, वायुर्वाव पुरोहितो ऽन्तरिक्षः पुरोधाता, आदित्यो वाव  
पुरोहितो द्यौः पुरोधाता ; एष वै पुरोहितो य एवं वेद, अथ स

तिरोहितो य एवं न वेद"—इति ८. ५. ४ । तदेवं यथा पृथिव्यादिव्याद्यादीनां प्राधान्यम्, तथैव यजमानगृहेषु पुरोहितानां प्राधान्यं ध्वनितम्, विहितञ्च पुरोहितानां मेतद्विज्ञानवत्त्वम् ; ब्राह्मणानां मपि येषां पृथिव्यादिनिष्ठाग्न्यादिपुरोहितत्वविज्ञानमविदितम्, तादृशा मविदुषां पौरोहित्यं सुतरां निषिद्धम् । तस्यैतदुपसंहारवचनम्— “यो ह वै त्रीन् पुरोहितान् वेद, स ब्राह्मणः पुरोहितः”—इति । एतेन च वचनेन वेदविदा मेव ब्राह्मणानां पौरोहित्यं व्यवस्थापितम् । “अयुव मार्यस्य राष्ट्रं भवति, नैनं पुरायुषः प्राणो जहाति, आजरसं जीवति, सर्वं मायुरेति, न पुनस्त्रियते, यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः ( ८. ५. ३. )”—इत्यादिना पुरोहितानां यजमानमङ्गलकारित्वं बहुधैव प्रपञ्चितम् । “तदप्येतद्विष्णोक्तम्”—इत्युपक्रम्य सांहितिकमन्त्रत्रयप्रमाणेनाप्येतदेव ( ऋ० सं० ४. ५०. ७, ८, ९. ) दृढीकृतम् ( ८. ५. ३. ) । तत्रैव— “बृहस्पतिर्ह वै देवानां पुरोहितः, तमन्वत्ये मनुष्यराज्ञां पुरोहिताः । बृहस्पतिं यः सुभृतं विभर्तीति यदाह, पुरोहितं यं सुभृतं विभर्तीत्येव तदाह”—इत्यादि द्रष्टव्यम् । बृहस्पतिशब्देनात्र सूर्यो निरुक्तादिप्रसिद्धः । स यथा वायादिदेवानां पुरोहितः पुरःस्थितः, प्राधान्यभागुपकारी च ; मनुष्येषूपि राजपुरोहितास्तथैव भवेयुः ; तदत्र संहितावचनमपि प्रमाणमित्याह—“बृहस्पतिं यः सुभृतं विभर्तीति ( ४. ५०. ७. ) । “अग्निर्वा एष वैश्वानरः पञ्चमेनिः”—इत्यादिना ( ८. ५. १. ) पुरोहितानां कोपनत्वं संवर्ण्यं, यजमानानां तदुपशमने यत्नस्य कर्तव्यता चात्र विहिता । तदेतत्सर्वं मालोच्य प्रतीयते, — तदानीन्तनराजपुरोहितानां मसाधारणसम्मानभाक्त्वं,



राजसु राजगृहेषु च प्राबल्यं विशेषशक्तिप्रसारित्वञ्चासीदिति । अपि तेषां मद्यतनपुरोहितानां मिव कर्मकारयितृत्वं तत्तत्कर्ममन्त्र-पाठयितृत्वं च न कापीह गम्यते, न वा कचिदिह ब्राह्मणस्य पुरोहितापेक्षा श्रूयत इति च सुधीभिरालोच्य मेव ॥

कर्मकारयितृभ्यो दक्षिणादानस्यातिकर्त्तव्यता चासीत् तदानीं मपि । तदाह—“दातव्यैव यज्ञे दक्षिणा भवत्यल्पिकापि”—इति ६. ५. ६ । केनापि हेतुना सा परित्यक्ता चेन्न पुनर्ग्रहणीया, केनापि प्रकारेणागतापि सा आपन्नशत्रुभावाय कस्मैचन प्रदे-येति चेहैव । तथाहि—“न निवृत्तदक्षिणां प्रतिगृह्णीयात्”—इति, यदि त्वेनां प्रतिगृह्णीयात्, अप्रियार्थेनां भ्रातृव्याय दद्यात्”—इति च ६. ५. ६ । यशोलिप्ताप्यासीत्तदातिप्रबला । तदाह—“यम् ब्राह्मणं मनूचानं यशो नर्च्छेदिति ह स्नाहारण्यं परेत्य दर्भस्तम्बानुद्वयस्य दक्षिणतो ब्रह्माणं सुपवेश्य चतुर्होतृन् व्याचक्षीत”—इति ५. ४. ४ । कस्मिंश्चिद् दानादिकर्मणि स्व-श्रेष्ठताभिमानस्य पापहेतुत्वञ्चाभिमतं तेषाम् । तत एवैव मान्ना-तम्—“यो वै भवति, यः श्रेष्ठतां मश्रुते स किल्बिषं भवति”—इति १. ३. २ । ‘श्रेष्ठतां प्रयोगपाटवाभिमानम्’—इति सायणः ।

आम्नातञ्चेह बहुत्र हस्त्यश्वगवादिधनदानप्रशंसागाथाभिगानम् । तथाहि दीप्यन्तिभरतस्य ( ८. ४. ६. )—

“हिरण्येन परीवृतान् कृष्णाञ्जुल्लदतो मृगान् ।

मण्यारे भरतोऽददाच्छतं वडानि सप्त च”—इत्यादि ।

इह श्रुतस्य मृगशब्दस्य हस्तिपरव्याख्यानं सायणीयम् ; अस्तु तत् तद्यैव मन्तव्यम्, परं तत्कृतं वडशब्दस्य वृन्दसङ्ख्यापरत्वं तु नास्मभ्यं रोचते ; तादृशदानं ह्यत्यधिकं मित्यसम्भवमिति ।

आत्रेयाङ्गराजदानगाथाश्लोकेषु दासीदानं च श्रुतम् — “दासी-  
सहस्राणि ददामि ते”—इति ( ८. ४. ८. ) । एतेन तदानीं  
मासीदार्यावत्तेऽत्र च मनुष्याणां मपि हस्त्यश्वादीनां मिथ क्रय-  
विक्रयदानप्रथेति स्पष्टम् । अत एव शौनःशेषाख्यानेऽपि श्रुतम्—  
“तस्य ह शतं दत्त्वा स त मादाय सोऽरण्याद् ग्राम मेयाय”—इति  
( ७. ३. ३. ) । ‘तस्य’ तस्मै शूनःशेषपित्रे सौयवसयेऽजीगर्त्ताय  
‘सः’ हरिश्चन्द्रपुत्रो रोहितः ‘शतं’ बहु, शतसङ्ख्याकं वा मुद्रात्मकं  
धनं ‘दत्त्वा’ ‘तम्’ शूनःशेषम् आदायेत्याद्यर्थः । निरुक्ते तु “स्त्रीणां  
दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते, न पुंसः ; पुंसोऽपीत्येके ; शौनःशेषे  
दर्शनात्”—इत्युक्तम् ( ३. १. ४. ) ।

एवं पुत्रेषु पितुः स्वेच्छाजनितोऽन्यान्यविधोऽत्याचारोऽप्यासीत्  
तदानीं सुदुर्वारः । तद्यथा ( ७. ३. ५. )—

“अथ विश्वामित्रः पुत्रानामन्वयामास,

मधुच्छन्दाः शृणोतन ऋषभो रेणुरष्टकः

ये के भ्रातरः स्य नास्मै ज्यैष्ठ्याय कल्पध्व मिति”—इति ।

एव मन्यत्रान्यदपि — “ऐतशो ह वै मुनिरग्नेरायुर्ददर्श ; ०—०  
सोऽब्रवीत् पुत्रान्, पुत्रका अग्नेरायुरदर्शं तदभिलपिष्यामि, यत्  
किञ्च वदामि तन्मे मा परिगातेति ०—० । तस्याभ्यग्नेरैतशायन  
एत्याकाले ऽभिहाय मुख मप्यगृह्णाददृपन्नः पितेति ; तं होवा-  
चापेह्यलसोऽभूर्यो मे वाच मवधीः ०—० पापिष्ठां ते प्रजां करोमि  
यो मह्य मसक्था इति”—इति ६. ५. ७ ।

पुत्राणां पितृदायभाक्त्वं मपीह सूचितम् । तद्यथा— “नाभा-  
नेदिष्टं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन्तसोऽब्रवीदेत्य  
किं मह्य मभाक्तेति”—इत्याद्याख्यानं ( ५. २. ६. ) द्रष्टव्यम् ।

वाणिज्याद्यर्थं समुद्रयानारोहणपूर्वकं महासमुद्रे परिप्लवनं चासीत् तदानीं सुप्रचलितम् । अतएव तदृष्टान्ततयान्नात एवम्—  
 “यथा समुद्रं प्रप्लवेरन्नेवं हैव ते प्रप्लवन्ते, ये संवत्सरं वा द्वादशाहं वा ऽऽसते”—इति ६. ४. ५ । वनदस्यूना मप्युपद्रव आसीत्तदानीं मिति चात्र सूचितम् । तद्यथा — “निषादा वा सेडगा वा पाप-  
 कृतो वा वित्तवन्तं पुरुषं मरणे गृहीत्वा कर्त्तुं मन्वस्य वित्त मादाय द्रवन्ति”—इति ८. २. ७ । एवं नागरिकग्रन्थिच्छेदकानां मपि दृष्टान्तविधया समुल्लेखोऽत्र श्रुतः—“तं मृत्विजो यजमानं कर्त्तुं मन्वस्य वित्त मादाय द्रवन्ति”—इति ८. २. ७ ।

आसीत्तदानीं चौर्यं मपि तन्निन्दा च । तद्यथा सायणमते,—  
 पुरा कदाचित् सप्तर्षीणां संवादप्रसङ्गे कश्चित् पुरुषो विसस्तैन्यलक्षणं मपवादं प्राप्य तत्परिहारार्थं मृषीणां मये शपथं चकार, तदीयशपथो-  
 क्तिरूपेयं गाथा— “अनेनस मेनसा सोऽभिश्स्तादेनस्वतो वापहरा-  
 देनः । एकातिथि मप सायं रुणद्धि, विसानि स्तेनो अप सो जहार”—  
 इति ( ५. ५. ५. ) । सायणमते गाथयैतया मृषापवादकारिणां साय मतिथिप्रत्याख्यातृणां स्तेनकारिणाञ्च पापविद्धत्वं ज्ञापितम् ।

एकराट् सार्वभौमोऽप्यासीत्तदानीं संविज्ञातः । ततस्तत्प-  
 रिचयोऽत्रैवम्— “अयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुषः  
 आन्तादापरार्द्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति”—इति  
 ८. ४. १ । तथाविधसार्वभौमनरपतेः सर्वेभ्यो मित्रराज्येभ्य उप-  
 ढौकनग्रहणञ्चेहान्नातम्—“सर्वे हैव महाराजा आसुरादित्य इव  
 ह स्म श्रियां प्रतिष्ठितास्तपन्ति, सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलि मावहन्ते”—  
 इति ७. ५. ८ । ‘सर्वे’ च ते इमे— कावषेयः तुरः, साहदेव्यः  
 सोमकः, सार्ज्यः सहदेवः ; देवावधो बभ्रुः, वैदर्भी भीमः,

गान्धारो नमनजित् , अरिन्दम इति विश्रुतः जानकिः क्रतुवित् ,  
पैजवनः सुदाश्वेत्यष्टावैतरेयपूर्वपूर्वजाः सार्वभौमा बभूवु रिति च  
तदुपक्रमग्रन्थतः प्रतीयते ।

महाराजस्य प्रियतमभार्यायाः सन्निधौ प्रजाना मावेदनप्रथा-  
प्यासीत् तदानीम् ; अत एव इन्द्रस्य प्रियायै वावातायै देवानां  
स्वाभिप्रायज्ञापनम् , तस्याश्च इन्द्रं ज्ञापयामीति प्रतिश्रुत्यादिकथा  
श्रूयते चात्र— “ते देवा अब्रुवन्नियं वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता  
प्रासहा नाम, अस्या मेवेच्छामहा इति । तथेति तस्या मैच्छन्त ।  
सैनानब्रवीत्,— प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति”—इति ३. २. ११ ।

राजभ्रातॄणां राजसहचरणव्यवहारश्चासीत् । तत एवैव  
मान्नातम्— “ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनु-  
ष्यस्य, तैरेवैनं तत्सहागमयति”—इति १. ३. २ ।

राजधानीपरिरक्षणाय तदभितः प्राकारनिर्माणप्रथाप्यासीत्-  
दानीम् । तदाह— “देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त, ते वा  
असुरा इमानेव लोकान् पुरोऽकुर्वत”—इत्यादि १. ४. ६ । ‘पुरो  
ऽकुर्वत, प्राकारवेष्टितानि नगराणि कृतवन्तः’—इति तत्र सायणः ।  
एतदाख्यायिकाया मसुरैः सहोपस्थिते सङ्ग्रामे असुरेभ्यस्त्रिपुररक्षणार्थं  
मयोरजतसुवर्णमयप्राकारा निर्मिता देवैरिति सूचितम् । असुरोप-  
द्रवतो यज्ञरक्षार्थं मभितोऽग्निप्राकारनिर्माणञ्च देवैः कृत मिति च  
श्रुत मेतस्या माख्यायिकायाम्— “देवा वै यज्ञ मतन्वत०—०अग्नि-  
मयीः पुरस्त्रिपुरं पर्यास्यन्त”—इति २. २. १ । प्रबलतरैः शत्रुभि-  
राक्रान्ते राज्ये तद्रक्षणाय तदानीन्तनप्रजाना मपि परस्परं मन्त्रणा-  
करणम् , स्वत एव योधप्रवृत्तिः , परस्पर मैकमत्याय प्रतिज्ञा-  
रुढत्वम् , राजरत्निरक्षितगृहादौ पुत्रकलत्रादीन् संस्थाप्य युद्धाय



प्रयाणञ्चेति सर्वं मिह १. ४. ७ द्रष्टव्यम् । प्रियवस्तुदानादिरूपसाम-  
कौशलतो रक्तपात मन्तरेण स्वकार्योद्धारचेष्टाप्याहतासीत् तदानीम्  
( १. ५. १. ) । परस्परैकमत्यस्थितये आज्यस्पर्शपूर्विका प्रतिज्ञा-  
पद्धतिश्च तदानीन्तनी प्रशंसनीया । तथाविधं प्रतिज्ञानं हि तानू-  
नम् मिति सर्ववेदेषु विश्रुतम् । तदिदम् ऐ० ब्रा० १. ४. ७,  
श० ब्रा० २. ४. २, तै० सं० १. २. ११, ६. २. २-६ श्रुति-  
वाक्येषु विहितं द्रष्टव्यम् । “न सतानूनमिणे द्रोघव्यम्”—इति  
चेह ( १. ४. ७. ) तदुपसंहारः । ‘सतानूनमिणे’ सहशपथकारिणे  
न द्रोघव्य मिति तदर्थः । शतपथे चैवम्— ३. ४. ४. ८ ।

सैनापत्यनिर्णयः, तस्य च सेनापतेर्भागशः शत्रुसेनाक्रमणो-  
पायश्चेह वर्णितः— “स त्रिंश्रेणिर्भूत्वा त्रिणीकोऽसुरान् युद्धं मुप-  
प्रापद् विजयाय”—इत्यादि ( ३. ४. १. ) । युद्धकाले राजसाहाय्य-  
कारिणां प्रजानां सामन्तानाञ्च प्रसादलाभकथाप्यस्यत्— “सो-  
ऽवेदिमे वै किल मे सचिवा इमे माऽकामयन्त हन्तेमानस्मिन्नुक्थ-  
आभजा इति, तानेतस्मिन्नुक्थ आभजत्”—इति ३. २. १० । युद्ध-  
जयानन्तरं राज्ञो मर्यादावृद्धिश्चेह सूचिता ; तदत्र “इन्द्रो वै वृत्रं  
हत्वा”—इत्याद्याख्यायिका द्रष्टव्या ( ३. २. १०. ) । पराजितानां  
मन्तर्हस्तीनानि धनानि समुद्रतीरे प्रोथितानि भवन्ति स्मेत्यपीह  
श्रुतम् ( ५. २. ६. ) । हस्तमुष्टिमध्ये एव गोपनीयं यद् बहुमूल्यं  
रत्नादिकं धनम्, तदेवान्तर्हस्तीनम् । एवञ्च तदाप्यासीदेव बहु-  
मूल्यहीरकादीनां व्यवहार इति चास्मात् प्रतीयते स्फुटम् ॥

प्रायः सर्वसभ्यदेशेषु विद्यमान एष उपविमोकव्यवहारो-  
प्यासीत् तदानीम् । तथा चान्नायते— “अश्वैर्वानडुद्भिर्वान्यै-  
रन्यैरश्वान्ततरैरश्वान्ततरैरुपविमोकं यान्ति”—इति ४. ४. ५ ।

तदिदं श्रुतमुपविमोक्तस्वरूपमद्यतनमिवैव । दूराध्वगमने  
एवेष्टशोपविमोक्तस्यावश्यकता चाम्नाता— “दीर्घार्द्ध उपविमोक्तं  
यायात्”—इति ( ६. ४. ७. ) ।

स्वन्मतो भारवहनाय वीवधस्य व्यवहार आसीत्तदानीमिति  
च प्रतीयते — “बृहत्पृष्ठं सवीवधतायै”—इत्येवमादिश्रुतेः ( ८. १.  
१. ) । ‘उभयतः शिष्यद्वयेन जलकुम्भद्वयं वोढुं यः काष्ठविशेषः  
पुरुषाणां मंशे ध्रियते, स वीवध इत्युच्यते’—इति तत्र सायणः ।  
‘विवधवीवधशब्दौ उभयतो बद्धशिक्ये स्वन्मवाह्ये काष्ठे वर्त्तेते’—इति  
सि० कौ० ( पा० सू० ४. ४. १७. ) । वीवधदण्डस्तु प्रायेण  
वंशस्यैव भवति, ततः स इह तेजनीति श्रुतम्— “तेजन्या उभ-  
यतोऽन्तयोरप्रस्रंसाय वसौ न ह्यति”—इति ( १. २. ५. ) ।

सूच्यासूतानां सभ्यजनोचिताङ्गरक्षादीनाञ्चासीत्तदापि व्यव-  
हारः । श्रुतं ह्येतत्— “सूच्यावासः सन्दधदियात्”—इति ३. २. ७ ।

एवं तदानीमपि कर्मठत्वं अमकारित्वमुद्योगित्वञ्चैवासीत्  
प्रशंसनीयम्, अलसस्य अमकातरस्योद्योगहीनस्य त्वासीन्निन्दनीय-  
तैव । तत एवैवमिह ( ७. ३. ३. ) श्लोकपञ्चकमाम्नातम्—

“नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति, इति रोहितशुश्रुमः ।

पापो नृषद्वरो जनः, इन्द्र इच्चरतः सखा ॥ १ ॥

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे, भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः ।

शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः, अमेण प्रपथे हताः ॥ २ ॥

आस्ते भग आसीनस्य, जङ्घेस्तिष्ठति तिष्ठतः ।

शेते निपद्यमानस्य, चराति चरतो भगः ॥ ३ ॥

कलिः शयानो भवति, सञ्जिहानस्तु दापरः ।

उत्तिष्ठंस्तेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन् ॥ ४ ॥

चरन् वै मधु विन्दति, चरन् स्वादु मुदुस्वरम् ।

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं, यो न तन्द्रयते चरन् ॥ ५ ॥”—इति ।

यद्यप्येते गाथारूपाः श्लोका अनेनैतरेद्वेणेह प्रसङ्गत उद्धृता इति नैतरेयकालिकास्तथाप्यैतरेयकालेऽप्येवंविधोपदेशाना मासीदेवादर इत्यपि प्रतीयत एव । श्लोकाना मेषा मर्यासु सुगमाः, तथापि प्रथम-चतुर्थयोः किञ्चिद् ब्रूमः ।— यथा घोटकादयो मनुष्याणां वहनं कुर्वन्तीति मनुष्यवाहा उच्यन्ते, तथैवास्मच्छरीरस्थो लोहित एवाग्निं शरीरतापं वहतीत्यग्निवाहत्वेन व्यपदिष्टो वेदे ( निघ० १. १५. २. ) ; लोहित एव रोहितो वैदिकः । स च सूर्यचन्द्रो-दयकृत इति वाहोरात्रजन्य इति वा हारिचन्द्रीयो हरिश्चन्द्रीय इतीहाख्यातः ; रसहरणात् हरिः = सूर्य इति हि सर्ववेदप्रसिद्धः । तथाचाग्निवाहनरूपशोणितधारिणः सर्वानेव पुरुषान् सम्बुद्धा ऋषि राह्विम उपदेश मिति फलितम् । नानेति । हे ‘रोहित !’ ‘इति’ वयं ‘शुश्रुमः’,— ‘अनाश्रान्ताय’ आभिमुख्येन आन्त आश्रान्तः, तद्विपरीतोऽनाश्रान्तोऽलसस्तस्मै ‘श्रीः नास्ति’ । अथवा नानाविध-कार्येषु आन्तो नानाश्रान्तस्तस्मै श्रीरस्तीति । ‘वर’ तपःकर्म-विद्यादिभिः श्रेष्ठोऽपि ‘जनः’ ‘नृषत्’ नरि सीदन्, व्यक्तिविशेष-स्थाश्रितः सन् ‘पापः’ भवति । ‘चरतः’ भ्रमणकारिणः पुरुषस्य गिरिगिरिनदीग्रामसीमादिसङ्कटेषु च सर्वत्रैव ‘इन्द्रः’ अनुपमै-श्वर्यवान् ईश्वरः ‘इत्’ एव ‘सखा’ विद्यते । यः किल नगरे स्वगृहे च रक्षकः, स एव अरण्यान्यादावपीति अर्थाद्यर्जनाय भ्रमणशीलस्य कोऽस्ति चिन्ताविषय इति भावः । कलिरिति । सर्वविधकर्तव्यकर्मसु ‘शयानः’ शय्यागतः, अलस इति यावत् । एतदेव कलिलक्षणम् । तदेवं कलियुगे धर्मार्थकाममोक्षाद्यर्जन-

कर्मसु आलस्यबाहुल्यं भवतीति निष्पन्नम्, निष्पन्नञ्च यस्मिन्  
कस्मिन् वा युगे यदैवालस्यपरतया कर्तव्यानुष्ठानावहेलनं कृतं  
भवेत्, तदैवेदानो कल्याणितः कल्याणयो वाह मिति ज्ञेय मिति ।  
'सञ्जिहानः' शय्यां, शयनभावं वा त्यक्तुं प्रवृत्तस्तत्रैवोपविष्टः ।  
'उत्तिष्ठन्' शय्यां शयनभावं वा परित्यज्यान्वत्, शय्याया मेव वा  
दण्डायमानः । 'चरन्' अनलसः कर्म कुर्वन्निति ।

मनुसंहिताया मध्येवमेव युगलक्षणं संस्मृतम् ८ अ० ३०२ श्लो०—

“कलिः प्रसुप्तो भवति, स जाग्रद् द्वापरं युगम् ।

कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता, विचरंस्तु कृतं युगम्”—इति ।

तद्येतदपि प्रतीयते,— कलिर्वाद्यं युगम्, द्वापरं द्वितीयम्,  
त्रेता तृतीयम्, चतुर्थन्तु कृत मिति । द्वापरत्रेतेतिनामान्तर्गत-  
द्वित्रिशब्दतश्चैव मेव लभ्यते । तथा च कृतादेकपादावनतः काल  
उच्यते त्रेतेति, ततो द्विपादावनतो द्वापरम्, ततस्त्रिपादावनत एव  
कलियुग मिति । पुनरेकपादाद्युन्नत्या द्वापरादीनि युगानि भवन्ती-  
त्येव मेव सदैवावर्तन्ते युगानि । व्यक्तञ्चेदं श्रुतम्— “विवर्त्तेते  
अहनी चक्रियेव”—इति ऋ० सं० १. १८५. १ । प्रकृतिनियमो-  
ऽप्यत्रानुकूलः ; न हि कश्चित् कुमारः खल्वेकदैव तारुण्यं यौवनं  
चोत्तङ्ग्य वृद्धायते, नापि हि कश्चित् शयानोऽसञ्जिहानोऽनुत्तिष्ठंश्च  
स्यात् कार्यकुशल इति । एवं हि कलियुगानन्तरं कृतयुगागमन-  
प्रतीक्षणं भवेन्निसर्गव्यापारानुकूलवेदार्थानभिज्ञाना मेव । तत्त्वतस्तु  
कलियुगानन्तरं द्वापरागमनम्, ततो त्रेतागमनम्, ततः कृता-  
गमनम् ; चक्रवद् बभ्रम्यमानेऽस्मिन् जगति पुनः त्रेतागमनम्,  
ततो द्वापरागमनम्, ततश्च पुनः कलेः प्रादुर्भाव इत्येव वैदिकम्,  
क्रमोन्नतिक्रमावनतिविज्ञानसम्मतञ्च । क्रमोन्नतिपक्षस्तु प्रदर्शित-



युगश्लोकश्रुतितः सुव्यक्त एव, क्रमावनतिश्च तन्त्रायात् किन्न मन्तव्या  
 स्यादित्यत एतद्विपरीतं मतं वेदविरुद्धमित्यश्रद्धेयमेवार्थ्याणाम् ।  
 अपरं मपि,— यथा वर्षर्तौ सर्वर्तुसङ्गावः “वर्षा वै सर्वं ऋतवः”—  
 इत्युपक्रम्य वर्णितः शतपथे—“यदेव पुरस्ताद् वाति, तद् वसन्तस्य  
 रूपम् ; यत् स्तनयति, तद् ग्रीष्मस्य ; यद् वर्षति, तद् वर्षाणाम् ;  
 यद् विद्योतते, तच्छरदः ; यद् वृद्धोद्गच्छति, तद्धेमन्तस्य”—इति  
 ( २. ३. १. ७. ) । तथैवं हि सर्वयुगधर्माणां प्रतियुगाश्रितत्व-  
 स्वीकारोऽपि नासमञ्जस इति ॥

अथ तदानीन्तनविज्ञानानि । तत्र,

पृथिव्या गतिहेतुविज्ञानम्, द्यावापृथिवीसम्बन्धविज्ञानम्,  
 वृष्टिहेतुविज्ञानम्, उदकानां मतिङ्गासवृद्धाभावहेतुविज्ञानम्,  
 द्यावापृथिव्योरुभयोरेव प्रतिष्ठात्वविज्ञानञ्च यथा— “असौ वै  
 लोक इमं लोकं मभिपर्यावर्त्तते ततो वै द्यावापृथिवी अभवतां  
 न द्यावान्तरिक्षान्तरिक्षाद् भूमिः”—इति ४. ४. ५ । ‘असौ’  
 द्युलोकः सूर्यलोक इति यावत्, ‘इमं’ भूलोकम् ‘अभिपर्या-  
 वर्त्तते’ सदैव अभितः परितश्च ‘आवर्त्तते’ भ्रामयति । ‘ततः’  
 तस्माद् ‘वै’ एव ‘द्यावापृथिवी’ द्यावापृथिव्यौ परस्परसम्बद्धे  
 ‘अभवताम्’ । ‘अन्तरिक्षात्’ व्यवधानाद् ‘द्यावा’ द्युलोकः ‘न’  
 भूमितो विच्छिन्नः, तथा ‘भूमिः’ अपि तस्मात् ‘अन्तरिक्षात्’ व्यव-  
 धानाद् ‘न’ विच्छिन्नः । अतोऽत्रानुपदमुक्तम् “इमौ वै लोकौ  
 सहास्ताम्, तौ व्येताम्”—इत्युपपन्नम् । ‘इमौ लोकौ’ ‘सहास्तां वै  
 परस्परसम्बद्धावेव विद्येते, ‘तौ’ लोकौ ‘व्येताम्’ विवाहसम्बन्ध-  
 युक्तौ स्त्रीपुरुषाविव । एतयोः सम्बन्धज्ञापकहेतुश्चैवं निर्दिष्ट इहैव—  
 “नावर्षन् न समतपत् ते पञ्चजना न समजानत”—इति । एतेन

विज्ञायते व्युपर्यायः सूर्य एवात्र वृष्टिहेतुस्तापहेतुश्चेति । ‘पञ्चजनाः’  
ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या इति त्रिविधा आर्याः, दस्युदासाविति द्विविधा-  
वनार्याविति च पञ्चविधा मनुष्याः । तादृशविवाहस्य पुरोहिताः  
‘देवाः’ रश्मय एवेमे इत्याह— “तौ देवाः समनयंस्तौ संयन्तावेतं देव-  
विवाहं व्यहहेताम्”—इति । काव्योऽश एषः । तत्रैवं विवाहितयो-  
स्तयोः स्त्रीपुरुषयोर्मिथः प्रीतिहेतुं निगमयति—“धूमेनैवेय ममूं  
जिन्वति, वृष्ट्यासाविमाम्”—इति ४. ४. ५ । ‘धूमेन’ रसहेतुवाष्प-  
रूपेणेत्यर्थः । संहिताया मध्येव मान्नातम् ( १. १६४. ५१. )—

“समान मेतदुदक मुच्चैत्यव चाहभिः ।

भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः”—इति ।

‘अहभिः’ रश्मिभिः आकृष्टम् ‘एतत् उदकम्’ ‘उदेति’  
ऊर्ध्वं मागच्छति, ‘अव च’ नीचैरपि आगच्छतीत्येव । अत  
एव ‘पर्जन्याः’ मेघाः ‘भूमिं’ ‘जिन्वन्ति’ प्रीणयन्ति, ‘अग्नयः’  
अग्निजन्थानि धूमोद्भूतवाष्पाणि ‘दिवं जिन्वन्ति’ । अस्मादेव  
हेतोरुदकस्य क्वासवद्विराहित्यं चिरं तुल्य मित्याह ‘समा-  
नम्’—इति । अन्यथोदकस्योर्ध्वगमनाभावे क्रमादतिवृद्धिरेव स्यात्,  
तथा नीचैस्तत्पात मन्तरा क्रमात् समुद्रोऽपि शुष्येदिति  
वृष्टिनिदानविज्ञानमुदकसमत्वविज्ञानञ्च । एतयोः प्रतिष्ठारूपत्व  
मान्नातं यथा— “द्यावापृथिवी वै प्रतिष्ठे ; इय मेवेह प्रतिष्ठा  
असावमुत्र”—इति ३. ३. ५ । ‘इह’ भूलोके, ‘इयम्’ पृथिवी  
‘प्रतिष्ठा’ प्रतिष्ठानम्, ‘अमुत्र’ द्युलोके ‘असौ’ सूर्यः, प्रति  
ष्ठेत्येव तदर्थः । इत्थं द्युलोकभूलोकयोरुभयोरेवास्मत्प्रतिष्ठाहेतुत्वं  
च विज्ञापितम् ।

अथ पृथिवीभ्रमणविज्ञानम्, सूर्योदयास्तमयविज्ञानम् ;

अहोरात्रविज्ञानञ्च यथा—“स वा एष न कदाचनास्त मेति नोदेति । तं यदस्त मेतीति मन्यन्ते, अह्न एव तदन्त मित्वा-  
 यात्मानं विपर्यस्यते ; रात्री मेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात् ।  
 अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते, रात्रेरेव तदन्त मित्वायात्मानं  
 विपर्यस्यते ; अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रीं परस्तात् । स वा एष  
 न कदाचन निम्नोचति, न ह वै कदाचन निम्नोचति”—इति  
 २. ४. ६ । तदेतस्मादाम्नायात् सूर्यकर्तृकं पृथिव्या भ्रामणादिकं  
 विस्पष्टं भवगम्यते । एव मेवान्यत्रापि श्रूयते । तद्यथाथर्वणिकानां  
 गोपथे—“एतत् सुशस्ततर मिव भवति,—स वा एष न कदाच-  
 नास्त मयति, नोदयति ; तद्यदेनं पश्चादस्त मयतीति मन्यन्ते,  
 अह्न एव तदन्तं गत्वायात्मानं विपर्यस्यते ; अहरेवावस्तात् कुरुते  
 रात्रीं परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति, नोदयति ।  
 तद्यदेनं पुरस्तादुदयतीति मन्यन्ते, रात्रेरेव तदन्तं गत्वायात्मानं  
 विपर्यस्यते ; रात्रि मेवावस्तात् कुरुते, अहः परस्तात् । स वा एष  
 न कदाचनास्त मयति, नोदयति ; न ह वै कदाचन निम्नोचति”—  
 इति ( २. ४. १०. ) । छान्दोग्येऽपि ब्राह्मणे एव मेव सूर्यस्यो-  
 दयास्तमयाभाव आम्नातः, विशेषतोऽसहायस्य तस्य मध्यस्थत्वं  
 गतिराहित्यं मपि । तथाहि—“नैवोदेता नास्त मेता, एकल  
 एव मध्ये स्थाता । तदेष श्लोकः—

‘न वै तत्र निम्नोचति नोदियाय कदाचन ।

देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा’—इति ।

न ह वा अस्मा उदेति, निम्नोचति”—इति ( ५. ३१. १-३. ) ।

अत्र स्थातेति पदं गतिनिवृत्त्यर्थस्य स्थाधातोरिति सूर्यमण्डलस्य  
 गत्यभावश्च बोधितः, । अध्यात्मपक्षेऽप्येषा श्रुतिर्व्याख्येया ।

अथ देवताविज्ञानं यथा — “परोक्षप्रिया इव हि देवाः”—इति ३. ३. ८ । “न वै देवा अन्योऽन्यस्य गृहे वसन्ति, नर्तुर्ऋतोर्गृहे वसतीत्याहुः”—इति ५. २. ४ । “सत्यसंहिता वै देवाः”—इति च १. १. ६ । व्याख्यास्यामश्चेमाः श्रुतीः सप्तमे प्रकरणे ।

अथ सूर्यविज्ञानं यथा — “तेषु हि वा एष एतदध्याहित-स्तपति”—इति ४. ३. ४ । ‘तेषु’ पूर्वोक्तेषु लोकेषु ‘अधि’ मध्ये ‘आहितः’ परमेश्वरेण स्थापितः ‘एषः’ सूर्यः ‘एतत्’ सर्वं जगत् ‘तपति’ इत्यर्थः । तदेव मेषां पृथिव्यादिशनैश्चरान्तानां सर्वेषां मेव लोकानां मध्यस्थित एष सूर्यः, सर्वेषां मेषां तापकश्चेति विज्ञायते । सर्वेषाञ्च लोकानां शिरसा मुपर्येव दृश्यते सूर्य इत्यतस्तस्य सर्वत उत्तरत्व मपि विज्ञायते । तद्यथा — “स वा एष उत्तरोऽस्मात् सर्वस्माद् भूताद् भविष्यतः, सर्वं मेवेद मतिरोचते यदिदं किञ्च”—इति ४. ३. ४ । “उत्तरः = उदिततरो भवति”—इति यास्कः ( निरु० २. ३. २. ) । “विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः”—इति त्वसकृत समान्नातम् ( ऋ० सं० १०. ८६. १-२३. ) । इन्द्रस्तु तत्र सर्वत्रैव सूर्यः । सूर्यकर्तृकं पृथिव्या धारणं तु वेदेषु “दाधर्थ पृथिवी मभितो मयूखैः ( ऋ० सं० ७. ८८. ३ ; वा० सं० ५. १६. )”—इत्यादिभिर्मन्त्रैराम्नात मेव । ‘अमतिः ( निघ० ४८ )’—इतिपद-निर्वचनप्रसङ्गे ( ६. ३. ३. ) यास्केन ह्येष निगमः प्रदर्शितः—

“अभि त्वं देवः सवितार मोण्योः कविक्रतु

मर्चामि सत्यसवः रत्नधा मभि प्रियं मतिम् ।

ऊर्द्धा यस्यामतिर्भा अदियुतत् सवीमनि

हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः ॥”

—इति सा० सं० छ० आ० ५. २. ३, ८ ;— य० वा० सं० ५.



२५. १, २ ; — तै० सं० १. २. ६. २ ; — अथ० सं० १४. १, २ ।

‘अमतिशब्देनात्मप्रकाशगत मादित्यस्य विज्ञान मुच्यते ; स हि प्रकाशसतत्त्व एव नान्यत्प्रकाशान्तर मपेक्षत इत्युपपत्तिः’—इति तत्र दुर्गाचार्यः । सूर्यस्य तापहेतुत्वेन जीवनहेतुत्वञ्चान्यत्र श्रुतम् — “प्राणं तदादित्येन समिन्धे, तस्मादय मुष्णः प्राणः ; ०—० सर्वं तदात्मान मादित्येन समिन्धे, तस्मादयं सर्व एवात्मोष्णः । तद्वैतदेव जीविष्यतश्च मरिष्यतश्च विज्ञानम्— उष्ण एव जीविष्य-  
व्हीतो मरिष्यन्निति”—इति श० ब्रा० ८. ७. २. ११ । ‘सूर्यो नो’, ‘उदु त्वं’, ‘चित्त्वं’—इत्येवमादीनि सौरसूक्तान्यपीहालोचानि ।

अथ चन्द्रविज्ञानं यथा— “एतद्वै देवसोमं यच्चन्द्रमाः”— इति ७. २. १० । देवेन सूर्येण, देवैः सूर्यरश्मिभिर्वा पेयः सोमो देवसोमः । ‘योऽयं चन्द्रमा अस्ति, एतदेव ‘सोमं’ देवाना मपेक्षितं सोमद्रव्यसदृशं वस्तु’—इत्यर्थः कृतोऽत्र सायणाचार्येण । “एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम् । इन्द्रः सोमस्य काणुका ( ऋ० सं० ८. ७७. ४. )”—इतिमन्त्रस्य व्याख्यानाय प्रोक्त मेतद् यास्कमुनिना— “एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्रास्त्रिंशत् पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः, तद्या एता-  
श्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति, रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति”—इति ( ५. २. ६. ) । “य मक्षिति मक्षितयः पिबन्ति”—इत्यपि तत्रैव निगमः । तं पूर्वपक्षे आप्याययन्तीति च प्रमाणितं तत्र “यथा देवा अंशु माप्याययन्ति”—इतिनिगमप्रदर्शनेन । निगमा-  
वेतौ तैत्तिरीयसंहितायाम् ( २. ४. १४. २. ), अथर्वसंहितायां ( ७. ७. ३. ११. ) च पाठभेदतः समान्नातौ ; तत्त्वतस्त्रिमासव-  
दीयावेव विलुप्तशाखीयावित्यस्माकम् । अन्यत्र चोक्तम्— “सोऽस्यान्नं

तेन न म्रियते, य म्रच्छति म्रक्षितयः पिबन्ति”—इति ( निरु० ३. भा० ३८६ पृ० ) । ‘यम्’ ‘अक्षितिं’ सोमम् ‘अक्षितयः’ रश्मयः ‘पिबन्ति’, ‘सः’ सोमः सूर्यस्य ‘अन्नम्’ भक्ष्यम्, ‘तेन’ अन्नेन ‘न म्रियते’ नोपक्षीयते, सूर्य इति तदर्थः । शत-  
पथेऽपि — “सोमो राजा देवाना मन्नं यच्चन्द्रमाः”—इति ( २. ३. ४. ७. ) । तैत्तिरीयब्राह्मणे च — “सोमो वै चन्द्रमा एष ह वै साक्षात् सोमं भक्षयन्ति”—इति ( ३. ४. १०. ) । “अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते, तदेतेनोपेक्षितव्यम्, आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति”—इति च निरु० २. २. २ । “अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीचम् । इत्या चन्द्रमसो गृहे”—इति ( ऋ० सं० १. ८४. १५. ) मन्त्रश्चात्र मानम् । अत एव गां सुषुम्णनामसूर्यरश्मिं धारयतीति गन्धर्वश्चन्द्रमा उच्यते । तत एवोक्तं मिदं यास्केन—  
“सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः ( वा० सं० १८. ४०. ) इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते”—इति २. २. २ । अत्र चन्द्रमसि यः कलङ्को दृश्यते, स खलु देवयजनस्यास्य कर्मभूमेर्मर्त्यलोकस्य छायापातसम्भूत इति चान्नात मतिरेयेण — “एतद्वा इय ममुष्यां देवयजन मदधाद् यदेतच्चन्द्रमसि कृष्ण मिव”—इति ४. ४. ५ ।

अथ वायुविज्ञानं यथा — “वायुः प्राणः”—इति ३. १. २, “सवितृप्रसूतो ह्येष एतत् प्रवते”—इति १. २. १, “वायुर्वै यन्ता, वायुना हीदं यत मन्तरिक्षं न समृच्छति”—इति च ३. ५. ८ । वायोः प्रप्यायकत्ववर्षहेतुत्वे पुरस्ताद् व्याख्याते ( ५ पृ० ) । अत्र “इषे त्वोर्जे त्वा”—इत्यादिनिगमा अपि पर्यालोच्यः ।

अथाग्निविज्ञानं यथा — “अग्निर्वै देवाना मवमः”—इति १. १. १ । “अग्निर्वै परिक्षिदग्निर्हीमाः प्रजाः परिक्षेति, अग्निं हीमाः

प्रजाः परिक्षियन्ति”—इति ६. ५. ६ । अत्रैव ‘पारिक्षितीः शंसति’  
—इति तिसृणा मृचां शंसनं विहितम् ; ताः सर्वा एवर्चोऽग्नि-  
विज्ञानपराः । “अग्नेर्वा एतास्तन्वो यदेता देवताः ( ३. १. ४. )”  
—इत्यादिग्रन्थश्चाग्निविज्ञानपर एव । “अग्निर्वै शर्माणि अन्नाद्यानि  
यच्छति, अग्नि मेव तत् कल्पयति, अग्नि मप्येति”—इति २. ५. ८ ।  
“आग्नेयो ह्योषधयः ( १. २. १. )”—इत्येवमादिश्रुतयश्चेहालोच्याः ।

अथावविज्ञानं यथा— “अद्भिरभिषिञ्चन्ति ; रेतो वा आपः,  
सरेतस मेवैनं तत् कृत्वा दीक्षयन्ति”—इति ( १. ४. ६. ), “अमृतं  
वा एतदस्मिंस्लोके यदापः”—इति ( ८. ४. ६. ), “आपो वरुणस्य  
पत्न्य आसन्, ता अग्नि मभ्यध्यायन्, ताः समभवन्, तस्य रेतः  
परापतत्, तद्भिरण्य मभवत्”—इत्यादि चान्यत्र ( तै० ब्रा० १. १.  
३. ८. ) । श्रुता चैषा ऋक्, ऋक्संहितायाम् ( १. २३. २०. )—

“अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

अग्निञ्च विश्वशम्भुव मापञ्च विश्वभेषजीः”—इति ।

इतो ज्ञायते सोमाग्निभागसम्मिलनेन जातं जल मिति । तथा  
तैत्तिरीयारण्यकेऽपि— “आपो ज्योतिरसोऽमृतम्”—इति ( १०.  
१७. ) । इतश्चावगम्यते,— अप्सु ज्योतिर्भागो रसभागश्चेत्युभौ  
विद्येते, अमृतत्वञ्चास्तीति । यद्युचेत, पाश्चात्यविज्ञानत एवैवं  
लभ्यते, तदेतदिह तद् दृष्ट्वैव कल्पयत इति । अत्र ब्रूमः,— इत्य मेव  
भवति सर्वत्र सर्वविधान्तर्हितवस्तूना मुपलब्धः ;— कालप्रभावतो  
भूगर्भेऽन्तर्हितानां हर्म्यवर्मकरिकरपञ्जरमुद्रादीनां लाभोऽप्येव  
मेवानुसन्धानतो भवति ; न हि तथा लब्धान् पदार्थान्  
मृषाकर्तुं कोऽपि शक्नोति ; तथैव आदिविज्ञानानि यानि तमः-  
कालप्रभावादितः क्रमाद् नुपलब्धिज्ञतानि, तेषां सर्वेषा मेकस्य

वा कस्यचित् कथं मपि सन्धानं माप्य यदि कश्चित्तदाविष्करणे मनो निवेशयेत्, स श्रुतकल्पनाकृदिति कथं मया ह्यवचनो भवेदिति । तद्यथा, भ्राम्यमानेऽस्मिन्नुन्नत्यवनतिकरे कालचक्रे अथ वा पाश्चात्यविज्ञानप्रभावजा विद्युत्क्रिया दृश्यते, आयास्यति हि तमःकाले सैषा भविष्यत्येवान्तर्हिता ; पुनः प्रकाशकाले समुपस्थिते कश्चित् कथं मप्येतदनुसन्धानं मुपगत्यास्याविष्कारं कर्तुमेषिष्यति चेत्, स किं कल्पनाकृदिति वाच्यो भविष्यतीति ते पाश्चात्यविज्ञानविद एव विचारयन्तु । “अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्”—इति च स्पष्टम् ( तै० आ० ६. ८. ) । “अपां रसस्य यो रः”—( तै० सं० १. १२. २. )—इत्यादयश्च श्रुतयोऽत्रालोचनीयाः । अपान्नपादिति ज्योतिर्नाम तन्निरुक्त्यादिकञ्च पर्यालोच्यम् ( निघ० ५. ४. ११ ; निरु० १०. २. ५. ६. ) । पुरातनाङ्गे ज्योतिःप्रकाशे ऽयुक्संहितायां श्रुतः । तद्यथा — “आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवि”—इति ८. ६. ३० ।

विष्णुविज्ञानं यथा—“विष्णुः परमः”—इति १. १. १ । विष्णोस्त्रिविक्रमणादिकं च स्पष्टं माम्नातं शतपथे— १. ६. ३. ७-१२ । इदं विष्णुविचक्रमे०—०व्यस्कन्नाद्रोदसी । विष्णुरेते दाधार पृथिवी मभितो मयूखैः”—इति च तै० सं० १. २. १३. २. । स एष विष्णुः सूर्य एव । विष्णुविवरणन्विवह पुनः सप्तमे प्रकरणे विशेषतो वर्णयितव्यं मस्तीतोहालं पल्लवितेन ।

अथ गर्भादिविज्ञानं यथा—“पराञ्चो गर्भा धीयन्ते, पराञ्चः सम्भवति ; ०—० मध्ये गर्भा धृताः ०—० अमुतोऽवाञ्चो गर्भाः प्रजायन्ते”—इति ( ३. १. १०. ) । “रेतस्तत् सिक्तं विकरोति ; सिक्तिर्वा अग्रेऽथ विक्रतिः ०—० रेतस्तद् विकृतं प्रजनयति ; विक्र-

तिर्वा अग्रेऽथ जातिः”—इति ( २. ५. ७. ) । “न्यूने वै रेतः सिक्तं मध्यं स्त्रियै प्राप्य स्थविष्ठं भवति”—इति ( ६. ३. १. ) । “तथा गर्भो योन्या मन्तरेवं सम्भवच्छेते, न वै सकृदेवाग्रे सर्वः सम्भवति, एकैकं वा अङ्गं सम्भवतः सम्भवति”—इति ( ६. ५. ५. ) । षड्विधं वै पुरुषः षडङ्ग आत्मान मेव तत् षड्विधं षडङ्गं विकरोति’—इति ( २. ५. ७. ) । “चक्षुः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवति”—इति ( ३. १. २. ) । “ज्यायान्सन् गर्भः कनीयांसं सन्तं योनिं न हिनस्ति”—इति ( ५. २. १०. ) । “मुक्ता गर्भा जारायो जायन्ते—० सहैवोल्बेन कुमारी जायते”—इति ( १. १. ३. ) । “मुष्टी वै कृत्वा गर्भो अन्तः शेते, मुष्टी कृत्वा कुमारी जायते”—इति ( १. १. ३. ) । “कुमारं जातं संवदन्ते प्रतिधारयति वै ग्रीवा अथो शिर इति”—इति ( ३. १. २. ) । “कुमारं जातं संवदन्त उप वै शुश्रूषते नि वै ध्यायतीति”—इति ( ३. १. २. ) । “कुमारी जातः पञ्चैव प्रचरति”—इति ( ३. १. २. ) । “कुमारं जातं जघन्या वागाविशति”—इति ( ३. १. २. ) । अथाप्यस्यैवारण्यके—“पुरुषे ह वा अय मादितो गर्भो भवति, यदेतद्रेतस्त देतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूत मात्मन्येवात्मानं विभर्त्ति ; तद् यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति”—इति ( २. ५. १. ) । अत्रैवान्ते सृतानां जन्तूना मातिवाहिकदेहधारणं पुनर्जन्मविज्ञानञ्चान्नातम्—“अथास्याय मितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते”—इति । आतिवाहिकदेहधारणन्वन्यत्वापि सुव्यक्तम्—“तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाथात्मान मुपसंहरति”—इत्यादि श० ब्रा० १४. ७. २. ४ द्रष्टव्यम् ।

अथ शारीरादिविज्ञानं यथा—“रेतः पुरुषस्य प्रथमं सम्भ-



वतः सम्भवति”—इति ( ३. १. २. ) । “उर्द्धाः पुरुषस्य भूयांसः प्राणाः”—  
—इति ( ६. ३. ५. ) । “प्राणास्त इमेऽवाचो रेतस्यो मूत्राः पुरीष-  
इति”—इति, “प्राणो वा अयं सन् नाभेरिति, तस्मान्नाभिस्तन्नाभे-  
र्नाभित्वम्, प्राण मेवास्मिंस्तद्वधाति”—इति ( १. ४. ३. ) । “पुरा-  
नाभ्या अपि शसो वपा मुत्खिद्यात्”—इत्यादीनि वचनानि च ( २.  
१. ६. ) शारीरतत्त्वबोधकानि । “मुखतो वै प्रजा अन्नं मदन्ति०-०  
मध्यतो वै प्रजा अन्नं धिनोति ”—इति ( ५. १. ३. ) । एकं सच्च-  
क्षुर्देधा”—इति ( २. ४. ८. ) । “अनन्तरं मक्षणः कृष्णम्०—० येनैव  
कनीनिका येन पश्यति”—इति, “अन्तरं कर्णस्य येनैव शृणोति”—  
—इति, “अन्तरं नासिकयोः येनैव गन्धान् विजानाति”—इति,  
“अन्तरं मुखस्य जिह्वा-तालु-दन्ताः०—० येनैव वाचं व्याकरोति,  
येन स्वादु चास्वादु च विजानाति”—इति च ( ५. ४. ३. ) । “पाङ्क्तोऽयं  
पुरुषः पञ्चधा विहितो लोमानि त्वङ् मांसं मस्थि मज्जा”—इति  
( २. २. ४. ) । “षड्विधो वै पुरुषः”—इत्यादि च ( २. ५. ७. ) ।

अथ खाद्यविज्ञानं यथा— “अमृतं वा एतदस्मिंस्लोके यदापः”—  
—इति ( ८. ४. ६. ), “रेतो वा आपः”—इति ( १. १. ३. ),  
“आज्यं वै देवानां सुरभि, घृतं मनुष्याणाम्, आयुतं पितॄणां, नव-  
नीतं गर्भाणाम्”—इति ( १. १. ३. ), “इन्द्रयं वा एतस्मिं-  
स्लोके यद् दधि”—इति ( ८. ४. ६. ), तेजो वा एतद् घृतम्”—  
—इति ( ८. ४. ६. ), “यद् घृतं तत् स्त्रियै [ स्त्रियाः ] पयो  
ये तण्डुलास्ते पुंसः”—इति ( १. १. १. ) । “रसो वा एष ओषधि-  
वनस्पतिषु यन्मधु”—इति ( ८. ४. ६. ), “स वा एष पशुरेवाल-  
भ्यते यत् पुरोडाशः”—इत्यादि च ( २. १. ६. ) । विसाना मपि  
खाद्यत्वं तदासीत् प्रशस्तम् । तदिदं ५. ५. ५ द्रष्टव्यम् ।

‘विसानि = पद्ममूलानि’-इति तद्भाष्ये सायणः । अस्मन्मते तु मृणालानीति विशेषः । अन्यच्च पयोविकाराणां दशानां स्वाद्याना मपि नामान्याम्नातानि— “गौर्वै प्रतिधुक्, तस्यै मृतं, तस्यै शरः, तस्यै दधि, तस्यै मसु, तस्या आतञ्चन, तस्यै नवनीतं, तस्यै घृतं, तस्या आमिक्षा, तस्यै वाजिनम्”—इति श० ब्रा० ३. ३. ३ ।

अथ भेषजविज्ञानं यथा— “तेजो वा एतदक्ष्योर्यदाञ्जनम्”—इति १. १. ३ । “ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यं, —० मृत्युर्वै तमश्छाया, तेनैव तज्ज्योतिषा मृत्युं तमश्छायां तरति”—इति ७. २. ११ । औषधार्थं तद्वियोगविधिरप्यन्यत्राम्नातः— “हिरण्याद् घृतं निष्पिबति, आयुर्वै घृत ममृतं हिरण्यम्, अमृतादेवायुर्निष्पिबति शतमानं भवति”—इति तै० सं० २. ३. ११. ८ । अत्राह तत्सूत्रकारः— “खादिरं पात्रं चतुःस्त्रक्ति प्रयुनक्ति सौवर्णस्य प्रवर्त्तं शतमानस्य कृतम्”—इति, “ध्रुवां खादिरं सादयित्वा तस्मिन् प्रवर्त्तं सवदधाति”—इति च तत्रैव । ‘प्रवर्त्तः कर्णाभरणं कुण्डलम्—इति, ‘शतमानं पञ्चपलपरिमितम्’—इति, ‘मानशब्दो गुञ्जावीजं ब्रूते’—इति च तत्रैव सा० भा० । वपाया रेतोरूपत्वाख्यानेन रेतोवृद्धिकरत्वं श्रुतम्, सुसूक्ष्मसुवर्णपत्रमण्डितां कृत्वौषधार्थं तस्या व्यवहारश्चेह ध्वनितः । “सा वा एषा रेत एव यद्वपा; प्रेव वै रेतो लीयते, प्रेव वपा लीयते; शुक्लं वै रेतः, शुक्ला वपा; शरीरं वै रेतो शरीरा वपा; यद्वै लोहितं यन्मांसं तच्छरीरं तस्माद् ब्रूयाद्यावदलोहितं तावत्परिवासयेति०—० वपाज्यस्योपस्तृणाति हिरण्यशल्क आज्यस्योपरिष्ठादभिघारयति”—इति ( २. २. ४. ) । पयस्यायाः कुक्कुरविषनाशकत्वञ्चेह सूचितम्— “आसुरी वै दीर्घजिह्वी देवानां प्रातस्सवनं मवालेट्”—इत्यादिना ( २. ३. ४. ) ।

ब्राह्मणस्य भिषग्व्यवसायनिषेधोऽप्यन्यत्र— “ब्राह्मणेन भेषजं न कार्यम् ; अपूतो ह्येषोऽमेध्यो यो भिषक्”—इति तै० सं० ६. ३. ६. २ । भेषजकरणकाले ब्राह्मणस्य तत्रोपवेशनन्तु विहितम्— “उदपात्रमुपनिधाय, ब्राह्मणं दक्षिणतो निषाद्य, भेषजं कुर्यात्”—इति च तत्रैव ( ४. ) ।

भेषज्यस्य त्रिधात्वमपि विहितं तत्रैव— “अग्नी तृतीयम्, अप्सु तृतीयम्, ब्राह्मणे तृतीयम्”—इति । तृतीयं = तृतीयांशम् ; रोगनिर्हरणसामर्थ्यं मिति यावत् ।

सामान्यरोगनाशाय धीराणां प्रकृतेरानुकूल्याय कालप्रतीक्षणमेव भेषजमिति च सिद्धान्तितमिह दृश्यते । तथाहि— “अश्विनौ वै देवानां भिषजौ”—इति ( १. ४. १. ) । अश्विनौ = अहोरात्रौ ( १२. १. १. ) इत्यपि निरुक्तसिद्धान्तः, “विद्वांसो वै देवाः”—इति च श० ब्रा० ३. ७. ३. १० ।

अथ कालविज्ञानम्— “उषस्यागताया मरुणमिवैव प्रभात्युषसो रूपम्”—इति ४. २. ३ । “तम इव हि रात्रिर्मृत्युरिव”—इति ४. १. ५ । “द्वादशमासाः संवत्सरः”—इति १. १. १ । “त्रयोदशो मासो नानुविद्यते”—इत्यादि ३. १. १ । “पञ्चत्तर्वो हेमन्तशिशिरयोः समासेन, तावान्संवत्सरः”—इति १. १. १ । “पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य, यद्यु षडेवत्तर्वः”—इति तु शतपथे ४. ५. ५. १२ । “त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य”—इति च तत्रैव १४. १. १. २८ । “त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि”—इति २. २. ७, “सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः”—इति च २. २. ७ ।

अथ दिग्विज्ञानं यथा— “मयैव ( आदित्येनैव ) प्राचीं दिशं

प्रजानाथानिना दक्षिणां सोमेन प्रतीचीं सवित्रोदीची मिति ।

०—० पुर उदेति पश्चास्त मेति०—०, दक्षिणतोऽग्र ओषधयः  
पचमाना आयन्त्याग्नेय्यो ह्योषधयः०—०, प्रतीच्यो ह्यापो बह्वः  
स्यन्दन्ते, सौम्या ह्यापः०—०, उत्तरतः पश्चादयं भूयिष्ठं पवमानः  
पवते, सवितृप्रसूतौ ह्येष एतत् पवते”—इति १. २. १ ।

अथ देशप्रकृतिविज्ञानं यथा— “उत्तरतः पश्चादयं भूयिष्ठं  
पवमानः पवते”—इति, दक्षिणतोऽग्र ओषधयः पचमाना आयन्ति”  
—इति, “प्रतीच्योऽह्यापो बह्वः स्यन्दन्ते”—इति च १. २. १ ।  
प्रत्यञ्चि दीर्घारण्यानि भवन्ति”—इति ३. ४. ६ । प्राच्यो ग्रामता  
बहुलाविष्टा”—इति ३. ४. ६ । प्राच्यां वै दिशि देवाः सोमं  
राजान मक्रीणन्”—इति च १. ३. १ ।

अथ शिल्पविज्ञानं यथा— “देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पाना  
मनुकृती ह शिल्प मधिगम्यते,— हस्ती कंसो हिरण्य मश्वतरी-  
रथः शिल्प मिति”—इति १. ३. ५, २. १. २ । अथान्यत्रापि—  
“यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्”—इति ( शत० ब्रा० ३. २. १. ५. ),  
“एतच्छिल्प मेष वर्णः”—इत्यादि च तत्रैव ( १. १. ४. ३. ) ।  
तैत्तिरीयब्राह्मणान्नातमन्त्रयोस्त्वन्यविध मपि ( २. ७. १५. २, ३.  
३. २. १. ) “दिवः शिल्प मवततम्”—इत्यादि, “येभिः शिल्पैः  
पप्रथाना मष्टहत्”—इत्यादि चेति ।

अथ शब्दार्थविज्ञानं यथा— “यद्वै देवानां नेति तदेषा मो  
म्”—इति ६. ५. १ । शतपथेऽप्येवम्— “यद्वै नेत्यृचि ओ मिति  
तत्”—इति १. १. १. ३० । एतदुदाहरणं मेवेद गम्यते—  
“गौतम ! कं त्वं वैश्वानरं वेत्य ? इति, पृथिवी मेव राजन्निति  
होवाच, ओम् इति होवाच”—इति १०. ६. १. ४ । पुनस्तत्रैव

तत उत्तरं देवसङ्ख्याननिर्णयप्रसङ्गे — ११. ६. ३. ४ । “ओ३  
मित्यृधः प्रतिगर एवं तथेति गाथायाः ; ओ मिति वै दैवं तथेति  
मानुषम्”-इति चैतरेये ( ७. ३. ६. ) । “तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो  
वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति, तानेकधा समभरत् ,  
तदेतदो मिति”-इति, “ओ मिति वै स्वर्गो लोकः , ओ मित्यसौ,  
योऽसौ तपति”-इति, “ओ मिति प्रणौति”-इति चात्रैव ( ५. ५.  
७. ) । “ये वा अनूचानास्ते कवयः”-इति २. १. २, “ये वै ते न  
ऋषयः पूर्वं प्रेतास्ते वै कवयस्तानेव तदभ्यतिवदति”-इति च  
६. ४. ४ । “विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस”-इति  
६. ४. ४ । “हिरण्यकशिपावासीन आचष्टे, हिरण्यकशिपावासीनः  
प्रतिगृह्णाति ; यशो वै हिरण्यम्”-इति च ७. ३. ६ । शतपथ-  
तैत्तिरीययोस्त्रितोऽधिकतरं शब्दार्थविज्ञानं द्रष्टव्यम् ।

इहोदाहृतेभ्योऽन्यान्यपि बह्वन्याचारव्यवहारविज्ञानवचनानी-  
होपलभ्यन्ते, तानि चालोचनयोग्यानीत्यकथित मपि सिद्धम् ॥

( ६ )

अथेतद् विचार्य मस्ति, कस्याः शाखाया इदं मैतरेयकं  
ब्राह्मण मिति । तत्रादौ शाखापदार्थो निरूपणीयः, ततः  
कति शाखा ऋग्वेदस्य ? , किन्नामिका चाद्य प्रचलितेय मिति  
निर्णेतव्यम्, तत्सहैव लुप्तलुप्तविचारणा चेति ।

अस्ति बहुषु पुराणेषु शाखाकथा वर्णिता, तत्र च विष्णुभाग-  
वतयोर्विशेषेण । तद्यथा ऋक्शाखानिर्णयप्रसङ्गे —



“विभेदं प्रथमं विप्रः पेल ऋग्वेदपादपम् ।  
 इन्द्रप्रमत्तये प्रादात् वाष्कलाय च मंहिते ॥  
 चतुर्धा स विभेदाय वाष्कलिर्निजसंहिताम् ।  
 बोध्यादिभ्यो ददौ तास्तु शिष्येभ्यः स महामुनिः ॥  
 बोध्याग्निमाठरौ तद्वद् याज्ञवल्क्यपराशरौ ।  
 प्रतिशाखास्तु शाखायास्तस्यास्ते जगृहुर्मने ॥  
 इन्द्रप्रमत्तिरेकां तु संहितां स्वसुतं ततः ।  
 माण्डुकेयं महात्मानं मैत्रेयाध्यापयत् तदा ॥  
 तस्य शिष्यप्रशिष्येभ्यः पुत्रशिष्यान् क्रमाद् ययौ ।  
 वेदमित्रस्तु शाकल्यः संहितां ता मधीतवान् ॥  
 चकार संहिताः पञ्च शिष्येभ्यः प्रददौ च ताः ।  
 तस्य शिष्यास्तु ये पञ्च तेषां नामानि वै शृणु ॥  
 मुद्गलो गालवश्चैव वाक्यः शालीय एव च ।  
 शिशिरः पञ्चमश्वासीत् मैत्रेयः सुमहामुनिः ॥  
 संहितान्नितयं चक्रे शाकपूणिरेतरे ॥  
 निरुक्तं मकरोत् तद्वत् वलाकश्च महामतिः ॥  
 निरुक्तकृच्चतुर्थोऽभूद् वेदवेदाङ्गपारगः ।  
 इत्येताः प्रतिशाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम ॥  
 वाष्कलिश्चापरस्तिस्त्रः संहिताः कृतवान् द्विजः ।  
 शिष्यः कालायनिर्गार्ग्यस्तृतीयश्च कथाजवः ।  
 इत्येते बह्वृचाः प्रोक्ताः संहिता यैः प्रकीर्तिताः ॥”

—इति वि० पु० ३. ४. १६-२५ ।

अथ भागवते १ स्क० ४ अ० २३ श्लो०—

“त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ।

शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्तेशाखिनोऽभवन् ॥”-इति ।

पुनस्तत्रैवान्यत्र ऋक्शाखावर्णनप्रसङ्गे १२ स्क० ६ अ०—

“पेलः स्वसंहिता सूचे इन्द्रप्रमितये मुनिः ।

वाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम् ॥

चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव ।

पराशरायान्निमाठरायेन्द्रप्रमतिरात्मवान् ॥

अध्यापयत् संहितां स्वां माण्डुकेय ऋषिं कविम् ।

तच्छिष्यो देवमित्रश्च सौभार्यादिभ्य ऊचिवान् ॥

शाकल्यस्तत्सुतः स्वां तु पञ्चधा व्यस्य संहिताम् ।

वात्स्यमुद्ग नशालीयगोखल्यशिशिरे ष्वधात् ॥

जातूकर्णश्च तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम् ।

बालाकपेङ्गावेतालविरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥

वाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो बालखिल्याख्यसंहिताम् ।

चक्रे बालायनिर्भुज्युः काशीरश्चैव तां दधौ ॥

बह्वृचाः संहिता ह्येता एतैर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः ।

श्रुत्वैवं क्रन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥”-इति ।

इत्थं नु गम्यते वेदांशा इति, शाखा इति चाभिन्नार्थे पदे । एवं हि यथा भागवतोऽयं द्वादशभिः स्कन्धैर्विभक्तः, पुनस्तत्स्कन्धाश्च बहुभिरध्यायैर्विभक्ताः, तथैव एको वेदः प्रथमं चतुर्धा विभक्तः, पुनस्ते चत्वारो भागाश्च बहुधा विभक्ताः ; स एवैकैको भाग-भागः शाखेति व्यपदिश्यत इति । तथा च यथा भागवतीय-प्रत्य-ध्यायस्य पाठो भिन्नो विषयश्च विभिन्न एव एवं प्रतिशाखं मन्त्रा-न्त्राथोऽपि भिन्न उपदेशाश्च विभिन्ना एव ; किञ्च यथा भागवतस्य कस्मिन्नप्येकस्मिन्नध्यायेऽतीते न त्वेकस्यापि स्कन्धस्याध्ययनं सम्पद्यते

तथैव कस्या मप्येकस्यां शाखाया मधीतायां नैवैकस्य वेदस्याध्ययनं  
भवेत् सम्पाद्य मिति । आह चैतत् समासतः कूर्मपुराणे —

“एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा ।

शाखानान्तु शतेनाथ यजुर्वेद मथाकरोत् ।

सामवेदं सहस्रेण शाखानाञ्च विभेदतः ।

अथर्वाण मथो वेदं विभेद नवकेन तु ।

भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः”-इति १. ५१ ।

एवञ्च यथा पुराणानि एकव्यक्तिकृतानि अष्टादशसङ्ख्याकानि,  
तथैव वेदशाखाः सर्वा अप्येकव्यक्तिनैव वेदानां खण्डखण्डीकरणेन  
सम्पादिता मिथः पार्थक्य मापन्ना इत्येवाभिमतं तेषाम् । अतः  
एवोक्तं बाङ्ग-तर्कवाचस्पतिना स्वकृते वाचस्पत्ये— “शाखा वेदैक-  
देशे”-इति, “चरणो वेदैकदेशे शाखापरपर्याये ; ‘गोत्रं च  
चरणैः सह’ महाभाष्य-का०”-इति च । बाङ्ग-विश्वकोषकारा-  
दयोऽप्येतच्चरणानुचारा एव । तथाच वेदपरिच्छेदविशेषो वेदांशः  
शाखापदार्थे निष्पद्यते, बहूना मनधिमतवेदानां तत्त्वतो ब्रह्मबन्धूना  
मेव मेव विश्वासश्च ।

तदेवं पुराणवर्णितं शाखाविभागमतं प्रेक्षावतां वेदविदुषां  
स्यादुपेक्षणीयम् ; आप्तवचनानुमानप्रत्यक्षतस्तथाप्रतीतिः ।

तथाहि— आस्मात् मिदं कौपीतक्यारण्यके वंशब्राह्मणे—  
“अथ वंशो नमो ब्रह्मणे नम आचार्येभ्यो०—० गुणाख्याच्छाङ्गा-  
यनादन्नाभिरधीतं , गुणाख्यः शाङ्गायनः कहोलात्”-इत्यादि  
( १४ अ० ) । एतस्यैव कहोलशिष्य-शाङ्गायनपरैरध्ययनभेदादितः—  
सञ्ज्ञाता शाङ्गायनी शाखा ; सेय मृक्शाखातीव प्रसिद्धा ।  
अहो ! अस्या नामापि न स्मृतं विष्णुभागवतपुराणयोरिति

स्फुट मिहासवचनानैक्यम् । यच्चोक्तं कौर्मै वैयासिक्य एव सर्वाः  
शाखा इति, तदप्येतत्तदासवचनविरुद्धम् ।

अपरथाप्यासवचनविरोध उपलभ्यते यथा— अस्ति शौनकीया  
अनुवाकानुक्रमणी, तत्र शाकलबाष्कलशाखयोः प्रथममण्डलगत-  
क्रमपार्थक्यप्रदर्शनायोक्तम् —

“गौतमादौशिजः कुक्षः परुच्छेपादृषेः परः ।

कुक्षाद् दीर्घतमा इत्येष तु बाष्कलकः क्रमः”—इति ( २१. )।

“अथ बाष्कलकैःस्य विशेष माद्यमण्डले आह,— उपप्रयन्तो  
नासत्याभ्याम् अग्निं होतारम् इमं स्तोमं वेदिषद इति बाष्कलकः  
क्रमः ; उपप्रयन्त इमं स्तोमं नासत्याभ्याम् अग्निं होतारं वेदिषद  
इति शाकलकः क्रम इत्यर्थः । अथैव मुक्तेरुत्तरमण्डलनवके न क्रम-  
विपर्यासः”—इति तट्टीका षड्गुरुशिष्यकृता । एवं हि शाकलबाष्क-  
लयोः क्वचित् क्वचिन्मन्त्रपाठक्रमान्यत्वेऽपि ग्रन्थैकत्वं सुव्यक्तम् ।

किं बहुना, महामुनिवेदव्यासप्रणीत इति यः प्रसिद्धश्चरण-  
व्यूहाख्यः खल्लो ग्रन्थः, तत्राप्युक्तम्— “तेषा मध्यायाश्चतुष्षष्टिः”—  
इत्यादि शाखापरिच्छेदादीना मैकविध्यम् ; ‘तेषा माश्वलायनादि-  
शाखानां समानाध्ययनं सूचयति’—इति हि तद्व्याख्यानम् । तदेवं  
ऋद्धविष्णादिपुराणानां शाखाभेदप्रकरण मासवचनानैक्यविरोधा-  
दितो जलमध्यस्थमसिद्धोदवत् विलीयत इति सुतरा मभ्युपेयम् ।

सन्ति च प्रदर्शितपौराणिकमतविरोधप्रमापकानि स्मृतिवच-  
नानि । तद्यथा— “वेदः कृतस्त्रोऽधिगन्तव्यः”—इत्यस्ति ( २.१६५ )  
अनुशासनम् ; ततदिदं कृतस्त्राध्ययनं तन्नये सहस्रशाखसामवेदिना  
मैकस्मिन्नायुषि कथङ्कारं भवेत् सम्पाद्यम् ? विहितञ्च तद-  
ध्ययनं द्वादशस्वेवाब्देषु तत्रैव — “षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरोस्त्वै-

वैदिकं व्रतम्”—इति ( ३. १. ) । विष्णुगौतमयाज्ञवल्क्यसंहिता-  
स्वपि प्रतिवेदं द्वादशाब्दं ब्रह्मचर्यं विहितम् । “वेदानधीत्य वेदो  
वा वेदं वापि यथाक्रमम् । अविप्रुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रम मावसेत्”  
—इत्येवमादीनि वचनानि च (म० ३. २.) द्रष्टव्यानि । तस्मात् पौरा-  
णिकः शाखाभेदो मन्वादिमतविरुद्ध इत्यनुमानञ्च नासङ्गतम् ।

अत्रापि संशयश्चेत् , कस्याप्येकस्य वेदस्य कतमयोरपि द्वयोः  
शाखयोराद्यन्तपाठदर्शनादेव स विलीयः, विलीयेत च तदा ‘वेदांशाः  
शाखाः’ इति पौराणिकं मतं सूर्योदये यथान्धकारः ; प्रत्यक्ष-  
दृश्यं ह्येतत् ।

वस्तुतोऽतिप्राचीनकाले लिपेरभावात् लिखितपाठकस्य निन्दा-  
श्रवणाद्वा वेदानां लिखितपाठ्यत्वाभावादासीदानुश्रविकत्वम् ;  
ततः कालभेददेशभेदव्यक्तिभेदादिभिरध्ययनक्रमोच्चारणादिभेदात्  
क्रमभेदाः पाठभेदाश्च सम्पन्नाः, तत एवैकैकस्य वेदस्य बहुनामतो  
बह्व्यः संहिताः प्रसिद्धिताः, तासु मन्त्रपाठन्यूनातिरिक्तता  
च किञ्चित् सञ्जाता ; आचार्याणां प्रकृतिवैषम्यात् तत्तद्देश-  
कालाद्यनुरोधाच्च अनुष्ठेयभेदाः प्रयोगभेदाश्चाभवन्ननिवार्याः ;  
तत एव ब्राह्मणबाहुल्यं कल्पबाहुल्यञ्च सुतरां सम्पन्नम् । इद-  
मेव शाखाभेदनिदानम् । तदिदं मेकैकस्य वेदस्य बहुशाखत्वेऽपि  
एकैकस्थाः शाखाया अध्ययनत एव भवेदधीत एवैकैको वेदः ;  
सर्वास्वेव शाखासु मूलसंहितैक्यदर्शनात् ; किञ्चित्पाठन्यूनाति-  
रिक्तेन, किञ्चित् पाठक्रमोच्चारणभेदेन, किञ्चिदनुष्ठानपद्धतिभेदा-  
दिना च न ह्येवाभवत् वास्तविकः संहिताभेदः ।

अतोऽत्र त्वेव मेवावधार्यम्— एष किल वेदशाखाभेदो न  
ल्लोककर्तृकः, न च ब्रह्मविष्णुपुराणादियन्यभेदवत्, नापि प्रथमाद्य-



ध्यायभेदतुल्यः ; प्रत्युत भिन्नकालदेशव्यक्तिलिखिताना मेकग्रन्थी-  
यानां बहुतरादर्शपुस्तकाना मवश्यम्भाविन एव पाठभेदादिभावाः,  
तथाभूतपाठभेदादिहेतुक एवेति । एव मपि यजुषः कतिपयशाखा-  
भिः कतिपयशाखानां महानस्ति प्रभेदः, अत एव तयोर्द्विविधयोः  
शाखासमूहयोः शुक्लकृष्णत्वेऽमंसत प्राचीनाः । तथा च माध्य-  
न्दिन्यादीनां यजुःशाखानां शुक्लयजुरिति समाख्या, तैत्तिरीया-  
दीनान्तु कृष्णयजुरिति । ईदृशासदृशभेदकारणन्तु बह्वक्तिवेद्य  
मित्यल मिह प्रसङ्गकीर्तनाडम्बरेणेति ।

तत्त्वतो न हि वेदशाखा, वृक्षशाखिव ; नापि नदीशाखिव ;  
प्रत्युताध्येतभेदात् सम्प्रदायभेदजन्याध्ययनविशेषरूपैव ; अत एव  
शिष्यशाखापरम्परेति वचन मद्यापीह भारते प्रसिद्धम् । चरण-  
शब्दोऽपीह न तु पादार्थत्वमूलको भागार्थः , अपि त्वाचरणार्थः ;  
सन्ति हि शाखास्वनुष्ठानाचरणभेद इति शाखावचनः । तदुक्तं  
“गोत्रञ्च चरणैः सह”—इत्यस्य ( पा० सू० ६. १. ६३. ) व्याख्याने  
कौयटेन— ‘चरणशब्दोऽध्ययनवचनः इह तूपचारादध्येतषु वर्तते’  
—इति । ‘शाखाध्येतवाची च जातिकायं लभते । कठी, बह्वची’  
—इति च तत्सूत्रीयसिद्धान्तकौमुदी । ‘चरणः शाखाध्येता०—०  
कठेन प्रोक्त मधीयाना वा कठी’—इत्येव तद्व्याख्या तत्वबोधिनी ।  
“अनुवादे चरणानाम् ( पा० सू० २. ४. ३. )”—इत्यस्य व्याख्यायां  
नागेशोऽप्याह— ‘चरणशब्दोऽत्र शाखाध्येतपरः’—इति । ‘शाखा-  
ध्येतवाचिना मित्यर्थः’—इति च तत्तत्वबोधिनी । “चरणे ब्रह्म-  
चारिणि”—इत्यस्य ( पा० सु० ६. ३. ८६. ) व्याख्याने व्यक्त माह  
दीक्षितः— “चरणः=शाखा”—इति । ‘तस्य समानत्वं वेदस्य  
व्रतस्य वा समानत्वात् , तस्य तत्त्वञ्च अध्येतभेदात् वेदभेदं व्रत-

भेदञ्च परिकल्प्य बोध्यन्ते’-इति च तत्र शेखरः । “चरणाद्वर्मा-  
न्नाययोः”-इत्यस्य ( पा० सू० ४. ३. १२०. वा० ११. ) व्याख्यायां  
“कठानां धर्म आन्नायो वा काठकम्, पैप्पलादक मिति”-इत्याह  
पतञ्जलिः । ‘आन्नायः सम्प्रदायः’-इति च तत्र नागेशः ।

एवं हि ‘चरणं वेदैकदेशे’-इति वाचस्पत्युक्तं नूनं भ्रमविजृ-  
भितम्, तदुत्तरत्र तल्लिखितं ‘गोत्रञ्च चरणैः सह, महाभाष्य-का०’  
-इति तत्प्रमाणसूचनञ्च तथैव ; तत्र भाष्ये ‘गोत्रञ्च चरणानि च’  
-इत्येतावत एवोक्तेखदर्शनात् । पातञ्जलमूलिकैव सा वाचस्पत्युक्ति-  
रिति भ्रमाद् वाङ्मविश्वकोषप्रणेतृदयोऽप्यत्राभवन् विमुग्धाः ॥

तदत्र पुनरपि ब्रूमोऽध्ययनादिभेद एव शाखाभेदनिदानं न तु  
ग्रन्थभेद इति । अत एव एकैकवेदस्यानेकशाखत्वेऽपि तात्त्विकभेदा-  
भावात् श्रीमत्सायणाचार्यस्यैकैकशाखाव्याख्यानेनैव सर्ववेदभाष्य-  
कर्तृत्वं प्रसिद्धम् ; किञ्चैव मपि कृष्णयजुः-शुक्लयजुः-शाखासमूहयो-  
र्विशेषपार्थक्यस्यास्तित्वादेव कृष्णयजुस्तैत्तिरीयशाखां व्याख्यायापि न  
स कृत्स्नयजुर्व्याख्याने कृतकृत्यम्भन्य इति शुक्लयजुःकाण्वशाखा मपि  
व्याख्यातवान् । तथा एकशाखाध्ययनेनैवैकवेदाध्ययनं सम्पद्यत  
इत्येव “वेदः कृत्स्नोऽधिगतव्यः”-इत्यादीनि मन्वादिवचनानि  
च सङ्गच्छन्ते । वेदशब्दस्य शाखापरत्वव्याख्यानन्त्वप्रमाणिकम् ।

एवञ्च यदुक्तं विष्णुपुराणभागवतयोः ‘विभेद प्रथमं’, ‘बोध्यादिभ्यो  
ददौ तासु’, ‘चतुर्धा व्यस्य बोध्याय’- इत्येवमादि, तत्सर्वं नूनं  
शाखापदार्थज्ञानविहीनत्वावेदकमेव ; विशेषतः कूर्मपुराणोक्ता  
शाखानां मष्टादशपुराणतुल्यता तु वर्वन्ति सर्वोपरीति ॥

अहो वत ! वेदवैदिकमतप्रचारार्थोत्सर्गीकृतजीवनेनाद्यतन-  
सर्वार्थवर्षेणास्मच्छद्वाभाजनेनाचार्यदयानन्दस्वामिनापि शाखानां

वेदव्याख्यानरूपत्वेन वेदभिन्नत्वं पुराणाद्युक्तरूपमिथोभेदवत्त्वञ्च  
मत्त्वैबालैखि स्वकृतवेदभाष्यभूमिकायाम्— “एकादशशतानि सप्त-  
विंशतिश्च वेदशाखा वेदव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणं  
महन्ति”—इति (२६१ पृ०) । शीचत्वे त्वेतस्मिपिसन्निधौ नूनं पौरा-  
णिकी शाखाभेदकथाप्यपास्तेति मन्यामहे वयम् । यदुक्तं पातञ्जले  
पस्पशायाम्— “एकविंशतिधा बाह्वृचम्, एकशत मध्वर्युशाखाः,  
सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाथर्वणो वेदः”—इति । तदेतत्सङ्कलन-  
यैवोक्तं स्यादिदं परिगणन मेकादशशतानीत्यादि, परं तत्रापि  
किञ्चित्पार्थक्यमप्रतीयते । अस्तु तत्तथैव, परं महो ! काश्यानन्दोद्यान-  
विचारे, यत्र वय मास्म मध्यस्थाः, विशेषतो वादिप्रतिवादिवचसा मनु-  
लेखनेऽह मेक एवोभयपक्षतो नियुक्तः, तत्र तेनैव स्वामिनो-  
क्तम्— “सहस्रवर्त्मा सामवेद इत्यस्य सहस्रं गीत्युपाया इति भावः”—  
—इति । वस्तुतः सामवेदस्य गीतिकौशलबहुत्वादेव बहुशाखावत्त्वम्,  
शाखासङ्ख्या तु त्रयोदशैवेत्यस्माक मपि सम्मत मेव । हन्त ! का  
नाम संहिता शाखेतिव्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीक्षता, यस्याः  
मूलवेदत्वं मत्वा शाखेतिप्रसिद्धाना मन्यासां तद्व्याख्याग्रन्थत्वं  
मन्तव्यम्वेदिति त्वस्माक मज्ञेय मेव । तदत्र सम्भाव्यते,—  
विमिश्रमन्त्रब्राह्मणयोस्तत एव वान्त इति प्रथितयोस्तैत्तिरीय-  
शाखीयसंहिताब्राह्मणग्रन्थयोः विशेषतस्तदारण्यकग्रन्थीयनिखिल-  
खिलकाण्डदर्शनादेव तस्याशेषशेषमुषीसम्पन्नस्यापि स्वामिन एव  
भ्रमः सात इति । अपि वा शाखातत्त्वानभिज्ञेन केनचित्तच्छि-  
ष्येण तत्रैवं स्याद् विनिवेशित मिति ॥

अथ ऋग्वेदशाखासङ्ख्यानिर्णयाय यतमानाश्च प्रथमं तयोरेव  
विष्णुभागवतयोः पुराणयोः प्राविशाम, परं तत्रोभयत्र मिथोऽनैक्यं

चरणव्यूहादिशाखावर्णनकृद्ग्रन्थविरोधश्च संलक्ष्याभीष्टसाधनेऽकृत-  
कार्यास्ततः पर्येत्य वाक्यपठितं पातञ्जलवचनमेवेहावलम्बामहे ।  
तच्चेदम् — “एकविंशतिधा बाह्वृचम्” — इति । षड्गुरुशिष्येण  
च वेदार्थदीपिकाया भूमिकाया मेतद्विषयाणि कतिचित्  
पद्यान्युद्धृतानि, तत्र दृश्यते चैतत् — “एकविंशत्यध्वयुक्तं मृग्वेद-  
मृषयो विदुः” — इति । आह च तत्र तदग्राख्यायाम् — ‘अध्वा,  
गतिः, शाखा इति पर्यायाः’ — इति । कौन्मेऽप्येवम् । इतः सुनिर्णीतं  
मृग्वेदस्य शाखा एकविंशतिरिति ।

तदेकविंशतिशाखानां सर्वासा मेवाभिधानानि त्वद्यानिर्ण-  
यानीव ; यावतीनां यथा-यथावगम्यन्ते, तावतीनामेव तथा-तथा  
व्यक्तीकर्तुं यतामहे । —

अस्ति प्राचीनोऽष्टविकृतिविहतिनामा लक्षणग्रन्थो महामुनि-  
व्याडिकृतः । तस्य प्रथमवल्लीगतचतुर्थश्लोक एषः — “शैशिरीये  
समाम्नाये व्यडिनैव महर्षिणा । जटाद्या विकृतीरष्टौ लक्ष्यन्ते  
नातिविस्तरम्” — इति । अस्य व्याख्यानावसरे तट्टीकाकृता कति-  
चिदितिहासश्लोका उपन्यस्ताः, तमितिहासमुपगत्य व्याख्यायि  
च व्याख्यातव्यश्लोकगत एवकारः । तथाहि — “एवकारस्य किम्प्र-  
योजनम् ? अत्रोच्यते इतिहासः —

शाकल्यस्य शतं शिष्या नैष्ठिकब्रह्मचारिणः ।

पञ्च तेषां गृहस्थास्ते धर्मिष्ठाश्च कुटुम्बिनः ।

शिशिरो बाष्कलः साङ्ख्यो वाक्यश्चैवाश्वलायनः ।

पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः ।’ — इत्यादि ।

ततश्च शिशिरबाष्कलसाङ्ख्यवाक्याश्वलायनप्रवर्तितासु शाकल-  
शाखासु शौनकाचार्याणां मते जटाद्यष्टविकृतिलक्षणस्य व्याडि-

प्रणीतस्येष्टत्वात् न माण्डूकेयप्रोक्तस्य जटालक्षणस्येत्येवाभिप्रायार्थं  
एवकारः”—इति । अस्ति सूत्रं पाणिनीयम् — “गोत्रे लुगचि ( ४.  
१. ८६. )”—इति, तेन हि छात्रेऽणि विवक्षितेऽत्र गोत्रप्रत्ययस्याणो  
लुग् कृतं भवति; तथाच सम्प्रदान्ते शाकल्यस्य शिष्याः शिशिरादयः  
पञ्चमे शाकलाः । तेषां शाकलानां साम्नायाः = सम्प्रदायाः =  
शाखा वा पञ्चैव “शाकलाहा ( ४. ३. १२८. )”—इतिपाणि-  
नीयशासनात् शाकलाः शाकलकाश्चोच्यन्ते । तदेव ऋग्वेदस्य  
शैशिरीया, बाष्कला, साह्या, वाख्या, आश्वलायनीति पञ्च  
शाखानामानि विज्ञायन्ते, ज्ञायते चासां सर्वासा मेव शाकलशाखेति  
नामैक्यं मपि । अपि यदुक्तं मनुवाकानुक्रमण्युपक्रमे—

“ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायां यथाक्रमम् ।

प्रमाणं मनुवाकानां सूक्तैः शृणुत शाकलाः”—इति ।

अत्र शाकला इति सम्बोधनश्रवणाच्चावगम्यते, तासां पञ्च  
शाकलशाखानां मेकतमां शैशिरीया मेवावलम्ब्य क्रियमाणाय्ये-  
षानुक्रमणी पञ्चानां मेव शाकलानां हिताय सम्पाद्येति ।

अस्ति चात्र मतान्तरता ;—शाकलस्य शिष्यः अतएव शाकल  
इत्येव प्रसिद्ध आसीत् कश्चन एक आचार्यः, तेनाध्यापिता ये पञ्च  
शिष्याः शिशिरादयः, तेषां पञ्चानां पञ्च शिष्यसम्प्रदाया एव शैशि-  
रीयादयः पञ्च शाखाः सम्प्रदायाः, तैः पञ्चभिरधीतानां देशकाल-  
पात्रभेदतोऽध्ययनशैलीक्रमोच्चारणभेदात् किञ्चित्पाठन्यूनधिक्याच्च  
पञ्चधात्व मापन्नानां पञ्चानां संहितानां शाकलप्रोक्तत्वेनैव शाकल-  
शाखात्वम् । तथा च प्रदर्शितविकृतिवल्लीटीकाकृदुपन्यस्तः ‘शाक-  
ल्यस्य शतं शिष्याः’—इति पाठः स्यात् प्रामादिकः, तत्र ‘शाकलस्य  
शतं शिष्याः’—इति निर्यकारपाठेनैव भवितव्यं मिति । अतएवोक्तं



महामुनिव्याडिना स्वविक्रतिवत्प्रारम्भे — “नत्वादौ शौनकाचार्यं  
गुरुं वेदमहानिधिम् । ०—० । नमामि शाकलाचार्यं शाकल्यं  
स्थविरं तथा”—इति । अत्र शौनकस्य गुरुत्वम्, शाकल्यस्य तु परम-  
गुरुत्वं व्याख्यातं तट्टीकायाम् ।

तदित्यं शाकल्येनाध्यापिता शाकलेनाध्यापिता वा एकैव एषा  
ऋक्संहिता देशकालपात्रभेदतः शिशिरादिपञ्चाचार्यकृताध्यापन-  
शैलीपाठक्रमोच्चारणानुष्ठानभेदात् किञ्चित्पाठन्यूनानाधिक्याच्च पञ्च-  
विधत्वं गता, शैशिरीयादिपञ्चनामभिः शाकलैकनाम्ना च प्रसिद्धा-  
द्यापीति सर्वं निरवद्यम् ।

शाखानिर्णायके चरणव्यूहे तूक्तम्— “ऋग्वेदस्य \* \* शाखाः  
पञ्च भवन्ति ; आश्वलायनी, शाङ्खायनी, शाकला, बाष्कला माण्डू-  
केया चेति”—इति । इहोक्ता आश्वलायनी तु पूर्वोपात्तातोऽभिन्नैव ;  
शाङ्खायनी स्यात् पूर्वोक्लिखिता साङ्ख्या शाङ्ख्या वेति चरणव्यूह-  
टीकाकृन्महिदासमतन्तु नूनं प्रामादिकम् ; प्रमापयिष्यामो ह्यनु-  
पदं शाङ्खायन्या अशाकलत्वम् । तत्त्वतः शाङ्खायनी नाम शाखा पूर्व-  
प्रदर्शितशैशिरीयादिभ्यः पञ्चभ्यो विभिन्ना षष्ठेऽप्येव । शाकलेति शैशि-  
रीयाया ग्रहणं मन्तव्यम् : तस्याः शाकलाद्यत्वेन तथाव्यवहारो-  
पपत्तेः । तद्यथा सामवेदीयार्चिकग्रन्थयोरुभयोरपि छन्दोमयत्व-  
साम्येऽपि पूर्वस्यैव छन्द इति व्यवहारः, उत्तरस्य तूत्तरेति । अन्यथा-  
त्र बाष्कलायाः आश्वलायन्याश्च शाकलेत्येव ग्रहणसिद्धे पुनर्ग्रहणस्या-  
पार्थक्यं कथं वार्येत । बाष्कलापि पूर्वपरिचितैव । माण्डूकेया  
त्विहाधिका पूर्वोपात्ताभिः शैशिरीयादिभिः पञ्चभिः अत्रोपात्तया  
शाङ्खायन्या च परिगणनया सप्तमी सम्पद्यते । इत्थं ऋग्वेदस्य  
सप्तशाखानामान्यवगम्यन्ते, गम्यन्ते च चरणव्यूहकाले शाकलानां

पञ्चानां साङ्ख्या वाक्या चेति द्वे शाखे विलुप्ते, शाङ्खायनी माण्डू-  
केया चेति द्वे अशाकले तदाप्यविलुप्ते इति । एवञ्च तदानीं मिहो-  
पात्ता आश्वलायन्यादयः पञ्चैव शाखाः सम्प्रचलिता आसन् ।  
अन्यास्तु षोडश विलोपं गता इति स्यान्मन्तव्यम् ।

देवीपुराणे तु त्रिश्रेणीनां तिसृणां वा शाखानां मुक्तेखो दृश्यते  
तथाहि तत्र सप्तमेऽध्याये—

“शाखास्तु त्रिविधा भूप ! शाकला यास्कमण्डुकाः”—इति ।

तत्र शाकलास्तु स्युः पूर्वप्रदर्शितनामान एव शैशिरीयाद्याः  
पञ्च, मण्डुका अपि स्युर्माण्डूकेयाद्याः कतिचिदस्माभिरज्ञातसर्व-  
नामिकाः यास्कशाखा तु स्यान्नवीना निरुक्तकृद्यास्काच्च परभवा  
अथवा यास्कगोत्रीयेन केनचित् प्रोक्ता निरुक्तकृद्यास्कपूर्वतनैव, स्याच्च  
सा अध्येतृबाहुल्याद् बहुसङ्ख्याकापीति सम्प्रति सम्पूर्णतमसाच्छन्ने-  
वेत्यत्र नास्माकं वाक् प्रसरति । ‘शाकलयास्कमण्डुकाः’—इति पाठे  
त्रिविधेत्यस्य यदि तिस्र इति भावार्थः स्यात्, यथा ‘एकविंश-  
तिधा बाह्वृचम्’—इति ( पा० म० भा० १ आ० ), तर्हि शाकलेति  
सम्प्रति प्रचलिताया ग्रहणं न दोषावहम्, मण्डुकेति माण्डूकेया  
एव ग्रहणं भवेत् स्वीकार्यम्, अनन्यविदिता यास्कशाखैवात्राधि-  
केति । एवं हि पूर्वकीर्तितसप्तनामभिरेतदनन्यविदितयास्कनाम्नः  
सङ्कलनया अष्टशाखानामानि परिज्ञातानि भवन्ति ।

अस्ति चाश्वलायनीयगृह्ये तर्पणप्रकरणे— ‘जानन्ति-वाहवि-  
गार्ग्य-गौतम-शाकल्य-वाग्भट्ट-माण्डूकेयाः’—इति माण्डू-  
केयगणोल्लेखः । ‘कहोलं कौषीतकं पैङ्गं महापैङ्गं सुयज्ञं शाङ्खा-  
यनम्’—इति च शाङ्खायनगणोल्लेखः । ‘ऐतरेयं महैतरेयं शाकलं  
सुजातवक्त्रं मौदवाहिं महौदवाहिं सौजामिं शौनक माश्वलायनम्’

—इति चाश्वलायनगणोल्लेखः । तदुक्तं चरणव्यूहटीकायां महि-  
 दासेन— ‘जनान्तिवाहवीत्यारभ्य माण्डूकेया इत्यन्तो माण्डूकेय-  
 गणः, × × × शाङ्खायन इत्यन्तः शाङ्खायनगणः, ऐतरेय इत्यारभ्य  
 आश्वलायनान्त आश्वलायनगणः’—इति । इत्य मृग्वेदस्य प्रधानत-  
 स्तिस्त्र एव शाखाः पर्यवसिताः, तासां मेव स्युरनुशाखा इतराः ।  
 ता एव मूलशाखाः अनुलक्ष्य देवीपुराणे “शाखास्तु त्रिविधा  
 भूप ! शाकलयास्कमाण्डुकाः”—इत्युक्तम् ( १३१ पृ० ) । तत्रापि  
 यास्कस्थाने शाङ्खेति पठितव्यम्, तच्च शाङ्खायनस्यैवैकदेशग्रहणं  
 मन्तव्यम्, यास्कपाठस्तु स्यान्नपिकरपाण्डित्यमूलकः । तदेवं  
 देवीपुराणे तदानीम्प्रचलिताप्रचलितानां सर्वासां मेव ऋक्शाखानां  
 नामग्रहणं सम्पन्नमित्यपि वक्तुं शक्यते ।

अस्मन्मते तु शाकला माण्डूकेया चेत्येत एव द्वे प्राचीनतम-  
 शाखे ; ऐतरेयारण्यके एतयोरेव द्वयोराचार्यनाम्नोरान्त्रानदर्शनात्,  
 अपि शाङ्खायनी स्यान्माण्डूकेयानुशाखा माण्डूकेयभेदैवेति । त  
 एत एव द्वे अध्येतृभेदात् पाठादिभेदत एकविंशतित्वमापन्ना । तत्र  
 चेदानीं माण्डूकेयानां शाङ्खायन्येवैका लुप्तावशिष्टा, शाकलानां  
 आश्वलायनीति । अत एवाग्निपुराणे एतयोरेव द्वयोः शाखयो-  
 र्नामनिर्देशो विद्यते ( २७१ अ० २ श्लो० )—

‘भेदः शाङ्खायनश्चैक आश्वलायनो द्वितीयः’—इति ।

अद्याप्येत एव द्वे शाखे विद्येते । तत्र चाद्या शाङ्खायनी, तस्या  
 ब्राह्मणारण्यकपुस्तकानि बह्वन्युपलभ्यन्ते, संहितायास्त्वेकमपि  
 सम्पूर्णं पुस्तकं सुदुर्लभम् ! अथवास्माभिरद्यापि न दृष्टमित्येव  
 सुवचम् । यच्चात्र आस्यायितिकसमित्यधिकृतगवर्णमेण्डपुस्तका-  
 लये दृश्यतेऽनिर्दिष्टं खण्डितं पुस्तकमेकम्, तस्याष्टमाष्टकान्तु

नून मनाश्चलायनीयम् ; तदन्ते बृहद्देवताग्रन्थवर्णितानां सञ्ज्ञा-  
नादिमहानाम्ग्रन्थसूक्तानां विद्यमानत्वात् ; बृहद्देवताया ह्यशाकली-  
यत्वनिर्णयात् । द्वितीयाष्टकोऽपि स्यादनाश्चलायन्याः ; तदन्ता-  
ध्याये द्वादशवर्गादनन्तर मेको वर्ग आश्चलायनीतोऽधिक आम्नात  
इत्येव तस्यानाश्चलायनीत्वप्रतीतिः । उद्धृता चैतदीयैका ऋक्  
निरुक्ते ( ८. १. ५. ) निगमत्वेनेति नास्ति च तद्वर्गस्य खैलि-  
कत्व मतः शाखान्तरौयत्व मेवोररीकर्त्तव्यम् । परन्त्वेतत्पुस्त-  
कस्य तयोरेव द्वितीयाष्टमाष्टकयोः षोडशाना मेवाध्यायानां पुष्पि-  
कासु 'महानाम्नीशाखायाम्'—इत्यादि लिखित मस्ति, परं नासी-  
न्नास्ति च काचिन्महानाम्नीशाखा ; अतः किलेयमेव महानाम्ग्रन्था  
महानाम्नीति च व्यपदिष्टा शाखा, स्याच्छाङ्गायनीति सम्भाव्यते ।

अष्टविक्रतिविहृतौ पञ्चानां शाकलाना मन्यतमा यैका साङ्गेति  
ज्ञायते, सैव साङ्गायनी शाङ्गायनी वेति मन्यते चरणव्यूह-  
व्याख्यानकृन्महिदासः, तथा च सम्पद्यते शाङ्गायन्या अपि  
शाकलत्वम् । तदिदं नादरणीयम् ; श्रुतिविरोधात् । श्रूयते हि  
कौषीतक्यारण्यके ( १४ अ० )— “शाङ्गायनः कहोलात् कौषी-  
तकेः”, विद्याजन्माप्तवानिति तच्छेषः । तदेवं श्रुतिसिद्धस्य  
कौषीतकिवंश्यस्य शाङ्गायनस्य शाकल्यशिष्यत्वं कथन्नामोपपद्येतेति  
न च साङ्गायनी नाम काचिच्छाखा मन्तव्या ; तत्रैवारण्यकेऽसक्त-  
च्छाङ्गायनीनामश्रुतेः । नापि महानाम्ग्रन्तायाः शाङ्गायन्याः  
शैशिरीयादिशाकलशाखापाठसाम्य मुपपद्यते ; “ऋग्वेदान्त्यो  
द्वादशकोऽनुवाकः”—इत्याद्यनुवाकानुक्रमण्युक्तेः । एव मृथ्यनुक्रम-  
ण्यादिभ्यश्चास्या अशाकलत्वं प्रतीयत एव । अत एव सतस्वपि  
शाकलीयदेवतानुक्रमण्यादिग्रन्थेषु शाङ्गायन्यर्थमेव बृहद्देवतानाम-

अन्योऽप्यमायीत्यस्माकं मभिमतम् । अत एव अशाकलीयानां  
सञ्ज्ञानसूक्तीयानां पञ्चाना मृचा मपि देवतानिरूपणं मेवं कृतं  
बृहद्देवतायाम् ( ऽअ० ८३श्लो० )—

“उशना वरुणश्चेन्द्रश्चाग्निश्च सविता सुताः ।

सञ्ज्ञानप्रथमस्थान्तु द्वितीयस्था मथाश्विनौ ।

तृतीया चोत्तमे च द्वे आशिषोऽभिवदन्ति ताः”—इति ।

तदेतत् पञ्चचं सञ्ज्ञानसूक्तं शाकलासु शैशिरीयादिषु नाम्ना-  
तम्, अत एव सायणाचार्येणापि न व्याख्यातम्, अध्यापक-  
म्याक्षमूलरेणैकस्मिन्नादर्शे दृष्टं मपि खैलिकं मित्युपेक्षितञ्च  
( ऋ० वे० ६भा० पाठ० ३२पृ० ) । वस्तुतो न चैतत् खैलिकम् ;  
तैत्तिरीयाथर्वणयोऽर्कत्वेनाम्नानात् ( तै० सं० २. ४. ४६ ; २.  
६. १०. ३ ; तै० ब्रा० ३. ५. ११. १ ; तै० आर० १. ८.  
७ ; अथ० सं० ८. ४२. १ ; ३. ८. ६. ), निरुक्तेऽप्येतत्पञ्चम्या  
ऋचो निगमत्वेन ग्रहणाच्च । तथाहि— “अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य  
उच्यते, ‘तच्छंयोरावृणीमहे × × ×’—इत्यपि निगमो भवति”—इति  
( ४. ३. ५. ) । सैषा ऋक् सञ्ज्ञानसूक्तस्य पञ्चमी दृश्यते । तदेतत्  
सञ्ज्ञानं नाम शाङ्गायन्या उपान्त्यं सूक्तम्, एतदनन्तरं मेव तत्रा-  
म्नातं महानाम्नीसूक्तम् । अत एव शाङ्गायनसूत्रेऽस्य सूक्तस्य प्रतीक-  
ग्रहणेनैव विधानं कृतम् । तथाहि— “सञ्ज्ञानं मुशनावददिति  
सूक्तं जपेरन्निति ( २. ६. ३. ) । इत इदं मपि सम्भाव्यते— मूलर्-  
दृष्टं तदादर्शपुस्तकं पुस्तकांशो वा स्यात् शाङ्गायनसंहिताया इति ।

बाष्कलशाखाया मध्यस्ति सञ्ज्ञानसूक्तम्, परं तत् न पञ्च-  
चंम्, प्रत्युत पञ्चदशचंम् ; अपि नोपान्त्यम्, प्रत्युतान्त्यमित्यवगन्त-  
व्यम् । बाष्कला तु शाकलानां मेवान्यतमा, शाकलशाखासंहितासु



महानाम्नीसूक्तं नाम्नात मित्यत एवैतरेयारण्यके तत् समाम्नातम् ;  
शाङ्खायनसंहितायास्तु महानाम्नीसूक्तान्नाननैव समाप्तिरिति तत्पू-  
र्वान्नातस्य सञ्ज्ञानसूक्तस्य संहितोपान्यत्व मेतदेव वाष्कलशाङ्खा-  
यनसंहितयोः सञ्ज्ञानसूक्तसङ्ख्यावस्थानयोः पार्थक्य मिति ।

अथाग्निपुराणोक्ता द्वितीया आश्वलायनी तु शाकलाना मन्य-  
तमित्युक्तं पुरस्तात् , परिचाययिष्यामश्च ता सुपरिष्ठादिति ॥

अथ शाकलाना माद्या शैशिरीया दशमण्डलात्मिकेत्यतो  
‘दाशतयी’-इति व्यपदिश्यते । तदुक्त मनुवाकानुक्रमण्याम्—

“पञ्चाशीतिर्दाशतयेऽनुवाका दृष्टाः पुराणैर्ऋषिभिर्महात्मभिः ।

यस्तानृग्विद् वेद चैवाप्यधीते स नाकपृष्ठं भजते ह शश्वत्”-इति

“दाशतये दशमण्डलयोगिनि वेदे । ‘सङ्ख्याया अवयवे तयप्  
(पा० ५, २, ४२.), ततः स्वार्थे अण्”-इति तद्व्याख्यानं षड्गुरु-  
शिष्यः । तदत्र मण्डलविभागे प्रतिमण्डल मनुवाकविभागो विद्यते,  
प्रत्यनुवाकश्च सूक्तविभागः । तत्तदनुवाकसूक्तसङ्ख्या तत्र ३२—३६-  
श्लोकेषु निरूपिता । तथा चैवं सम्पद्यते—

म० १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० ।

अनु० २४-४—५—५—६—६—६—१०—७—१२=८५ ।

सू० १८१-४३-६२-४८-८७-७५-१०४-८२-११४-१८१=१०१७ ।

ज्ञायते चैतेन वालखिल्यानां सूक्तानां शैशिरीये समाम्नातं  
नाङ्गीकृत मिति । तानि च सूक्तानि एकादश सन्ति, तेषा मपीह  
परिगणने १०२८ स्युरिति स्पष्टम् ।

यद्यपि सा शैशिरीया सम्प्रति नोपलभ्यते । परमुपलभ्यते तु  
सर्वा एव शौनकीयानुक्रमण्यः शैशिरीया मवलम्ब्यैव कृता इति ।

तथाह्यनुवाकानुक्रमण्या उपक्रमे— “ऋग्वेदे शैशिरीयायाम्”—

इति, उपसंहारे च— “तान् पारणे शाकले शैशिरीये”—इत्युक्तम् ।

सायणीय मृग्भाष्यञ्च ता मवलम्बैव कृतं स्यात् ; तत्राशैशि-  
रीयाणां वालखिल्यसूक्तानां मध्याख्यातत्वात् । अत एव ऐतरेयभाष्ये  
तेषां वालखिल्यानां क्वचित् खिलत्वेन, क्वचित् ग्रन्थान्तरीयत्वेन,  
क्वचिच्छाखान्तरीयत्वेन वर्णनं मुपपद्यते सायणस्येति । तथाहि—  
“खिलेषु समान्नातम्”—इति ६. ४. ८, “वालखिल्याख्ये ग्रन्थे समा-  
न्नाताः”—इति ६. ५. २, “तानि वालखिल्यनामके ग्रन्थे समान्ना-  
यन्ते”—इति ६. ४. ८, “सोऽयं प्रगाथः शाखान्तरे द्रष्टव्यः”—इति  
३. २. ५ । तदिदं वालखिल्यानां खिलत्वं नूनं मसङ्गतम् ; तेषां पद-  
पाठश्रवणात् ; न हि खिलानां पदपाठः कृतः शाकल्येन ;—  
अधीयतेऽध्याप्यते मुद्रितो मुद्राते च वालखिल्यार्चानां मपि  
पदपाठः सर्वत्र । तदाह चरणव्यूहकृन्महिदासोऽपि— ‘यस्य  
मन्त्रस्य पदाभावस्तस्य खेलिकत्वं सिद्धम्—इति । ग्रन्थान्तरत्व मपि  
न सङ्गच्छते ; सर्वेषां मेव वेदानां संहितात्वेकैकैवेति कः सम्भवेत्ततो  
ऽन्यो ग्रन्थ इति । शाखान्तरीयत्वकथनेन चाभिगम्यतेऽद्यप्रचलितेय  
माश्वलायनी शाखा नैव दृष्टा सायणेन, अपि तद्देशीया मन्या मेव  
शाखा मवलम्ब्य भाष्यं मारचितम्, तस्यां नु शाखायां वालखिल्यं  
नान्नात मिति तद्व्यासस्य शाखान्तरीयत्व मभ्युगन्तव्य मेवेति ।

वालखिल्यैकादशसूक्तेषु दशदशादिक्रमादशीत्युचोऽधीयन्ते यथा—  
१-११सू० १०-१०-१०-१०-८-७-५-५-४-३-७=८० ऋचः ।

तदाह सर्वानुक्रमण्यम्— “अभि प्र दश प्रस्कण्वं प्रागाथं  
तत्, प्र सुश्रुतं पुष्टिगुः, यथा मनौशुष्टिगुः, यथा मनावायुः, उपमं  
त्वाष्टौ मेध्यः, एतत्ते मातरिश्वा नो विश्व इति वैश्वदेवः प्रगाथः,  
भूरीत् पञ्च कृशः प्रस्कण्वस्य दानसुतिर्गायत्रं तृतीयापञ्चम्यावनु-

ष्टुभौ, प्रति ते पृषध्रोऽन्यामिसौरी पङ्क्तिः, युवं देवा चतुष्कं मेध्य  
आश्विनं त्रैष्टुभम्, ०—०, इमानि वां सप्त सुपर्णं ऐन्द्रावरुणं जाग-  
तम्”—इति ४४. ४०—५६ । सर्वानुक्रमणीकारकात्यायनेनैव मुक्त-  
त्वाच्चास्य बालखिल्यकाण्डस्य खेलिकत्वं विध्वस्तम् ; न हि कस्य  
चिदपि खिलस्य ऋष्याद्यनुक्रमणं कृतं तेन, किञ्च पञ्चमाष्टकीय-  
चतुर्थाध्यायीयत्वेनैव तत्र ग्रहणादस्याश्वलायनशाखीयत्वं व्यक्तम्,  
व्यक्तञ्च तदनुक्रमणिकायां अप्याश्वलायनशाखीयत्व मिति ।

ऐतरेयब्राह्मणे त्वेषा मेकादशसूक्तानां प्रथमतोऽष्टाना मेव बाल-  
खिल्यनाम्ना विधान मान्नातम्, अन्यस्य तु सौपर्ण मिति ( ६. ४.  
८, ९.) । इत्थं मपि ज्ञायते, तासां बालखिल्यर्चां सायणीकृतं खिलत्वं  
नूनं मवास्तवम् ; नापि ग्रन्थान्तरतादरणीया, न हि ग्रन्थान्तरीयर्चां  
प्रतीकेन नाममात्रेण वा ग्रहणं युज्यतेऽतैतरेयके ; शाखान्तरीयत्वं  
च वक्तुं नात्र शक्यते, सति हि तस्मिन् प्रपञ्चैव विधानं क्रियेतैत-  
रेयेणेति । तथाप्यस्य शाखान्तरीयत्वेनोपन्यासादृग्भाष्यस्यैवास्य  
शाखान्तरीयत्वं प्रतिपन्नम् ; न ह्याश्वलायन्यां बालखिल्याध्ययनं  
पश्यतोऽपि तद्भाष्यकारस्योक्तरूपप्रलापवचनानि सम्भाव्यन्ते ।

एव मपि सायणाचार्येणावलम्बिता शैशिरीया, अन्या वा  
काचिच्छाकलशाखा स्यादाश्वलायन्यनुरूपैव प्रायः सर्वत इत्यत्र च  
न भवति संशयः ; नान्यथात्र सायणीयभाष्ये सर्वानुक्रमणीवचनानि  
यथायथं सङ्गच्छेयुरिति ।

अथ द्वितीया, बाष्कला । एतस्या अपि परिचयः शौनकीया-  
नुक्रमण्यादिभ्योऽवगम्यते चैवम्— “उप प्र यन्तो ( १. ७४. )”—  
“नासत्याम् ( १. ११६. )”—“अग्निं होतारम् ( १. १२७. )”—  
“इमं स्तोमम् ( १. ६४. )”—“वेदिषदे ( १. १४०. )”—इत्येष

क्रमो बाष्कलस्य प्रथममण्डले निदर्शितः । एव मपरण्डलेष्वपि बोध्यम् । तद्यथा— “स्वादोरभक्षि ( ८. ४२. )”—इतिसूक्तानन्तरम् “अभि प्र वः सुराधसम् ( ८. ४६. )”—“प्रसुश्रुतम् ( ८. ५०. )”—इति सूक्तद्वय मान्नाय “अग्न आ याह्यग्निभिः ( ८. ६०. )”—इत्याम्नातम् । एवं “गौर्द्वयति”—इत्यनुवाको दशसूक्तात्मकः शैशिरीयायाम्, पञ्चदशसूक्तात्मको बाष्कलायाम् । तथाच “गौर्द्वयति”—इतिसूक्तादनन्तरं “यथा मनौ सांवरणौ ( ८. ५०. )”, “यथा मनौ विवस्वति ( ८. ५२. )”, “उपमन्वा ( ८. ५३. )”, “एतत्त इन्द्र ( ८. ५३. ६. )”, “भूरीदिन्द्रस्य ( ८. ५४. )”—इति पञ्चसूक्तान्याम्नाय “आ त्वा गिरो रथीरिव ( ८. ६५. १. )”—इत्याम्नातम् । एव मन्ते च मण्डले— “संसमित् ( १०. १६१. )”—इतिसूक्तादनन्तरम् “सञ्ज्ञान मुशनावदत्”—इत्यादि, “तच्छंयोरावृणीमहे”—इत्यन्तं चतुर्वर्गात्मकं पञ्चदशर्चं मेकसूक्त मधिकं बाष्कलायाम् । तदेवं “समानी वः ( १. १६१. ४. )”—इति शैशिरीयाया अन्तिमा ऋक्, “तच्छंयो”—इति तु बाष्कलाया इति भेदः ।

तास्वेताः सञ्ज्ञानसूक्तीयाः पञ्चदशर्चः—

“सञ्ज्ञान मुशना वदत् सञ्ज्ञानं वरुणो वदत् ।

सञ्ज्ञान मिन्द्रश्वाग्निश्च सञ्ज्ञानं सविता वदत् ॥ १ ॥

सञ्ज्ञानं नः स्वेभ्यः सञ्ज्ञान मरणेभ्यः ।

सञ्ज्ञान मश्विना युव मिहास्मासु नियच्छतम् ॥ २ ॥

यत् कक्षीवान् संवननः पुत्रो अङ्गिरसां भवेत् ।

तेन नोऽद्य विप्र्वे देवाः सम्प्रियांस मजीजनन् ॥ ३ ॥

सं वो मनांसि जानतां समाकूतिर्मनागसि ।

असौ यो विमना जनस्तं समावर्त्तयामसि ॥ ४ ॥ १वर्गः ॥

नैर्हस्तिं सेनादरणं परिवर्त्मे तु यद्विः ।

तेनामित्राणां बाहून् हविषा शोधयामसि ॥ ५ ॥

परिवर्त्मान्येषा मिन्द्रः पूषा च संश्रुतः ।

तेषां वो अग्निदग्धानामग्निमूढानामिन्द्रोऽहन्तु वरं वरम् ॥ ६ ॥

एषु नत्यवृषाजिनं हरिणस्य धियं यथा ।

पर ममित्र मैष त्वर्वाची गौरुपेजतु ॥ ७ ॥ २ वर्गः ॥

प्राध्वराणाम्पते वसो होतर्वरेण्य क्रतो ।

तुभ्यं गायत्र मृच्यते गोकामो अन्नकामः प्रजाकाम उत कश्यपः ॥ ८ ॥

भूतं भविष्यत् प्रस्तौति महं ब्रह्मैक मक्षरम् बहु ब्रह्मैक मक्षरम् ॥ ९ ॥

यदक्षरं भूतक्रमतो विश्वे देवा उपासते ।

महर्षिं मस्य गोप्तारं जमदग्नि मकुर्वत ॥ १० ॥

जमदग्निराप्यायते छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ॥ ११ ॥

राज्ञः सोमस्य भक्षेण ब्रह्मणा वीर्यावता ।

शिवा नः प्रदिशो दिशः सत्या नः प्रदिशो दिशः ॥ १२ ॥ ३ वर्गः ॥

अदो यत्तेजो ददृशे शुक्रं ज्योतिः परो गुहा ।

तदृषिः कश्यपः स्तौति सत्यं ब्रह्म चराचरं ध्रुवं ब्रह्म चराचरम् ॥ १३ ॥

त्रायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्रायुष मगस्त्यस्य त्रायुषम् ।

यद्देवानां त्रायुषं तन्मे अस्तु त्रायुषम् ॥ १४ ॥

तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये ।

दैवीः स्वस्तिरस्तु नः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः ॥ १५ ॥ ४ वर्गः ॥”-इति ।

अथ तृतीया साङ्ख्या, चतुर्थी वाक्या । त एते सम्प्रति न काप्यु-  
पलभ्येते, अतएवैतयोः कोऽपि संवादोऽस्माभिर्न ज्ञायत इत्येव  
सत्यम् । अथवा विष्णुभागवतपुराणयोर्योक्ता मौद्गलीति, सैव स्यात्  
साङ्ख्येति; तयोः पुराणयोः ‘साङ्ख्या’-इत्यस्य स्थाने ‘मौद्गली’-इत्यस्य



पाठप्रतीतिः सम्भाव्यते साङ्ग्याचार्यस्य मुद्गल इति गोत्रनामेति ।  
 अध्यापकस्याक्षमूलरेण च ऋग्वेदस्य तृतीयभागभूमिकायाम्  
 (१३) पृष्ठे अलेखि एतत्—“फिट्स् एड्वाड् हल् महोदयः काशीतो  
 ऽलिखदिदम् ( १५-१-५५. )— ‘सायणाचार्यकृतभाष्यस्य मूल  
 भादर्शपुस्तकं यदासीद् लण्डनस्थे ण्डियापुस्तकालये मुद्गलभाष्यं नाम,  
 तत्र प्रथमाद्यास्त्रयोऽष्टकाश्चतुर्थाष्टकस्यान्याध्यायाश्च त्रयः सन्ति,  
 सन्ति चान्यानि कतिचित् पत्राणि प्रथमसप्तमाष्टकयोः । तदीय-  
 प्रथमाष्टकस्य यावानंशः पाठयोग्यः, तावन्त मेव यथालिपि  
 भवन्तं दर्शयामि । लिखितं चैतत् पुस्तकं १४७ × संवत्समायाम्’  
 -इति’-इति । तदेतत् पुस्तकं मौद्गल्याः शाखाया एव सायण-  
 भाष्य मिति सुव्यक्तम् ; परं नास्ति सायणस्य मुद्रितभाष्यादन्यद्  
 भाष्य मिति शाकलानां पञ्चशाखानां मौद्गली मेवावलम्ब्य तेना-  
 कारीदं भाष्य मिति सम्पद्यते सुतराम् । तथा चैषा मौद्गली दश-  
 तयीत्यपि स्वीकार्यम् ; सायणीयभाष्ये वालखिल्यमन्त्राणां व्याख्या-  
 नादर्शनात्, अष्टतयां हि वालखिल्यानां मवश्यमावित्वं स्यादि-  
 त्युक्तम् । सेयं मौद्गली शाखा सायणाचार्यसमये सायणाचार्यदेशे  
 आसीत् सुप्रचलितेत्येना मेवावलम्ब्य तेनैतत् भाष्यं कृत मिति  
 चोपपद्यते । अद्य च स्यात् तद्देशे मौद्गल्या एव शाखाया  
 विद्यमानतेति च नासम्भवम् । अपि नाम शाकलानां पञ्चाना मेव  
 प्रायो ग्रन्थपरिच्छेदसाम्यात्, क्रम-पाठादौ चात्यल्पतारतम्यात्,  
 सर्वपुस्तकपुष्पिकासु नामोल्लेखादर्शनाच्चैवं नामविभ्रमोऽनिवार्य  
 एवेति मौद्गल्या आश्वलायनीत्वेन आश्वलायन्याश्च मौद्गलीत्वेन ग्रहणं  
 सुसम्भाव्य मेवेति ।

अथ शाकलानां पञ्चमी, आश्वलायनी नाम । इयमेवाश्वलायनी

शाखा शाकलानां पञ्चानां लुप्तावशिष्टा, अद्यापि सर्वत्राध्ययना-  
ध्यापनैः सुप्रचलिता विद्यते । प्रवाद एवात्र प्रथमं प्रमाणम् ; सर्व-  
त्रैव हि दाक्षिणात्यादिष्वेषा आश्वलायनीत्येव प्रोच्यते । प्रदर्शिता-  
स्त्रिपुराणवचने शाकलानां मस्या एवैकस्या ग्रहणं मत्र द्वितीयं  
मानम् ; न हि तदानीं मस्यासीत् काचिदन्या शाकलेति । गौड-  
राज-लक्ष्मणसेन-प्रदत्तेष्वनधिककालिकेषु ताम्रफलकेषु च “आश्व-  
लायनशाखाध्याधिने”—इत्युत्कीर्णं दृश्यते इतीह तृतीयं प्रमाणम् ।  
स्कन्दपुराणान्तर्गतश्रीमालखण्डनामग्रन्थस्य सप्ततितमोऽध्याये ऋग्-  
वेदस्येयं मेवैकाश्वलायनी शाखा बहुवारं मुपन्यस्ता दृश्यते ।  
तद्यथा— “अत्र आश्वलायनी शाखा ऋग्वेदस्य, यजुर्वेदस्य माध्य-  
न्दिनी, सामवेदस्य कौथुमी, अथर्ववेदस्य स्वान्तरायणीति ; ऋग्-  
वेदस्याश्वलायनसूत्रम्, यजुर्वेदस्य कात्यायनम्, सामवेदस्य लाट्या-  
यनम्, अथर्ववेदस्यार्वटकञ्चेति”—इति । तदित्यं गुर्जरीयश्रीमाल-  
प्रदेशे बहुदिनत एव ऋग्वेदस्यैषाश्वलायनी शाखैवैकास्ति प्रच-  
लितेत्यपि मानं भवेद्विह चतुर्थम् । तस्मादेतर्हि सर्वत्राधीयमाना,  
मुद्रिता चैयं शाखा नूनं माश्वलायनीत्येव मन्तव्यम् ।

सैयं माश्वलायनी तत्त्वतोऽष्टतय्येव ; सर्वेष्वेवैतत्पुस्तकेषु अष्ट-  
काध्यायवर्गनामत्रिविधपरिच्छेदानां प्राधान्यदर्शनात् । एतदीयदेव-  
तर्षिच्छन्दोनिर्णयाय कात्यायनेन या “सर्वानुक्रमणी” प्रणीता,  
तत्रापि अष्टकाध्यायवर्गविभागानुसृता विभागा एव दृश्यन्ते । अतः  
एवेह षष्ठाष्टकीय-चतुर्थाध्यायस्य चतुर्दशादष्टादशवर्गात्मकं वाल-  
खिल्यं श्रूयते ; न हि दाशतय्यां वालखिल्यञ्च मस्तिताभ्युपगम्यते  
सायणाचार्येणेति तु प्रतिपादितं पुरस्तादेव ( १३६ पृ० ) । एव-  
मपि शाकलाद्यशाखायाः शैशिरीयाया दशतयीत्वप्रतीतेः, एत-

पूर्वतनायाः शाकल्यसंहितायाश्च ऐतरेयेण यास्कादिना च दशतयी-  
त्वेन ग्रहणात्, शौनकोक्तानुवाकानुक्रमण्यादौ च दशतयीत्वस्या-  
दरातिशयदर्शनात्, सर्ववेदभाष्यकारेण सायणाचार्येण च दशतयी  
मेव साङ्ख्यापरपर्यायां मौद्गली मन्यां वा काञ्चिद् शाकलशाखा  
मनुसृत्य ऋक्संहिताया भाष्यं कृत मिति दशतय्यष्टतय्योः  
सम्मिलनाच्च दशतयीत्वानुकूला मण्डलानुवाकसूक्तेतिविविधपरि-  
च्छेदा अपीह लेखकादिभिः सूचिता यथायथं सर्वत्रैवेति ॥

अथ पञ्चस्वेव शाकलशाखासु अध्यायादिपरिगणनन्त्वेकविध  
मेव मन्यते प्रायः । अत एवैव माह अनुवाकानुक्रमणीकारः—

“अध्यायानां चतुष्पष्टिर्मण्डलानि दशैव तु ।

वर्गान्तु सहस्रे द्वे सङ्ख्याते च षडुत्तरे ।

सहस्र मेतत्सूक्तानां निश्चितं खैलिकैर्विना ।

दश सप्त च पठ्यन्ते ( सङ्ख्यातं वै पदक्रमम् ) ।”—इति ।

तदेतत् सर्वं बालखिल्यवर्जनेनात्र गणनातोऽप्युपपद्यते । ऋक्-  
सङ्ख्यायास्तु शाखापार्थक्यात् पार्थक्यं स्वीकार्यं मेव, पर मस्या  
मेकस्या माश्वलायन्या मपि मतवैभिन्नं सुपलभ्यते यथा—

अनुवाकानुक्रमण्याम् १०५८० ऋचां स्वीकारः, तदुक्तम्—

“ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च ।

ऋचा मशीतिः पादश्च पारणं सम्प्रकीर्तितम्”—इति ।

छन्दसङ्ख्यायान्तु १०४०२ ऋचां स्वीकारः, तदुक्तम्—

“एवं दशसहस्राणि शतानान्तु चतुष्टयम् ।

ऋचां द्व्यधिक माख्यात मृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः”—इति ।

मुद्रितसर्वानुक्रमण्या भूमिकायां १०४४२ ऋचां स्वीकारः ।

अनुक्रमणीविवरणकृज्जगन्नाथेन त्वृक्सङ्ख्या १०४५२ स्वीकृता ।

स्वामिदयानन्दसरस्वत्याचार्येण तु “दशसहस्राणि पञ्चशतानि एकोननवतिश्च (१०५८६) ऋचोऽत्राम्नाताः”—इति निर्धारितम् ।

अस्मत्परिगणनयात्वाश्वलायनसंहितायाम् १०५२२ ऋचो दृश्यन्ते । एव ऋक्सङ्ख्याया मत्तपार्थक्ये निदानानि त्वेव भवगम्यन्तेऽस्माभिः— अनुवाकानुक्रमणी नूनं शैशिरीय-शाखायाः ! नास्ति च तत्र वालखिल्याना ऋचा मान्नानम्, ततस्तत्र वालखिल्यभिन्नाः सपादाः १०५८० ऋचः परिगणिताः । अस्मत्परिगणनया तत्र वालखिल्यसंहिताः १०५५२ ऋचः सन्ति, वालखिल्याना ऋचां सङ्ख्या तु ८० ; तथा चात्र आश्वलायनसंहितायां वालखिल्यातिरिक्ताना ऋचां सङ्ख्या १०४४२ सम्पन्ना । तदित्यं शैशिरीयाया मित आश्वलायनीतोऽधिकाः १३८ ऋचोऽधीता इत्येव निश्चीयते ।

छन्दस्सङ्ख्योक्तिखितोक्तसर्वसङ्कलनसङ्ख्या तु खोक्तप्रतिच्छन्दस्सङ्ख्या-तोऽपि विरुद्धैव प्रतीयते । तद्यथा तत्र चोक्तं श्लोकैः— गायत्र्यः २४५१, उष्णिहः ३४१, अनुष्टुभः ८५५, बृहत्यः १८१, पङ्क्त्यः ३१२, त्रिष्टुभः ४२५३, जगत्यः १३४८, अतिजगत्यः १७, शक्क्यः ६, अतिशक्क्यः ६, अष्टयः ६, अत्यष्टयः ८४, धृत्यौ २, अतिधृतिः १, द्विपदाः १७, एकपदाः ६, बार्हत्प्रगाथाः १६४, ककुप्प्रगाथाः ५५, महाबार्हत्प्रगाथः १ । तदेवं तदुक्तप्रतिच्छन्दस्सङ्ख्यानां सङ्कलनया १०१४२ ऋचः स्युः, पूर्वप्रदर्शिततच्छ्लोकतस्तु गम्यन्ते १०४०२ । तदत्र प्रायः सर्वत्रैव सङ्कलनाभ्रमोऽस्माभिर्ग्रन्थदृष्ट्या प्रमाणित एव ।

मुद्रितसर्वानुक्रमणीभूमिकायां यत् १०४४२ इति निश्चितम्, तदस्या वालखिल्यव्यतिरिक्तायाः आश्वलायन्या इति तु सुव्यक्तम् ।

जगन्नामपण्डितोक्ता ऋक्सङ्ख्या तु नित्यद्विपदार्द्धर्चादिभेदकता । चरणव्यूहटीकाकृन्महिदादसम्भता च सैव । तथाचोक्तं तेन—



“वालखिल्यसंहिता सर्वानुक्रमणीमन्तरूपकसङ्ख्या उच्यते,— द्विप-  
चाशदधिकपञ्चशतदशसहस्राणीति (१०५५२) । एतत्सङ्ख्या नित्य-  
द्विपदानैमित्तिकद्विपदासहितोक्ता । हवनाध्ययनाभ्यां समाना सा  
नित्यद्विपदा, ०—०, हवनाध्ययने विपरीता सा नैमित्तिकद्विपदा”—  
इत्यादि । नित्यद्विपदादिनिर्णयस्तु उपलेखग्रन्थालोचनतः सम्पाद्यः ।  
उपलेखापि नैवाश्वलायन्याः सम्भाव्यते ; तत्र नित्यैकपदाः पञ्चे-  
त्याद्याश्वलायनीविरुद्धपरिगणनादर्शनात् ; गण्यन्ते ह्यत्राश्वलायन्या  
मेकपदाः षडिति । एव मर्द्धर्चादिष्वपि द्रष्टव्यम् ।

स्वाम्युक्तपरिगणनेऽपि सङ्कलनभ्रम एव प्रतीयते ।

तत्त्वतस्त्रिहाश्वलायन्यां शाखाया माश्वलायनसंहितायां वा  
अष्टादशवर्गेषु अशीतिर्वालखिल्यर्चः सन्ति, तद्वालखिल्यसंहिताः  
१०५२२ ऋचः श्रूयन्त इति त्वस्माभिः सुनिश्चित मिति ॥

अथासां शाखानां कतमा भवत्वस्त्रेयस्य मैतरेयकं प्रोक्त मिति  
विचारस्यैतर्हि प्रकृतोऽवसरः समुपस्थितः । दृश्यते हि ब्राह्मण-  
ग्रन्थेष्वेषा शैली,— यां शाखा भवत्वस्त्रेयस्य यद् ब्राह्मणम्,  
तत्संहितायां ये मन्त्रा आम्नाताः, तेषां प्रतीकग्रहणमात्रेण नाम-  
ग्रहणमात्रेण वा विधानम् ; ये मन्त्रा विधातव्या अप्यन्यशाखीया  
इति तत्संहितायां न दृश्यन्ते, तेषान्तु प्रपञ्च विधान मिति । तत्र  
प्रतीकमात्रेण यथा— “त्व मग्ने सप्रथा असि, सोम यास्ते मयो-  
भुव इत्याज्यभागयोः पुरोऽनुवाक्ये”—इति ऐ० ब्रा० १. १. ४ ।  
आम्नातौ चैतौ मन्त्रावाश्वलायन्या मस्याम् ५. १३. ४. पुनः १.  
८१. ८ । नामग्रहणमात्रेण यथा— “सुकीर्त्तिं शंसति”—इति,  
पुनस्तदुत्तरत्र, “वृषाकपिं शंसति”—इति च ऐ० ब्रा० ६. ५. ३ ।  
सुकीर्त्तिनाम सप्तर्चं सूक्तम्, वृषाकपिनाम त्रयोदशर्चं सूक्तं मिहा-



श्वलायन्याम् १०. १३१ ; १०. ८६ । अनाम्नातायाः प्रपञ्च विधानं  
यथा— “यस्माद् भीषा निषीदसि ततो नो अभयं कृधि । पशून्  
नः सर्वान् गोपाय नमो रुद्राय मीळदुष इति ता मुत्थापयेत्”—इति  
ऐ० ब्रा० ५. ५. २ । न ह्येषा ऋगिहाश्वलायन्या माम्नाता ।

तदेव मिद मैतरेयक मैतदाश्वलायन्या ब्राह्मण मिति वक्तुं  
युज्येत, यदि नामैतद्व्यतिक्रमोऽप्यत्र न प्रतीयेत ! प्रतीयते त्वेतद्व्य-  
तिक्रमोऽपि । तद्यथेहानाम्नाताना मपि मन्त्राणां प्रतीकग्रहण-  
मात्रेण विधानम्— “अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्, अग्निश्च  
विष्णो तप उत्तमं मह इत्याग्नावैष्णवस्य हविषो याज्यानुवाक्ये  
भवतः”—इति ऐ० ब्रा० १. १. ४, तथा “सावीर्हि देव प्रथमाय  
पित्र इति सावित्री मन्वाह”—इति १. ५. ४ । नैते मन्वा इहाश्व-  
लायन्या माम्नाताः ; तद्यदेतस्या आश्वलायन्या एतद् ब्राह्मणं  
स्यात्, तर्ह्येषां मन्त्राणां नूनं प्रपञ्च विधानं दृश्येत । एव मिहा-  
नाम्नाताना मपि मन्त्राणां नामग्रहणमात्रेण विधान मस्ति यथा—  
“तिस्रः सामीधेनीरनूच्य तिस्रो देवता यजन्ति”—इति ऐ० ब्रा० ३.  
५. १ । ता एतास्तिस्रः सामिधेन्य ऋचोऽवाश्वलायन्यां न  
दृश्यन्ते । तथात्राश्वलायन्या माम्नाताना मपि प्रपञ्च विधानं  
कृत मैतरेयेण । तद्यथा— “इन्द्राग्नी आगतं सुतं, गीर्मिर्नभो  
वरेण्यम्, अस्य पातं धियेषितेत्यैन्द्राग्न मध्वर्युर्ग्रहं गृह्णाति”—इति  
ऐ० ब्रा० ७. २. ७ । आम्नातैवैषा आश्वलायन्याम् ३. १२. १ ।

अस्ति च ऋक्परिशिष्टो नामैको ग्रन्थः । तदीयर्द्धमन्त्रा अपि  
केचनेह ब्राह्मणे नामग्रहणमात्रेण विहिताः श्रूयन्ते । तद्यथा—  
“प्रवह्निकाः शंसति”, “आजिज्ञासेन्याः शंसति”, “अतिवादं  
शंसति”—इति च ऐ० ब्रा० ६. ५. ७ । परिशिष्टग्रन्थीयश्रुतमन्त्रेभ्यो-

ऽप्यधिकमन्त्राणां विधानञ्चेह श्रूयते यथा— “आहनस्याः शंसति  
०—० ता दश शंसति”—इति ६. ५. १० । ऋक्परिशिष्टे खल्वा-  
हनस्यानामर्चोऽष्टावेव श्रूयन्ते, इह तु दशानां विधान मान्नातम् ।

तस्मादेतद् ब्राह्मणं नाश्वलायन्याः सम्भाव्यते, सम्भाव्यते तु  
यस्यां शाखायां प्रतीकतो नामतो वा एतद्ब्राह्मणविहितानां सर्वासा  
मेवर्चा मस्ति विद्यमानता, नास्ति चेह पठितानाम्, अपि चेह  
विहिता ऋक्परिशिष्टग्रन्थीयाश्चर्चो यथावत् समान्नाताः, तस्याः  
शाखाया एवेदं स्यादिति । तथाविधा कतमेति प्रश्नस्योत्तरं तु विलुप्त-  
पूर्वशाखाकालिकाना मद्यतनाना मस्माकं नैव सुकरम्, तथाप्यत्र  
यावच्छक्यं प्रयतिते गम्यते,— शाकल्यशिष्येण शाकलाचार्येण या  
संहिताधीताध्यापिता च, या मधीत्यैव शिशिरादयः शाखाकृतो-  
ऽभवन्, शिशिरवाष्कलसाङ्गवाद्याश्वलायनाधीता, अप्यद्यप्रच-  
लितशाकलाश्वलायनशाखातः पूर्वतना, सैव शाखा स्यादस्यैतरेय-  
ब्राह्मणस्यावलम्बन मिति । अत एवैतरेयारण्यकभाष्ये “त्रयं त्वेव न  
एतत् प्रोक्तम्”—इत्येतस्य व्याख्यान मेव मुक्तं सायणाचार्येण — “नः  
अस्मान् ( महिदासादिकान् ) शिष्यान् प्रति शाकल्येन प्राण  
ऊष्मरूप मित्यादि त्रय मेव प्रोक्तम्, न तु मांस मित्यादिकं चतु-  
र्थम्”—इति ( ३. २. २. ) । इत्थं मस्य ब्राह्मणस्य शैशिरीयादिभ्यः  
पञ्चभ्यः प्राक्तनत्वेऽपि सर्वशाकलशाखोपयोगित्व मप्यव्याहतम्;  
सर्वासा मेव तासां मिथः किञ्चिदुभेदवत्त्वेऽपि तत्त्वतोऽभिन्नसंहिता-  
कत्वात् । तस्मात् शैशिरीयाद्याश्वलायन्यन्तानां पञ्चाना मेव  
शाखाना मिद मेकं ब्राह्मण मैतरेकं नामेति च सिद्धम् ॥

( ७ )

अथेदानीं विचार्य मस्ति कोऽस्य विषय इति । यज्ञ एवास्य विषय इति ब्रूमः ; प्रायः सर्वेषां मेव ब्राह्मणग्रन्थानां तत्रैव प्रवृत्तेः । यज्ञस्वरूपन्त्वेवं निरूपितं भगवता कात्यायनेन— “यज्ञं व्याख्यास्यामः । द्रव्यं देवता त्यागः”—इति ( श्रौ० सू० १. २. १, २. ) । यज्ञस्वरूपं कथयिष्याम इति प्रथमसूत्रार्थः । ‘द्रव्यं’ पुरोडाश-चरु-सान्ध्याय्य-पशु-सोमादिकम्, ‘देवता’ अग्निविष्णुसोमेन्द्रादिकाः, देवता मुद्दिश्य पुरोडाशादिद्रव्यस्य यः ‘त्यागः’ उत्सर्गः, स यज्ञः । तत्र “तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन चेष्यते । देवतासङ्गतिस्तत्र दुर्बलन्तु परम्परम्”—इत्याहुर्याज्ञिकाः । तद्धितेन देवतासङ्गतिर्यथेह— “अष्टा-कपाल आग्नेयः, त्रिकपालो वैष्णवः”—इति १. १. १ । चतुर्थ्या देवतासङ्गतिर्यथेह— “अग्नये प्रणीयमानाय”—इत्यादि १. ५. २, “सोमाय क्रीताय प्रोक्ष्यमाणाय”—इत्यादि च १. ३. २ । मन्त्रवर्णेन देवतासङ्गतिर्यथेह प्रयाजयागेषु ( १. ३. ६. ) । तदत्र द्रव्याणि असिद्धानि, मन्त्रलक्षणानि निरुक्तालोचने प्रदर्शितानि, देवतास्वरूपाणि त्विहैवानुपदं यथामति बोधयिष्यामः ॥

अथ यागलक्षणभेदादीनप्यत्र किञ्चित् सूचयामः । स एव यागः प्रक्षेपाधिको होम उच्यते । “देवतायै सङ्कल्पितस्य वक्त्रो प्रक्षेपो होमः”—इति हि तल्लक्षणं साम्प्रदायिकम् । आह चात्र कात्यायनः— “यजति जुहोतीनां को विशेषः ? तिष्ठद्दोमा वषट्-कारप्रदाना याज्यापुरोऽनुवाक्यावन्तो यजतयः, उपविष्टहोमाः स्वाहा-कारप्रदाना जुहोतयः”—इति ( १. २. ५, ६, ७. ) । तदेवं यागस्य द्वैविध्यम् । द्विविध मपि चैतद् यागकर्म प्रधानाङ्गभेदात् पुनर्द्वि-

विधम् । तद्यथा— ये च यागा यदाग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यादिवाक्यैः दर्शपूर्णमाससंयोगिनोत्पन्नाः, ते दर्शपूर्णमासशब्दवाचाः । तेषां मेव “दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत”—इति फलसाधनत्वेन विधानात् प्रधानत्वम्, तत्प्रकरणपठित मितरत् सर्वं मग्न्यन्वाधानादि ब्राह्मणतर्पणान्तं तदङ्गजातम् ; फलश्रुतिशून्याः प्रयाजादियागाः पूर्वाधारादिहोमाश्च तत्प्रकरणपठितास्तदुपकारका इति तदङ्गभाजना एव । तदुक्तं मापस्तम्बर्षिणा यज्ञपरिभाषायाम्— “आग्नेयोऽष्टाकपालोऽग्नीषोमीय एकादशकपाल उपांशुयागश्च पौर्णमास्यां प्रधानानि, तदङ्ग मितरे होमाः”—इति (७७, ७८ सू०) । ‘सहाङ्गं प्रधानम्’—इति ( ८६ सू० ) च तत्रैव प्रधानलक्षणम् ।

ते यागाः पुनस्त्रिविधाः ; इष्टि-होत्र-सोमभेदात् । दर्शपूर्णमासादय इष्टयः, अग्न्याधेयानिहोत्रादयो होत्राः, अग्निष्टोमात्यग्निष्टोमादयः सोमाः । ते पुनस्त्रिसप्तकाः ; हविः-पाक-सोम-संस्थाभेदात् । तत्र अग्न्याधेयः, अग्निहोत्रम्, दर्शः, पौर्णमासः, आग्रयणम्, चातुर्मास्यम्, पशुबन्धश्चेति सप्त हविःसंस्थाः । सायंहोमः, प्रातर्होमः, स्थालीपाकः, नवयज्ञः, वैश्वदेवः, पितृयज्ञः, अष्टकेति सप्त पाकसंस्थाः । अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, आतोय्याम इति सप्त सोमसंस्थाः । त एव सोमयागाः पुनरेकाहाहीनसत्रभेदात् त्रिविधा भवन्ति । एतद्विज्ञाता अप्यन्ये बहवः सन्ति काम्ययागाः । तद्यथेष्टयः— आयुष्कामेष्टिः, पुत्रेष्टिः, पवित्रेष्टिः, वर्षकामेष्टिः, प्राजापत्येष्टिः, वैश्वानरेष्टिः, नवशत्येष्टिः, ऋक्षेष्टिः गोष्यतीष्टिः एवमादयः । गोमेधाश्वमेधादयस्तु पशुयागा उच्यन्ते, ते तु सोमान्तर्गताः । सौत्रामणीयागोऽपि सोमविकार एव ।



अस्ति चैषां यागानां प्रकृतिविकृतिभेदः । यस्मिन् यागेऽपर-  
विधिनिरपेक्षाणां सर्वेषां मेव कर्मणा सुपदेशः श्रुतः, स एव  
प्रकृतियागः; प्रकृतिवच्च विकृतिः कर्तव्या भवति । अत्रा-  
हापस्तम्बः— “दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः, अग्नीषोमीयस्य  
च पशोः, स सवनीयस्य, सवनीय एकादशिनानाम्, एकादशिनः  
पशुगणानाम्, वैश्वदेवं वरुणप्रघास-साकमेध-शुनासीरीयाणाम्,  
वैश्वदेविक एककपाल एककपालानाम्, वैश्वदेव्यामिक्षामिक्षा-  
णाम्, ०—०, अग्निष्टोम एकाहानां प्रकृतिः, द्वादशाहो ऽहर्गणा-  
नाम्, गवामयनं सांवत्सरिकाणाम्, निकायिनान्तु प्रथमः”—इति  
( य० प० सू० ११६—१४४ सूत्राणि ) । एषु सर्वेष्वेव सूत्रेषु  
प्रकृतिरित्यनुवर्तत इति ध्येयम् ॥

देवता । सर्वेष्वेतेषु यागेष्वङ्गयागेषु च यत्र कुत्रचित् यस्य  
कस्यचित् द्रव्यादेः प्रार्थनीयफलदानसामर्थ्यं आरोपयन् यां कां च  
स्तुतिं करोति, तस्मिन्मन्त्रस्य सैव देवता, तादृशस्तुतिमन्त्रप्रधानः स  
च यागस्तद्देवतो मन्यते । तदाह निरुक्तकारो भगवान् यास्कः—  
“यत्काम ऋषिर्यस्यां देवताया मार्यपत्य मिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दे-  
वतः स मन्त्रो भवति”—इति ( निरु० ७. १. १. ), “यो देवः  
सा देवता”—इति च ( ७. ४. २. ) । “देवो दानाद्वा, दीप-  
नाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा”—इति देवशब्द-  
निर्वचनञ्च तत्रैव । द्युशब्दश्चात्र भस्मण्डलमात्रस्योपलक्षकः; एवं हि  
अन्तरिक्षस्थानां चन्द्रादीनां, सौरजगदहिर्मूतानां ध्रुवादीनाञ्च ग्रहण-  
मिह सिध्यति । तदेव मिन्द्रवाय्वादीनां मचेतनानां वृद्ध्यादिदान-  
हेतुकम्, याजावरराजादीनां चेतनानां चार्थादिदानहेतुकं देव-  
त्वम्; अश्वादिजीवानां मजीवानाञ्च ग्रावादीनां दीप्तिहेतुकं देव-



त्वम् ; अग्निचन्द्रपर्जन्यादीनां ब्रह्मवर्चस्विनां विदुषाञ्च द्योतनहेतुर्क  
 देवत्वम् ; सूर्यसूर्यकरादीनां तदुपरिस्थानां तारकादीनाञ्च द्युस्थत्व-  
 निबन्धनं देवत्वम् ; यत्र त्वीश्वरे सर्व एवैते गुणा उपपद्यन्ते,  
 तस्य देवत्वस्य तु कैव कथा । तदेव माब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषां  
 मेव पदार्थानां देवत्वमुपगम्यते । द्युस्थत्वे सति दानादिगुणवत्त्व-  
 मिदमेकमेव देवत्वलक्षणं स्वीकार्यमिति मते तु सूर्येन्द्राग्न्यनि-  
 लेन्दुप्रभृतीनां मूलतो भ्रमण्डलस्थाना मेव पदार्थानां मुख्यं देव-  
 त्वम् , तत्तत्स्थानभक्तिसाहचर्यतत्त्वान्येषां भूरादिलोकानां तत्रत्यानां  
 मश्वसोमौषध्यादीनामपीत्येव विशेषः ।

अन्यत्रोक्तं यास्केन— “तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः  
 पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः”—इति  
 ( ७. २. १. ), “तासां ( तिसृणां देवतानां ) भक्तिसायचर्यं व्याख्या-  
 स्यामः । अथैतान्यग्निभक्तीनि—अयं लोकः ०—० ये च देवगणाः  
 समान्नाताः प्रथमे स्थाने”—इत्यादि ( ७. ३. १. ) च । तानि च  
 प्रथमे स्थाने समान्नातानां देवानां नामानि निघण्टावाम्नातानि—  
 “अश्वः शकुनिः मण्डुकाः”—इत्यादीनि ( ५. ३. १—३६. ) षट्त्रिं-  
 शत् द्रष्टव्यानि । व्याख्याताश्च ता देवता निरुक्ते समन्वोदाहरणम्—  
 “अथ यानि पृथिव्यायतनानि सुतिं लभन्ते, तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः ।  
 तेषां मश्वः प्रथमागामी भवति”—इत्यादिना ( ८. १—४३. ) । एवम्  
 अथैतानीन्द्रभक्तीनि अन्तरिक्षलोकः ०—० ये च देवगणाः समा-  
 न्नाता मध्यमे स्थाने”—इत्यादि चोक्तं तत्र तदुत्तरम् ( ७. ३. ३. ) ।  
 मध्यमे स्थाने समान्नातानां देवानां नामानि च तत्रैव निघण्टौ—  
 “श्वेनः सोमः चन्द्रमाः”—इत्यादीनि षट्त्रिंशत् ( ५. ५. १—  
 ३६. ) । व्याख्याताश्च ता अपि देवता निरुक्ते समन्वोदाहरणम्—

“अश्विनौ व्याख्यातस्तस्यैषा भवति”—इत्यादिना ( ११. १—५०. ) ।

एवम् “अथैतान्यादित्यभक्तीनि असौ लोकः ०—० ये च देव-

गणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने”—इत्यादि चोक्तं तत उत्तरम्

( ७. ३. ४. ) । उत्तमे स्थाने समाम्नातानां देवानां नामा-

न्यपि तत्रैव निघण्टौ— “अश्विनौ उषाः सूर्या”—इत्यादीनि

एकत्रिंशदाम्नातानि ( ५. ६. १—३१. ) । व्याख्याताश्च

ता अपि देवता निरुक्ते समन्वोदाहरण मेव— “अथातो

द्युस्थाना देवतास्तासा मश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः”—इत्यादिना

( १२. १—४६. ) । तदेवं प्रधानतो देवतात्रित्वेऽपि स्थानभक्त्या-

दितो तद्वहुत्वं च न विरुद्धम् । तत एवेद मुक्तं तत्र तेनैव— “तासां

( तिसृणां देवतानां ) माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नाम-

धेयानि”—इति ( ७. २. १. ) । भागो विभागो भक्तिश्चैकार्थाः ।

महाभागस्य भावो माहाभाग्यम् । तच्च माहाभाग्यम् एकस्थान-

भाक्तेन, एकस्मिन् मन्त्रे साहचर्यतयान्नातत्वेन, एककर्मभाक्तेन, एक-

वाच्यभाक्तेन च भवति । तस्मान्माहाभाग्यादेव देवबहुत्वं स्वीकार्यं

मिति तदर्थः । तदित्ये माब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषा मेव पदा-

र्थानां पारिभाषिकं देवत्व मभ्युगत्यैव “यत्काम ऋषिर्यस्यां देवताया

मार्थपत्य मिच्छन् सुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति”—इत्युक्त

( निरु० ७. १. १. ) मिति फलितम् । तस्मात् वैदिकमन्त्रेषु सुता

एव पदार्थाः तन्मन्त्रतः सुतिकाले एव च देवत्वेन सुत्या भवन्ति ;

नान्ये नाप्यन्यत्रेत्येव याज्ञिकसिद्धान्तः । अत एव ते मन्त्रमयी

देवतेत्येव स्वीकुर्वन्तीति च प्रवादः ।

तत्रापि प्रधानतस्त्रयस्त्रिंशदेव देवताः सर्वसंहितासु परिगण्य

दर्शिताः । तद्यथा— “ये त्रिंशति त्रयस्यरो देवासो बहिरासदन् ।

विदन्नह द्वितासनन्”—इति ऋ० सं० ८. २८. १ । “त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्”—इति वा० सं० १४. ३१ । “यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा । निधिं त मय्य को वेद यं देवा अभिरक्षय”—इति अथ० सं० १०. २३. ४. २३ । ब्राह्मणेषु च प्रायः सर्वेष्वेवैव मेव ।

तथा चास्त्रिंश ब्राह्मणे देवानां त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्याकत्वं मसक्त-  
दान्नातम् । तद्यथा— “त्रयस्त्रिंशद्देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा  
द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च”—इति ( ३. २. ११. ) ।  
एव मध्येतदतिरिक्ता अपि देवताः समान्नाताः । तद्यथेहैव प्रायणी-  
येऽधारम्भे ( १. २. १. ) — “पथ्यां यजति”, “अग्निं यजति”, “सोमं  
यजति”, “सवितारं यजति”, “उत्तमा मदितिं यजति”—इति ।  
तदत्राग्निभिन्नाः सर्वा एव तास्त्रयस्त्रिंशद्भ्योऽतिरिक्ताः श्रुताः ; अथ  
सवितुरादित्यविशेषत्वेन त्रयस्त्रिंशान्तःपातित्वस्वीकारेऽप्यन्यासां ति-  
सृणां तदतिरिक्तत्वं मपरिहार्यम् । अत एव निघण्टौ दैवते काण्डे  
वस्वादिभिन्ना अपि बह्व्यो देवता आम्नाताः । । प्रदर्शितत्रयस्त्रिंशदु-  
गणनन्तु सोमप-पर मिल्येव । तदाहेहैवैतरेये— “त्रयस्त्रिंशद्देवाः  
सोमपास्त्रयस्त्रिंशदसोमपाः । अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वाद-  
शादित्याः, प्रजापतिश्च वषट्कारश्च ; एते देवाः सोमपाः । एका-  
दश प्रयाजाः, एकादशानुयाजाः, एकादशोपयाजाः ; एतेऽसोमपाः  
पशुभाजनाः । सोमेन सोमपान् प्रीणाति , पशुनाऽसोमपान्”—  
इति २. २. ८ । एवं शतपथादिष्वपि द्रष्टव्यम् ।

तदत्र पूर्वं सोमपानां त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्यानां देवानां परिचयाय  
किञ्चिद् यतामहे ।— ‘वसवः’—इति पदं निघण्टौ रश्मिनामसु  
पठितम् ( १. ५. १०. ), पुनः द्युस्थानदेवनामसु च ( ५. ६. २८. ) ।

निरुक्तकारो भगवान् यास्कस्त्वस्य वसुशब्दस्य निर्वचनादिक मेव  
मकरोत्— “वसवः । यद् विवसते सर्वम् । अग्निर्वसुभिर्वासव इति  
समाख्या ; तस्मात् पृथिवीस्थानाः”—इत्यादि , “इन्द्रो वसुभिर्वा-  
सव इति समाख्या ; तस्मान्मध्यमस्थानाः”—इत्यादि , “वसवः=  
आदित्यरश्मयः , विवासनात् ; तस्माद् द्युस्थानाः”—इत्यादि च  
( १२. ४. ७, ८, ९. ) । तदेवं निरुक्तमते पार्थिवाग्निशिखाः,  
वैद्युताग्निप्रभाः , उत्तमाग्निरश्मयश्चेति तमोविवासनहेतवस्त्रि-  
स्थानास्त्रिविधा वसवो निर्णीताः ; तत्रतत्र तत्तन्निगममन्वान्नान-  
प्रदर्शनादिभ्यः । तदेतत् सर्वं तत्तन्निरुक्तग्रन्थत एवावगन्तव्यम् ।  
शतपथश्रुतितोऽपि वसूनां त्रिस्थानत्वादिक मेवावगम्यते, परं तत्त्व-  
न्यविधम् । तथाहि— “कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च,  
वायुश्चान्तरिक्षञ्च, आदित्यश्च द्यौश्च, चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः;  
एतेषु हीदं सर्वं वसुहित मेते हीदं सर्वं वासयन्ते ; तद्यदिदं सर्वं  
वासयन्ते तस्माद् वसव इति”—इति ( १४. ५. ७. ८. ) । एवं हि  
तेषां तत्त्वतस्त्रिस्थानत्वेऽपि “स गायत्री मेवाग्नये वसुभ्यः प्रातस्सवने-  
ऽभजत्”—इत्यादिश्रुतिषु ( ऐ० ब्रा० ३. २. २. ) वसूनां गायत्री-  
च्छन्दोभागित्वकल्पनात् , अग्निना सहाम्नानात् , प्रातस्सवनदेव-  
त्वेनोपन्यासाच्च पृथ्वीस्थान मेव प्रधानम् । तैत्तिरीयारण्यके तु  
वसूनां पार्थिवाग्निस्वरूपत्वं स्फुटं मान्नातम् ( १. ९. १. )—

“अग्निश्च जातवेदाश्च सहौजा अजिराः प्रभुः ।

वैश्वानरो नर्यपाश्च पंक्तिराधाश्च सप्तमः ।

विसर्प्येवाष्टमोऽग्नीना मेतेऽष्टौ वसवः क्षितौ”—इति ।

एवमपि “अप्येते उत्तरे (मध्यमोत्तमे) ज्योतिषी अग्नी उच्येते”  
—इति ( ७. ४. ३. ) निरुक्तसिद्धान्तात् अग्निविशेषाणां वसुदेवानां



त्रिस्थानत्व मध्यव्याहतम् । तथाचाष्टौ वसवो ऽष्टविधा अग्नय इत्येव सारम् ।

‘रुद्राः’—इति पदं निघण्टौ माध्यमिकदेवनामसु पठितम् (५. ५. ६.) । तथा चैषा मन्तरिक्षस्थत्वेन वायुभक्तित्वं भवगम्यते । तन्निर्वचनादिकन्त्वेव भवादि यास्केन—“रुद्रो रौतीति सतो रोरुयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा । यदरुरुदत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्व मिति काठकम् । यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्व मिति हारिद्रविकम्”—इत्यादि (१०. १. ५.) । एतेन च रुद्राणां वायुविशेषत्वं मेव प्रतीयते । ततस्तेनैव तदुत्तरमुक्तेन “अग्निरपि रुद्र उच्यते”—इत्यादिना (१०. १. ७.) रुद्रस्याग्निविशेषत्वे निष्कीर्तिऽपि माध्यमिकत्वाद् वायुभक्तित्वं न विरुद्धम्; विद्युदग्नेर्हि आन्तरिक्षा-न्माध्यमिकत्वम्, तस्माद् वायुसभागत्वं च सुव्यक्तम् । ऐतरेये-ऽप्यत्र “( सः ) त्रिष्टुभ मिन्द्राय रुद्रेभ्यो मध्यन्दिने ( व्यभजत् )”—इति श्रुतौ ( ३. २. ३. ) रुद्राणां त्रिष्टुप्छन्दोभागित्वकल्पनात्, इन्द्रेण सहाम्नानात्, माध्यन्दिनसवनदेवत्वेनोपन्यासाच्चान्तरिक्ष-स्थानत्व मेव बुध्यते । शतपथेऽपि रुद्रा वायुविशेषा एव विश्रुताः, परं त्वन्यथैव । तद्यथा—“कतमे रुद्रा इति, दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति; तद्यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति ( १४. ५प्र. ७. ५. ) । अथात्र तैत्तिरीयारण्यकम् ( १. ६. ४. )—“अथ वायोरेकादश । ०—० ।

प्रभ्राजमाना व्यवदाता याश्च वासुकि-वैद्युताः ।

रजताः परुषाः श्यामाः कपिला अतिलोहिताः ।

ऊर्द्धा अवपतन्ताश्च वैद्युत इत्येकादश”—इति ।

तदित्यं विद्युत्संज्ञिताः स्फूर्जयुनिदानरूपा आन्तरिक्षा वायु-



विशेषाः तथाविधवायुसंम्लिष्टा विद्युदग्नयो वा रुद्राः, स्फूर्जथुरेव तेषां रोदन मिति निश्चितम् ।

‘आदित्याः’—इति पदं निघण्टौ द्युस्थानदेवतासु पठितम् (५. ६. २४.) । तथा चैषां द्युस्थत्वेन सूर्यभक्तित्वं मवगम्यते । तन्निर्वचनादिकन्त्वेव मवादि तेनैव— “आदित्यः कस्मात् ? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासा इति वा, अदितेः पुत्र इति वा”—इति (२. ४. १.), “अथातो द्युस्थाना देवगणास्तेषा मादित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति”—इत्यादि च ( १२. ४. १. ) । तदेतेन तेषा मादित्यानां सूर्यविशेषत्वं द्युस्थानत्वं चावगम्यते । “आदित्येभ्यस्तृतीयसवने”—इत्यादिश्च ( ३. २. २. ) अत्र ऐतरेय-श्रुतिः ; तदेतत्तृतीयसवनभाक्तेन चादित्यानां द्युस्थानत्वं मेव बुध्यते । श्रूयतेऽप्येवं शतपथे— “कतम आदित्या इति, द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः ; एते हीदं सर्व माददाना यन्ति । तद्यदिदं सर्व माददाना यन्ति, तस्मादादित्या इति”—इति ( १४. ५ प्र० ७. ६. ) । तदित्य मादित्यापरपर्यायसूर्यकृतमासरूपकालाना मप्यादित्यत्वम्, सौरत्वेन च तेषां द्युस्थानत्वं मपि सुवचम् ।

गुरुचरणैस्त्विह— ‘निरुक्ते व्याख्याताः सवित्रादयो द्वादश सूर्यविशेषा एवादित्याः’—इत्युपदिष्टम् । तथाच १२. २, ३ ख०—

“सविता, ०—० तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्ण-रश्मिर्भवति”—इत्याद्युक्तः प्रथम आदित्यः ।

“भगः, तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्”—इत्याद्युक्तो द्वितीयः ।

“सूर्यः, सत्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा”—इत्याद्युक्तस्तृतीयः ।

‘स पुनरयं भगकालात् सृतः सूर्यो भवति’—इति तत्र दौर्गी वृत्तिः ।

“अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति, तत् पूषा भवति”—इत्याद्युक्त-  
श्चतुर्थः । ‘आपूर्णस्तेजसा’—इति तद्वृत्तिः ।

“अथ यद् विषितो भवति, तद् विष्णुर्भवति”—इत्याद्युक्तः पञ्चमः ।

“विश्वानरः [प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि ७. ६. १.]”—इत्याद्युक्तः षष्ठः ।

“वरुणः [वृणोतीति सतः १०. १. ३.]”—इत्याद्युक्तः सप्तमः ।

“केशी, केशा रश्मयस्तद्वान्”—इत्याद्युक्तोऽष्टमः ।

“अथ यद्रश्मिभिरभिकम्पयन्नेति”—इत्याद्युक्तो वृषाकपिर्नवमः ।

‘वर्षिता चावश्यायानां कम्पनश्च भूतानाम्’—इति तद्वृत्तिः ।

“यमः [यच्छतीति सतः १०. २. ६.]”—इत्याद्युक्तो दशमः ।

“अजएकपाद्, अजनः एकः पादः ; एकेन पादेन पातीति वैकेन  
पादेन पिबतीति वैकोऽस्य पाद इति वा”—इत्याद्युक्त एकादशः ।

‘समुद्रः [सम्भोदन्तेऽस्मिन् भूतानि २. ३. १.]”—इत्याद्युक्तो द्वादशः ।

तदित्यं द्वादशमासकाला द्वादशविधसूर्या वा द्वादश आदित्या  
गम्यन्ते । अभिधानभेदात् कर्मभेदाच्च देवताभेदो नैरुक्तादिसम्मत  
एव । अतएव एकस्यैव तेजसोऽग्निविद्युत्सूर्येति त्रित्वम्, अप्येकस्यै-  
वाग्नेः अग्निः, जातवेदाः, द्रविणोदाः, वैश्वानरः इति चत्वार्यभि-  
धानानि पृथक्देवतात्वेनास्मात्तानि ( निघ० ५. १. २. ) । उक्तञ्चेदं  
निरुक्ते स्फुटम्— “कर्मपृथक्त्वात्—० पृथग्भि सुतयो भवन्ति  
तथाभिधानानि”—इत्यादि ७. २. १ द्रष्टव्यम् ।

अदितेः पुत्रा इति चादित्याः श्रुतिपरिचिताः सन्त्यष्टौ,  
तथाहि ऋ० सं० २. २७. १, य० वा० सं० ३४. ५४—

“इमा गिर आदित्येभ्यो घृतसूः सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि ।  
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नसुविजातो वरुणो दक्षो अंशः”—इति ।

अत्र ‘सुविजातः’—इत्यस्य ‘बहुजातश्च धाता’—इत्यर्थः कृतो

यास्कोन ( १२. ४. २. ) । तदेव\* मस्या मृचि सप्तादित्यनामानि  
श्रुतानि ; अष्टमस्त्वादित्यो मार्त्तण्डनामा । स चान्यत्र श्रुतः ।  
तद्यथा ऋ० सं० १०. ७२. ८—

“सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत् पूर्वं युगम् ।

प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्त्तण्ड माभरन्”—इति ।

उपपद्यते चैवम् “अष्टौ पुत्रासो अदितेः”—इति ( ऋ० सं०.  
१०. ७२. ८. ) श्रुतिश्च । “अदितिरन्तरिक्षम्”—इत्यैतरेयकम्  
( ३. ३. ७. ) । “अदितिरदीना देवमाता”—इत्यादि च नैरुक्तम्  
( ४. ४. २, ३. ) । त एतेऽष्टावादित्या आन्तरिक्ष्याः ; अत एषा  
मिह नोपयोग इति च ध्येयम् ॥

अथ प्रदर्शितैतरेयश्रुतिसमाम्नानक्रमतः प्रजापतिं निरूप-  
यामः— ‘प्रजापतिः’—इति पदं निघण्टावन्तरिक्षस्थानेष्वाम्नातम्  
( ५. ४. २८. ) । “प्रजापतिः, प्रजानां पाता वा पालयिता वा”  
—इत्याह यास्कः ( निरु० १०. ४. ५. ) । “प्रजापतिर्वा इद मेक  
एवाग्र आस, सोऽकामयत प्रजायेय भूयान्त्या मिति”—इत्यादि च  
ऐ० ब्रा० २. ५. १ । तदित्यं परमेश्वर एव प्रजापतिरभिगम्यते ।  
कालवाच्यपि प्रजापतिशब्दः श्रूयते— “संवत्सरः प्रजापतिः ;  
सोऽस्य सर्वस्य प्रजनयिता”—इति च तत्रैव ( २. ५. ७. ) । “प्रजा-  
पतिश्चरति गर्भे अन्तः”—इति ( य० वा० सं० ३१. १८. ) श्रुतेः  
जीवोऽपि प्रजापतिर्गम्यते । “यः ( प्रजापतिः ) देवेभ्य आतपति”  
—इत्यादि च तत्रैव ( ३१. २०. ), “प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहि-  
तरं प्रायच्छत् सूर्या सावित्रीम्”—इत्याद्यैतरेयकम् ( ४. २. १. ),  
प्रजापतिर्वै स्वां दुहितर मभ्यध्यायत्, तद्विव मित्यन्य आहुः उप्रस  
मित्यन्ये”—इत्यादि च तत्रैव ( ३. ३. ८. ) । एवमाद्याम्नायेभ्यः

सूर्योऽपि प्रजापतिरवगम्यते । “एष वै प्रजापतिर्यदग्निः”—इति  
तु तैत्तिरीयकम् ( ब्रा० १. १. ५. ५. ) । “प्रजापतिर्हि वाक्”  
—इति च तत्र तदुत्तरम् ( १. ३. ४. ५. ) । “रूपं वै प्रजापतिः”  
—इति, “नाम वै प्रजापतिः”—इति च तत्रैव ( २. २. ७. १. ) ।  
“यज्ञो वै प्रजापतिः”—इति च तै० ब्रा० १. ३. १०. १० । शत-  
पथब्राह्मणे “कतमः प्रजापतिः—इत्याशङ्क्य “यज्ञः प्रजापतिः”  
—इति समाहितम् ( १३. ५प्र. ७. ) । तैत्तिरीयसंहितायान्तु  
“मन इव हि प्रजापतिः”—इति ( ६. ६. १०. ३. ) मनसोऽपि  
प्रजापतित्वं मान्नातम् । “प्रजापतिः स्यात् वायुराकाश आदित्यो  
वा”—इति चाह मीमांसासूत्रभाष्ये शबरः ( १. २. १०. ) । तदित्यं  
प्रजापतिशब्दो बहुवचनः । अत एवान्नातं मिह— “अपरिमितो वै प्रजा-  
पतिः”—इति ( ६. १. २. ) । शतपथे ऽप्येवं श्रुतम्— “सर्वं वा इदं  
प्रजापतिर्यदिमे लोका यदिदं किञ्च”—इति ( ५. १. ३. ११. ) ।  
एव मपि “दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः ( ऋ० सं० ४. ५३. २. )  
—इत्याद्यान्नातं प्राबल्यात् आदित्य एव मुख्यः प्रजापतिरित्यस्माकम् ॥

अथेहैतरेये सोमप-देवानां त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्यापूरको वषट्कारः  
श्रुतः । “वौषडिति वषट्कारः”—इत्याहाश्वलायनः ( श्री० सू० )  
१. ५. १२ । “उच्चैस्तरां वा वषट्कारः”—इति च पा० सू०  
१. २. ३३ । “यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा  
ध्यायेद् वषट् करिष्यन्निति ह विज्ञायते”—इत्याह यास्कः ( निरु०  
८. २. ७. ) । श्रुतञ्चैतद् वचनं मिहैतरेये । तथाहि— “यस्यै  
देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायेद् वषट् करिष्यन्  
साक्षादेव तद्देवतां प्रीणाति, प्रत्यक्षाद् देवतां यजति”—इति  
३. १. ८ । तदित्यं वौषडिति उच्चैर्ध्वनिरेव वषट्कारो देव इति

सुवचम् । यत्त्वाम्नातं शतपथे—“प्राणो वै वषट्कारः”—इति ( ४. २. १. २८. ) तन्नु स्यादौपचारिकम् ; उच्चैर्ध्वनिः प्राणभृतां बलवता मेव भवतीति ॥

शतपथब्राह्मणे हि वस्वादिषु त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्याकेषु देवेषु वषट्कारो न श्रूयते, श्रूयते त्विन्द्रपपदम् । तथाहि—“अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत्, इन्द्रश्च प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशौ”—इति ११. ६. ३. ५ । तत्रैवोत्तरत्र ( १४. ५ प्र० ७. )—“कतम इन्द्रः ?”,—इत्याशङ्क्य “स्तनयितुरेवेन्द्रः”—इति सिद्धान्तितम् । अत्र स्तनयितुर्हेतुर्मेघचालको वायुरेवार्थो बोध्यः । तथा तत्रैव तत उत्तरं श्रुतम्—“कतमः स्तनयितुः ?”—इति प्रश्नपूर्वकम् “अशनिरिति”—इति । अत्राप्यशनिहेतुः स्तनयितुरित्येवार्थः प्रतीयते । यास्काचार्येण त्विन्द्रशब्दो बहुधा निरुक्तो बह्वदाहृतश्च ( ७. २. १. ) ; ततोऽपि मेघचालको वायुरेवेन्द्र इति प्रधानतोऽवगम्यते, परमेश्वरात्मादित्यकालाद्यर्थाश्च गम्यन्ते यथाप्रकरणम् । तदेतत्सर्वं मस्मत्कृतायां नैरुक्तदैवतसूच्यां सूचितम्, तन्निर्वचनादिकन्विहाप्यनुपदं दर्शयिष्यामः ॥

अपि शतपथे ब्राह्मणे ( ४. २. ७. २. ) सोमपदेवेषु द्यावापृथिव्योर्द्वात्रिंशत्त्रयस्त्रिंशत्त्वे अभ्युपगम्य, तेषां मुत्पादकस्य प्रजापतेश्चतुस्त्रिंशत्त्रयस्त्रिंशत्त्वात्मातम् । तथाहि—“अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमे एव द्यावापृथिव्यौ त्रयस्त्रिंशौ ; त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः, प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः”—इति ॥

अथासोमपानाम् । — तत्र प्रयाजदेवानां परिचयाय ऐतरेयोक्तं “समिधो यजति”—इत्यादिक मेवेष्टम् ( २. १. ४. ) । तैत्तिरीयेऽप्येवम्—समिधः, तनूनपात् नराशंसो वा, इडः, बर्हिः,



दुरः, उषासानक्ता, दैव्याहोतारा, तिस्रो देव्यः, त्वष्टा, वनस्पतिः, स्वाहाकृतयः, — इत्येवैकादशविधाः ( ब्रा० ३. ६. २. ) । प्रधानस्य यागस्य प्रमुखे या एकादश आहुतयो ह्यन्ते, ता एव प्रयाजाहुतयः प्रयाजयागा वा उच्यन्ते । तन्मन्त्राणां देवाप्रीणनहेतुत्वात् वेदेषु आप्रीति व्यपदेशः । ते त्वाप्रीमन्त्रा यद्यपि सर्वत्राम्नाताः द्वादश, समिदादयः प्रयाजदेवता अपि द्वादशैव श्रुताः, तथापि तत्र द्वितीयतृतीययोर्वैकल्पिकत्वेन विधानादेकत्वसिद्धेरेकादशैव पर्यवसन्ना भवन्ति । तदेतत् सर्वं सर्वब्राह्मणेषु विश्रुतम्, भगवता यास्केन च स्पष्टीकृतम् ( ८. ३. ७. ) । समिदादिव्याख्यानञ्च निरुक्तादौ सुव्यक्तम्, यथा— “इध्मः (समिधः) समिन्धनान्०—० यज्ञेध्म इति कात्यक्यः”, “तनूनपात् आज्यं भवति”, “नराशंसो यज्ञः”, “इडः०—० ईडितव्यः ( यज्ञियाग्निः )”, “बर्हिः परिवर्हणात् ( कुशः )”, “द्वारः ( दुरः )०—० गृहद्वारः”, “उषासानक्ता = उषाश्च नक्ता च ; उषा व्याख्याता ( रात्रेः अपरः कालः ), नक्तेति रात्रिनाम”, “दैव्याहोतारा = दैव्यौ होतारौ ; अयञ्चाग्निरसौ च मध्यमः”, “तिस्रो देव्यः ( ‘इडा’, ‘भारती’, ‘सरस्वती’ )”, “त्वष्टा = माध्यमिकः ( रूपकृत् )”, “वनस्पतिः = यूपः”, “स्वाहाकृतयः, स्वाहेत्येतत् सु + आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा”—इति ( ८. २. १—८. ३. ५. ) । “दैव्याहोतारा = नेष्टापोतारौ”—इति तै० ब्रा० ३. ६. १३. ६ । ‘दैव्यहोतृशब्दवाच्यौ षष्ठानुयाजदेवस्य द्वौ देहौ’—इत्यादि तत्र सा० भा० । तथाच तत्तन्नामकौ द्वावृत्विजौ । तदेव मिध्मादयः स्वाहाकृत्यन्ताः सर्व एवेमे पदार्था यज्ञसम्बन्धित्वात् देवत्वेन श्रुता इत्येव ब्राह्मणकृता माशयः फलितः ॥

एवं प्रधानयागस्य पश्चाद् या एकादश आहुतयो ह्यन्ते , ता एवानुयाजाहुतयोऽनुयाजयागा वा उच्यन्ते । तासा मेकादशाना माहुतीनां देवा इहैतरेये न श्रुतास्तैत्तिरीयके तूपलभ्यन्ते । तद्यथा— “बर्हिः, द्वारः, उषासानक्ता, जोष्टी, ऊर्जाहुती, दैव्या-होतारा, तिस्रो देव्यः , नराशंसः, वनस्पतिः, बर्हिः, स्विष्टकृत्— इति तै० ब्रा० ३. ६. १२. १४ । अत्र बर्हिषो द्विरुपादानं किञ्चिद्-विशेषाभिप्रायम् , तत् तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

उपयाजदेवाना मपि परिचयस्तैत्तिरीयत एवावगम्यते । तद्यथा— “समुद्रः, अन्तरिक्षम् , सविता, अहोरात्रे, मित्रावरुणौ, सोमः, यज्ञः, कन्दांसि, द्यावापृथिव्यौ, दिव्यं नभः, वैश्वानरः—इति ( तै० सं० १. ३. १. ; ६. ४. १. ६—१६. ) ॥

एवञ्च सोमपासोमपदेवानां समुदितानां सङ्ख्या चतुष्षष्टिः पञ्चषष्टिर्वा गम्यते । इतोऽतिरिक्ता अपि सन्ति ये पारिभाषिका देवास्तेषां परिगणन मसम्भव मेव । तदेवं देवाना मसङ्ख्येयत्वेऽपि दाशतय्यां प्रधानतया अग्निवायुिन्द्रसूर्याणां स्तुत्यादिदर्शनात् त एव चत्वारो देवा मुख्या गण्यन्ते ; तत्रापीन्द्रस्य प्रायो वायुविशेषत्वेनोपगमात् देवतात्रित्व मेव सम्प्रद्यते । तदाह यास्कः— “तिस्रो देवता इति नैरुक्ताः ;— “अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः—इति ( ७. २. १. ) । तदेव मत्र पृथिव्या मग्निरेव मुख्यो देवः, जलादयस्तदेकस्थानास्त्वप्रधानाः, अश्वादयश्चेतना इध्मादयोऽचेतनाश्च पारिभाषिकाः । अन्तरिक्षे वायुर्वेन्द्रो वा मुख्यो देवः, पर्जन्यादयस्तदेकस्थानास्त्वप्रधानाः, श्येनादयोऽन्तरिक्षचराश्चेतना वागादयोऽचेतनाश्च पारिभाषिकाः । द्युलोकैऽप्येवं सूर्यो मुख्यः, अश्विप्रभृतयस्तदेकस्थानास्त्वप्रधानाः,

पारिभाषिकदेवास्तु तत्र नैव सन्तीति गम्यते ; ब्राह्मणग्रन्थेषु तत्र-  
त्यानां तथाविधाना मनुस्मृतिश्चादिति ॥

तदत्र पारिभाषिकदेवत्व मापन्नाना मश्वशकुन्यादीनाञ्चे-  
तनानाम्, अपीधवागादीना मचेतनानाञ्च देवशरीरवत्त्वं कलत्रा-  
पत्यादिमत्त्वं रागद्वेषादियुक्तत्वञ्च नास्तीति तु लाङ्गलस्कन्ध-पांशुल-  
पादुकैर्हालिकेरप्यभिगन्तुं शक्यते, मुख्यदेवाना मग्न्यादीनां तु  
तत्तदस्ति नास्ति वेति संशयः स्यादवेदविदुषां बालानाम् ; पौरा-  
णिका एव हीदृशसंशयस्योत्थापकाः । वस्तुतो यथा पारिभा-  
षिकदेवानां प्रत्यक्षदृश्यानां सर्वत्र सर्वैर्व्यवहार्याणा मिधादीनां  
देवशरीराद्यभाववत्त्वेऽपि देवत्वं भवत्येवोररीकार्यम्, मुख्याना  
मग्न्यादीना मपि देवानां नूनं तथैव ; \*यास्कोक्ततत्तन्नामनिर्वचन-  
स्थाननिर्देशकर्मनिरूपणोत्पत्तिवर्णनेभ्यस्तथैव प्रतीतेः, ब्राह्मण-  
विहिताग्निप्रणयनादीना मतैवोपपत्तेः, तत्तन्मन्त्रेष्वपि तादृशार्थ-  
प्रतिपादकवर्णनश्रुतेः, सोदाहरणदेवलक्षणान्यतमश्रुतितोऽपि तथैवा-  
वगतेः, दृष्टेभ्य एवैभ्य उपपन्ने च देवकार्यफले अदृष्टविग्रहादि-  
कल्पनानौचित्याच्चेति ।

तदत्र प्रथम मग्न्यादिदेवानां नामनिर्वचनादिकं दर्शयामः—

“अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते”—  
इत्याद्यग्निनिर्वचनानि ( निरु० ७. ४. १. ) । एष भौतिकोऽग्निरेव  
यज्ञेषु प्रणीयमानो दृश्यते, न त्वप्रत्यक्षः कश्चिद्धंसारूढश्चतुर्वदनो  
रक्तवर्णः पुरुषः ; प्रत्यक्षगम्यं ह्येतत् ।

“अग्निः पृथिवीस्थानः”—इति ( निरु० ७. २. १. ) तत्स्थान-  
निर्देशः । एष भौतिकोऽग्निरेवात्र पार्थिवेषु तृणाद्यस्माच्छरीरेषु  
सर्वत्रैव विद्यते ; विज्ञानगम्यं ह्येतत् । अस्ति चेह मन्त्रलिङ्गं यथा—

“त्व मग्ने यज्ञानां होता विप्र्वेषां हितः ।

देवेभिर्मानुषे जने”—इति ऋ० सं० ६. १६. १ ।

हे ‘अग्ने !’ ‘विप्र्वेषां यज्ञानां’ ‘होता’ ‘त्वम्’ ‘देवेभिः’ देवैः सूर्यरश्मिभिः ‘मानुषे जने’ मर्त्यलोकेऽत्र ‘हितः’ सर्वपदार्थेष्वन्तर्निहित इति तदर्थः । तदेतस्मान्मन्त्रवर्णादेश एव सोऽग्निः प्रतीयते ; न ह्यग्निलोकस्थस्य कस्यचित् मनुष्यादिवद्विग्रहादिमतः परोक्षस्याग्नेः रश्मिभिः पृथिव्यां स्थापनं युज्यते । इयं पृथिव्येवाग्निलोक इति चेत्, इष्ट मेवेदं वचोऽस्माकं मपि ; परं तस्य पार्थिवस्य पौराणिकरूपादिमत्त्वेऽप्रत्यक्षता कथं सम्भवेन्नाम ? न हि कश्चित् पार्थिवः पदार्थः पार्थिवैरिन्द्रियैर्भवेदनुलभ्यः । तदस्मात् स्थाननिरूपणाच्च प्रतीयतेऽस्यैव पार्थिवस्य भौतिकस्याग्नेर्देवत्व मिष्टम्, न त्वपरः कापि कश्चिदप्यस्यग्निश्चतुर्मुखो हंसारूढो देव इति ।

“अथास्य कर्म,— वह्नन् हविषा मावाहनञ्च देवानां ; यच्च किञ्चिद् दाष्टिर्विषयकं मग्निकर्मैव तत्”—इति निरु० ७. ३. १ । तदिदं मग्नेर्हविर्वहनं मग्निसात्कृतहविषां धूमवाष्पाकारैरन्तरिक्षादिचारित्वेन सम्पद्यते । तदेतच्छ्रूयते— “अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः”—इत्यादि शत० ब्रा० ५. ३ । तथात्र ऐतरेयेऽपि २. ५. ६ । स्मर्यते च— “अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्य मुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः”—इति ( म० सं० ३. ७६. ) । तदेवं यज्ञेषु पार्थिवेऽस्मिन्नेवाग्नौ आहूयमानं बलकरं माज्यचरुसोमाशिरादि हव्यं सर्वं मेव भस्मीभूय पूर्वं वाष्पाकारेणोपरि गच्छति, तदेव वृष्टं पुनरिहागत्य ओषध्यात्मना परिणत्यास्मच्छरीरादीनां विशेषतो बलं सम्पादयति । तद्वि बलम्, तत्तदाहारजन्यबलतोऽपि प्रबलम् ; यथा होमिओ-



प्याधिकौषधानां दशतमिकेभ्यः शततमिकानाम्, तत्रापि त्रिंश-  
त्क्रमादिभ्योऽपि शतादिक्रमाणाम् । हन्तेदानीं तादृशज्योतिष्टो-  
मादियज्ञाभावात्, कालप्रभावेण देशदोषेण च साक्षात् तादृशा-  
हारविरहाच्चास्माकं पूर्वपूर्वपुरुषेभ्यः क्रमात् प्रकृतिदौर्बल्यं प्रत्यक्ष  
मेव । अत एवोक्तं मिहैवैतरेये— “यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते  
यत्रैवं विद्वान् होता भवति”—इति ( १. २. ३. ) । ‘जनानां  
समूहो जनता, तत्सुखायैव यज्ञो भवति, यस्मिन् यज्ञेऽमुना प्रका-  
रेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणां होमं करोति”—इति तदर्थः । तदे-  
तद्विर्वहणं कर्म, अस्यैव पार्थिवस्याग्नेः प्रत्यक्ष मिति ।

कृतं तेनैव भगवता तदुत्पत्तिवर्णनं चैवम्— “विश्वानरावेते  
उत्तरे ज्योतिषी ( विद्युत्सूर्यरूपे ), वैश्वानरोऽयं यत् ताभ्यां  
जायते । कथं त्वय मेताभ्यां जायत इति । यत्र वैद्युतः शरण  
मभिहन्ति, यावदनुपात्तो भवति, मध्यमधर्मैव तावद् भवत्यु-  
दकेभ्यः शरीरोपशमनः ; उपादीयमान एवायं सम्पद्यत उदको-  
पशमनः शरीरदीप्तिः । अथादित्यादुदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये  
कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमय मसंस्पर्शयन्  
धारयति, तत् प्रदीप्यते, सोऽय मेव सम्पद्यते”—इति ( निरु० ७.  
६. ६, ७. ) । एवंविधाग्निजन्मवर्णनं मस्मिन्नेव भौतिके ज्वलना-  
त्मकेऽस्मावुपपद्यते, नान्यत्वेत्यपि स्पष्टम् ।

अथास्मिंश्च ब्राह्मणेऽग्निप्रणयनीयानां मृचां विधानमेव साम्नातम्—  
“अग्नये प्रणीयमानायानुब्रूहीत्याहोर्ध्वर्युः”—इत्यादि ( २. ५. ४. ) ।  
अत्र एष एव प्रत्यक्षः पार्थिवोऽग्निः प्रणीयते, न कश्चनापरो विग्रहा-  
दिमानप्रत्यक्ष इत्यपि प्रत्यक्षगम्यम् । किञ्चैषा मग्निप्रणयनीयमन्वाणा  
मर्थग्रहतश्चैव मेव प्रतीयते । तद्यथा तत्रैव विहितं स्तत्रथमो मन्त्रः—



“प्र देवं देव्या धिया भरता जातवेदसम् ।

हव्या नो वक्षदानुषक्”—इति ( ऋ० सं० १०. १७६. २. ) ।

हे ऋत्विजः ! ‘देवं’ द्योतमानं प्रज्वलित मिति यावत्, ‘जातवेदसम्’ अग्निं ‘देव्या’ द्योतमानया ‘धिया’ प्रज्ञया ‘प्रभरत’ प्रकर्षेण हरत, प्रणीयत ; प्रज्वलितस्याग्नेः सावधानतया प्रणयनं कुरुतेत्यर्थः । तस्मिन्नग्निप्रणयनकाले हस्ताङ्गुल्यादीनां दाहो यथा न स्यात्, नापि तस्याग्नेरधःपतनं निर्वाणादिकं वा भवेदित्येतदर्थं मेवेह ‘देव्या धिया’—इति तत्प्रणयनकर्तुः सावधानताया उपदेशः । सोऽग्निरत्र किमर्थं माहरणीय इत्याह— स हि ‘आनुषक्’ बह्वङ्गाररूपत उपर्युपरि स्थितः सन् ‘नः हव्या’ अस्मद्वृत्तानि हव्यानि ‘वक्षत्’ वहतु, यक्ष्यमाणानिन्द्रादिदेवान् प्रतीति । ‘धीः’—इति प्रज्ञानामसु पठितम् (निघ० ३. ६. ७.) । ‘भरत’ इति “ह्यग्रहोर्मश्नुन्दसि हस्य”—इति ( पा० ८. २. ३२ सू० १ वा० ) हस्य भक्ष्ये रूपम् । “आनुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं भवति”—इति निरु० ६. ३, ५ । ‘अनुषक्त उपर्युपरिलग्न मित्यर्थः’—इति च निघण्टुभाष्ये देवराजः ( ४. ३. ५६. ) । उपर्युपरिलग्नता अस्मिन्नेव प्रत्यक्षदृश्ये प्रज्वलिताङ्गाररूपेऽग्नौ उपपद्यते, नान्यत्रेति च व्यक्तमेव ।

देवलक्षणश्रुतीनाञ्चान्यतमैषा—

“न हि देवा अन्योऽन्यस्य गृहे वसन्ति ; नर्त्तुर्ऋतौ”—इति ऐ० ब्रा० ५. २. ४ । न हि ग्रीष्मः शीतकाले, नापि शीतो ग्रीष्मकाले वसतीति तदाशयः । तदयं ऋतुदेवः कालविशेष एव प्रत्यक्षत उभलभ्यो नाप्रत्यक्षो विग्रहादिमान् कश्चनेत्यत्रास्ति किं विचार्यम् ।

कर्मफलदानार्थञ्च नास्ति देवानां विग्रहादिमत्त्वस्थापेक्षा ; कर्माण्येव हि स्वयं फलदायकानि भवन्तीति याज्ञिकसिद्धा-

न्तात् । अचेतने ऽसंस्कृते दैवतविग्रहाद्यभाववति द्वेषप्रीतिकाम-  
क्रोधादिशून्येऽपि ह्यस्मिन्नग्नौ हस्तदानस्य फलं तद्दहनं कथं वार्यते,  
केन वा न स्वीक्रियते ? केन वा दृष्टं पूजिता माता गौर्वा,  
अर्चितोऽतिथि राचार्यः पिता वा स्वय मर्चकाभीष्टं साधयतीति ।  
तत्र सर्वत्रैवेश्वरो मूल मिति मतेऽपि तुल्य मुत्तरम् । तच्चतः  
प्रत्यक्षगम्या इमे भौतिका एवाग्न्यादयो वैदिककार्येषु सर्वत्र देवता-  
त्वेन गृह्यन्ते इति सत्यम् ; प्रत्यक्षत एवोपपन्ने कार्यफले अप्रत्यक्ष-  
हेतुकल्पनानौचित्यात् ।

इत्थं हि नामनिर्वचनतः , स्थाननिर्देशतः , कर्मनिरूपणतः,  
उत्पत्तिवर्णनतः , ब्राह्मणविनियोगतः , तद्विहितमन्त्रार्थतः , देव-  
लक्षणोदाहरणश्रुतितः , प्रत्यक्षदृष्टभौतिकादेवास्मादग्नेराशंसित-  
फलोपपत्तेश्च निर्णीत मेतत् , — अय मेव पार्थिवो भौतिकोऽग्निः  
सर्वत्र यज्ञेषु देव इति गृह्यते ; नान्यः कश्चन कुत्रचिज्जागर्त्ति  
कूर्मक्षीरचये स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः खपुष्पकतशेखरो बन्ध्यासुतः  
पौराणिकमानसोद्यानविहारी व्यक्तिविशेष इति ॥

एव मिन्द्रोऽपि भौतिकः पदार्थविशेष एव, नान्यः कश्चन विग्र-  
हादिमान् चेतनः । तथाहि — “इन्द्रः इरां दृणातीति वा, इरां  
ददातीति वा” — इत्यादीनि तन्निर्वचनानि ( निरु० १०. १. ८. ) ।  
‘इरेत्यन्नपर्यायः ; निघण्टावन्ननामसु तत्पाठात् ( २. ७. ११. ) ।  
‘वर्षक्लेदित मङ्गुरं वीजं भिनत्ति, त मिन्द्रकारितम् ; सोऽय  
मिरादारः सन् इन्द्रः’ — इति, ‘यो वर्षद्वारेणासौ इरा मन्त्रं ददाति,  
सोऽय मिराद इरादाता इन्द्रः’ — इति च तत्र व्याख्यातं देवराजेन ।  
तथाच वर्षहेतुः कश्चित् पदार्थ इन्द्र इति ज्ञायते । “वायुर्वेन्द्रो  
वान्तरिक्षस्थानः” — इति निरुक्तोक्तेस्तस्यान्तरिक्ष मेव स्थानं वायु-

स्वरूपत्वञ्चेतीन्द्रशब्दस्य वायुपर्यायत्व मपि प्रतीयते । वायूनां वृष्टि-  
कारित्वेनान्नजलहेतुत्वन्तु बहुत्रैव श्रूयते, तदत्र “इषे त्वोर्जे त्वा”  
—इतिमन्त्रस्य शतपथाम्नातं वायवइतिपदव्याख्यान मिह पूर्वं  
प्रदर्शित मेव ( ६ पृ० ) । तैत्तिरीयाम्नाये च तद् व्यक्ततरं द्रष्ट-  
व्यम् — “वायुर्वै वृष्ट्यै प्रदापयिता”—इति ( ब्रा० १. ७. १. १. ) ।  
“वायुर्वेन्द्रो वा”—इति निरुक्ते ( ७. २. १. ) इन्द्रशब्दस्य वायुपर्या-  
यत्वे प्रतीतेऽपि तयोर्मिथो विभिन्नदेवत्वञ्च न विरुध्यते ; याज्ञिक-  
मते वाच्याभेदेऽप्यभिधानपार्थक्याद्देवतान्यत्वस्वीकारात् । ते हि  
यावन्त्यभिधानानि वैदिकमन्त्रेष्वार्थपत्यत्वेनाभीष्टानि, तानि सर्वा-  
ण्येव दैवतपार्थक्यनिदानानीति स्वीकुर्वन्ति । अतएवाग्निपर्यायाणां  
मग्निजातवेदोवैश्वानरादीनां पृथग्देवत्वम्, वायुपर्यायाणां वायु-  
वातमरुदादीनाञ्च विभिन्नदेवत्वम्, सूर्यपर्यायाणां सूर्यसवितृभग-  
विष्णुप्रभृतीनाञ्च पार्थक्यं भवत्युपगन्तव्यम् । कर्मपृथक्त्वाच्च देव-  
पार्थक्यं मुररीकुर्वन्त्येव ते । तदप्याह तत्रैव यास्कः— “अपि  
चा कर्मपृथक्त्वाद् ; यथा— होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतोऽपि”  
—इत्यादि ( ७. २. १. ) । तत्त्वतो यथा प्राणापानयोर्मेदस्तथैवेन्द्र-  
वायोरपि । अत एवैवं श्रूयते— “यदैन्द्रवायवं शंसति, प्राणा-  
पानावेवास्य तत् संस्करोति”—इति ( ऐ० ब्रा० ३. १. २. ) ।

अप्यस्य वायुविशेषस्येन्द्रस्य कर्माख्येवं निरूपितानि—  
“अथास्य कर्म— रसानुप्रदानं, वृत्रवधः, या च का च बलकृति-  
रिन्द्रकर्मैव तत्”—इति ( निरु० ७. ३. ३. ) । वृत्रवधोपाख्यान-  
ञ्चैतदुपमामूलकं कविकल्पित मिति च प्रोक्तं स्वयं तेन यास्केन—  
“तत् को वृत्रः ? मेघ इति । ०—० । अपाञ्च ज्योतिषश्च  
मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति”

—इति निरु० २. ५. २ । तदिदं पश्यन्तु तावच्छब्दार्थतत्त्व-  
विदः सर्वं मेव पौराणिकं वृत्रवधोपाख्यानं वातेन कदलीवम-  
मिव हतं न वेति ।

अस्येन्द्रस्य सम्यक् प्रत्यायनाय प्रथमं तावदेष निगमोऽप्यदर्शि-  
तेनैव भगवता यास्केन ( १०. १. ६. )—

“अदर्हंरुत्समसृजो विखानि त्व मर्णवान् बद्धधानाः अरम्णः ।

महान्त मिन्द्र पर्वतं वि यद् वः सृजो वि धारा अव दानवं हन् ॥”

—इति ऋ० सं० ५. ३२. १ ।

तदेतस्या ऋचस्तन्निरुक्तानुसारत एव व्याख्यानन्त्वेवं मन्त-  
व्यम्— हे ‘इन्द्र’ ‘त्वम्’ ‘महान्तम्’ अतिप्रवृद्धम्, ‘उत्सम्’  
उत्स्यन्दनम्, ‘पर्वतम्’ पर्वविशिष्ट मत एव पर्वताकारम्,  
मेघम्, प्रथमं ‘विवः’ व्यवृणोः, विवृणोऽसि, विवृतं करोषि;  
ततः ‘अदर्हः’ अदृणाः, दारयसि । अस्य मेघस्य ‘खानि’ रन्ध्राणि  
‘व्यसृजः’ विसृष्टानि करोषि । ‘बद्धधानान्’ पुनःपुनरतिशयेन वा  
बध्यमानान्, ‘अर्णवान्’ अर्णस्वतः, माध्यमिकान् सख्यायान्  
खण्डशः कृत्वा ‘अरम्णः’ ‘विसृजसि’ । ‘यत्’ यतः, एवमकारेण  
‘दानवं’ दातार मुदकानाम् मेघम् ‘अवाहन्’ अवहंसि, तत एव  
‘धाराः’ वृष्ट्यात्मिकाः ‘व्यसृजः’ विसृजसि, पृथिव्यां पातयसीति ।  
एवञ्च वृष्टिहेतुर्मेघदारको वायुविशेष एव इन्द्रो देवः; स च प्रत्यक्षः  
सर्वेषाम्; फलावाप्तिस्तु कर्माधीना, न देवताधीनेति याज्ञिकराज्ञा-  
न्तोऽपि सदैव सर्वत्र जागर्त्येवेत्यल भैरावतस्कन्धसमारूढस्य वज्र-  
हस्तपुरन्दरस्य कल्पचिञ्चेतनावतोऽप्रत्यक्षस्य कल्पनयेति । अत एव  
ऐरावतस्कन्धसमारूढेऽसमागमाद् यज्ञकुण्डभङ्गापत्तिरिति मीमां-  
सकानां प्रहासप्रवादोऽपि सङ्गच्छते ।

एवं प्रतिदिनं मुदीयमानो द्युस्थः सूर्योऽप्यचेतनो ज्योतिःपुञ्ज-  
रूप एव । तथाहि— “आदित्यः कस्मात् ? आदत्ते रसान्,  
आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति वा”—इत्यादित्यनाम-  
निर्वचनम् । सूर्यादित्यौ पर्यायशब्दौ । “सूर्यो द्युस्थः”—इति  
तत्स्थाननिरूपणम् ( निरु० ७. २. १. ) । “अथास्य (आदित्यस्य)  
कर्म,— रसादानम्, रश्मिभिश्च रसधारणम्, यच्च किञ्चित् प्रव-  
ह्यत मादित्यकर्मैव तत्”—इति तत्कर्मनिर्णयः (निरु० ७. ३. ४. ) ।

“उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।

दृशे विश्वाय सूर्यम्”—इति ऋ० सं० १. ५०. १ ।

एष निगमस्ततोदाहृतोऽमुष्य सूर्यस्य ( निरु० १२. २. ४. ) ।

अस्यार्थस्त्वेवं यास्कसन्मतः— ‘केतवः’ रश्मयः ‘विश्वाय’  
विश्वस्य ‘दृशे’ दृक्शक्तिप्रसरणाय ‘जातवेदसं’ जातवेदःप्रधानं  
भूलोकं मिमम्, ‘त्यं सूर्यं देवं’ प्रति ‘उत्’ ‘वहन्ति’ जड्वि-  
प्रापयन्तीति । “रश्मयः = केतवः”—इति निरु० १२. २. ४ ।  
विश्वायेति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ( पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ) ।  
“जातवेदाः कस्मात्”—इत्यादि—( निरु० ७. ५. १—३. )—दर्शनात्  
अग्नेरेव नामान्तरं जातवेदा इति स्पष्टम् । अग्नेरधीनत्वन्त्वस्य  
भूलोकस्य “अग्निः पृथिवीस्थानः”—इत्यादिना ( ७. २. १. ) विवृत-  
मेव । प्रापणार्थस्य वहधातोर्द्विकर्मकत्वन्तु लोकप्रसिद्धम् । अत्रै-  
वैतद् व्याख्यानं मुपसंहर्तुं मुक्तं निरुक्ते— “क मन्त्र मादित्या-  
देव मवक्ष्यत्”—इति ( १२. २. ४. ) । तदेव मादित्यं प्रति वहनं  
विज्ञातं भवति । तच्च वहनं कस्येत्याकाङ्क्षाया मिह मन्त्रे श्रुतस्य  
जातवेदस इत्येव सुवचम् ; जातवेदःशब्देन चेह जातवेदःप्रधानो  
भूलोकः ; तथैव मन्त्रतात्पर्योपपत्तेः । एव मन्त्रतापि श्रुतं



बहुत्र । तद्यथा— “आदित्यं प्राञ्चं यन्त मुन्नयामि”—इति सामा-  
 रण्यकम् । सर्वे ग्रहाः पूर्वाभिमुखगामिनस्तत एव सूर्यः पश्चिमाभि-  
 मुखगो लक्ष्यते इति हि सर्वसम्मतं विज्ञानम् । तथाच ‘प्राञ्चं  
 यन्तम्’ एतं भूलोकम्, तत्स्थं स्वात्मान मिति यावत् ‘आदित्यम्’  
 ‘उत्’ ऊर्ध्वं ‘नयामि’ प्रापयामीति तदर्थः । तथास्य लोकस्य सूर्य  
 मभि रश्म्याकर्षणेन ऊर्ध्वतो भ्रामण मिहापि ब्राह्मणे प्रदर्शितम्  
 ( १०८ दृ० ) । “दाधर्थं पृथिवी मभितो मयूखैः ( ऋ० सं०  
 ७. ८८. ४. )”—इत्यादिश्रुतयोऽप्यत्रालोचाः । एवञ्च यथा पृथिव्यां  
 प्रधानदेवता अग्निः प्रत्यक्षः, यथा चान्तरिक्षे वायुर्वेन्द्रो वा, तथैव  
 द्युस्थोऽसौ सूर्योऽपीति ध्रुवम् ॥

एव मपि पुराणादावग्यादीनां सर्वेषा मेव देवानां स्वर्ग-  
 स्थत्वम्, तत्रापि पृथक्-पृथक्-लोकसंस्थत्वं यद् वर्णितम्, तदवास्त-  
 विकम् ; अपि तेषां चतुर्वदनविग्रहादिमत्त्वम्, पुत्रकलत्रगोत्रादि-  
 मत्त्वम् ; यानाशनरागद्वेषसन्तोषादिमत्त्वञ्चैतत् सर्वं रूपकादिजं  
 कल्पनाप्रसूतं कविकर्मैव । एवं हि यथा विष्णुमित्रकृतमित्र-  
 लाभसुहृद्भेदादिकथासु काककपोतोलूककेशर्यादीनां मानुषभाषा-  
 श्रितवार्त्तादिवर्णनं बालानां नीतिधर्मादिचरित्रगठनायैव, तथा  
 पौराणिकदेवताकारादिकल्पनापि नूनं वेदविज्ञानग्रहणासमर्थमती-  
 नां स्त्रीशूद्रहिजबन्धुरूपाणां बालधियां धर्मोपदेशादिसाहाय्यायैव ।  
 किञ्च यथा बालाः ताः काकोलूकादिकथाः पठन्तस्तदानीं मञ्जान-  
 तस्तत्सर्वं मेव वास्तविकं मन्यन्ते, ततो वयोवृद्धिप्रभावादाप्तज्ञानाः  
 सन्तः सदैव शिशून् पाठयन्तोऽपि तदतात्विकं स्वत एवानुभवन्ति, न  
 तदा वाग्मिशतैरपि तत्र तेषां पूर्वविश्वासरक्षणं भवेत् सुशक्यम् ;  
 तथैव विद्यापरपर्यायवेदाध्ययनहीना बालाः कल्पितदेवस्वरूपादौ

विश्वसन्त्येव, परं न तथा देवस्वरूपप्रत्यक्षदर्शिनो विद्वांसो वैदिकाः । तदाम्नातम्— “एतद् वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुस्तस्मादाचक्ष्णाण माहुरद्रागिति, स यद्यदर्शमित्याहायास्य अदधति ; यद्यु वै स्वयं पश्यति न बह्वनाञ्च नान्येषां अदधाति”—इति ( ८२ पृ० ) ।

तदत्र तत्कल्पनाप्रकार मपि किञ्चिन्निदर्शयामः— उपरिष्ठाद्वाख्यास्यमानेषु स्वर्लोकेषु अन्तरिक्षलोकोऽप्येकतमः । तत्र स्वर्गे वायुपरपर्यायस्य वर्णितपूर्वस्य इन्द्रस्य प्राधान्यात् स एव स्वाराडिति व्यपदिष्टः । मेघो ह्यत्रः, अपाञ्च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्तीत्युक्तम् ( निरु० २. ५. २. ) । वर्षकालेऽग्निपतनं यत् तदेवेन्द्रस्य वज्रपातः । इरेत्युदकनामित्युक्तम् ( १६६ पृ० ), तद्विशिष्टत्वान्मेघस्यैवैरावत इति नाम, तच्छब्दस्योच्चैः श्रूयमाणत्वाच्चोच्चैः श्रवा इति च । स एक एव मेघो नामभेदाद् द्वित्वेन इन्द्रवाहाविति वर्णितः । तत्सभायां गन्धर्वः ( गायकः ) ऐङ्गः ( इङ्गाभवः ), पुरुरवाः ( बहुरावः ) नाम सदैव विद्यते । सोऽपि पृथिव्याः धारकः, इडापरपर्यायान्नसम्भवः, स्फुर्जयुनामबहुगर्जनकारी मेघ एव । “पुरुरवा बहुधा रोरूयते”—इति हि निरु० १०. ४. ८ । ‘रोरूयति = स्तनयति’—इति तद्वृत्तौ दुर्गाचार्यः । इङ्गा = अन्नम् ( निघ० २. ७. १३. ) । गां पृथिवीं धारयतीति गन्धर्वः ; अत एव श्रूयते—

“अभि गन्धर्वं मत्तणद् अबुधेषु रजस्वा ।

इन्द्रो ब्रह्मभ्य इद् वृधे”—इति ऋ० सं० ८. ६६. ५ ।

‘इन्द्रः’ मेघचालको वायुः ‘ब्रह्मभ्यः’ ब्रह्मणा मनानां ‘वृधे’ वृद्धिनाय ‘इद्’ एव, ‘अबुधेषु रजस्सु’ ‘गन्धर्वं’ मेघम् ‘अभ्यतणत्’ छिनत्तीति । उर्वशीनामाप्सरास्तत्सभायां नृत्यतीत्यादिष्वप्यौराणिकी-

कथा । तत्राख्यातं निरुक्ते—“उर्वश्यप्सराः”—इत्यादि (५. ३. २.) ।  
 ‘अप्सराः = अप्सारिणी’—इत्यादि च तत्रैव । तथा चोदकजाता  
 विद्युदेवोर्वश्यप्सराः । तस्या विद्युतः सञ्चितजलजत्वं च वैदिक-  
 विज्ञानसम्मत मिति पूर्वं प्रतिपादितम् “आदित्यब्रह्मस्य रेतसो ज्योतिः  
 पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवि”—इति ( ११३ पृ० ) ।  
 अपां वृष्टिजलानां सारयित्रीति च भवत्यप्सारिणी । ‘अप्स इति  
 रूपनाम०—० रूपवती’—इति च तत्रैव । तस्या अप्सरसः जायते  
 आयुर्नामा तनयः । स हि विद्युन्मेषसंयोगज आयुर्हेतुवृष्ट्युदक-  
 रूपः प्रसिद्धः, श्रुतश्च—“विद्युत्०—० उर्वशी तिरते दीर्घ  
 मायुः”—इति ऋ० सं० १०. ८५. १०. । तनयोत्पत्त्यनन्तर मेव  
 तयोर्द्वयोर्वशीपुरुषवसोर्दम्पत्योर्मिथो विच्छेदश्च सर्वैर्दृश्यत एव । तदे-  
 तत् सर्वं मेतस्मादेकस्मादेव श्रुतिवचनात् सुव्यक्तम्—“पर्जन्यो  
 गन्धर्वस्तस्य विद्युतोऽप्सरसः”—इति ( तै० सं० ३. ७. ६. ) ।  
 शतपथब्राह्मणे तु अधरारण्युत्तरारण्योर्द्वयोर्वशीपुरुषवस्त्व’ परि-  
 कल्प्य चाख्यान मिदं कल्पितम् । “अथाधरारणिं निदधाति”  
 —इत्यादि ( ३. ४. १. २२. ), “उर्वशी हाप्सराः पुरुषवस मैडं  
 चकमे”—इति च ( ११. ५. १. १. ) । एवञ्चैवंविधं कविकल्पन  
 मेव पौराणिकानां मुपन्यासश्रवणप्रियेषु स्त्रीशूद्रद्विजवन्धुषु धर्म-  
 नीत्यादिप्रचारायां भवदवलम्बन मिति स्पष्टम् । तत एव महा-  
 भारतेहासस्य च काव्यत्व मुररीकृतं स्वयं तत्कर्ता तत्रैव तदुपक्रमे  
 ( १अ० ७२श्लो० )—“त्वया च काव्य मित्युक्तं तस्माद् काव्यं  
 भविष्यति”—इति । ‘इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपहृंहयेत्’  
 —इति ( २६७ श्लो० ) चोक्तं तत्रैव । तदित्य मेव कृतं सर्वत्र  
 वेदोपहृंहण मिति ॥

सूर्यस्याप्यन्यतमं नाम इन्द्र इति । तत एतन्निरुक्तम् “इन्द्रवे द्रवतीवि वा, इन्द्रौ रमते इति वा, इन्धे भूतानीति वा”—इति (१०. १. ८.) । ‘इन्द्रवे’ इन्दुं सोमं पातुं द्रवति, ‘इन्द्रौ’ सोमे रमते इति, ‘भूतानि’ स्थावरजङ्गमानि ‘इन्धे’ दीपयति चेति ‘इन्द्रः’ सूर्य इति तदर्थः । अधियज्ञपक्षे इन्दुशब्दस्य सोमवल्लीरसोऽर्थो गृह्यते । अधिदैवतपक्षे तु इन्दुश्चन्द्रमा ग्राह्यः । अत एव श्रुतम्—“इन्द्रः सोमस्य काणुका”—इति ( ११० पृ० ), “अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीचम्, इत्या चन्द्रमसो गृहे”—इति च ( ऋ० सं० १. ८४. १५. ), “सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः”—इति च वा० सं० १८. ४० । निरुक्तकारेण चैतत् स्पष्टीकृतम्—“अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्य मादित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति”—इति ( २. २. २. ) । असावेवेन्द्रः सहस्र-रश्मिरिति सहस्राक्षोऽप्युच्यते । स चायं द्युस्य इन्द्र उत्तमः कथ्यते, अन्तरिक्षस्य इन्द्रस्तु मध्यमः ।

तदेतयोरुत्तममध्यमयोरिन्द्रइत्येकनामानुरोधादभेद उपचरितोऽपि दृश्यतेऽनेकत्र । तत एवामरसिंहेनाप्युभयेन्द्रनामान्येकपर्यायत्वेनोपबद्धानि— “इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः । ०—० । आखण्डलः सहस्राक्ष ऋभुक्षाः”—इति ( १. १. ४४—४७. ) । एषु श्लोकेषु पञ्चत्रिंशदिन्द्रनामानि ज्ञापितानि । तत्र दिवस्पतिः, वास्तोष्पतिः, सुरपतिः, हरिहयः, स्वराट्, आखण्डलः, सहस्राक्षः, इत्यादीन्युत्तमेन्द्रनामानि, मरुत्वदादीन्यपराणि तु मध्यमेन्द्रस्येति बोध्यम् ।

यच्च प्रसिद्ध मिन्द्रपत्न्या नाम शचीति (अम० को० १. १. ४८.), यतश्चेन्द्र उच्यते शचीपतिरिति ; तदपि कल्पितम् । अस्ति निघण्टौ

वाङ्मामसु पठितं शचीति ( १. ११. ४६. ) ; “आकाशस्योत्तरः  
(शब्दः)”-इत्यादितो (गौ० सू० ३. १. ६४.) वाचोऽप्यन्तरिक्षस्थत्वेन  
इन्द्रसहचारित्वं मपि भवत्येव स्वीकार्यम् ; यदा चेन्द्रकृतात् मेघ-  
चालनान्मेघविदारणाच्च दृष्टिर्जायते, तदा तद्वाण्यपि तत्सहैव श्रूयत  
इत्येव सा माध्यमिकी वाक् मध्यमस्येन्द्रस्य सहधर्मिणीत्युपचर्यते ।  
तथाच ऋ० सं०— “न किं रस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम्”—  
इति ऋ. ३२. १५ । ‘अस्य’ वागधिपतेर्मध्यमेन्द्रस्य ‘सूनृतानां’ प्रिय-  
सत्यात्मिकानां ‘शचीनां’ वाचां नियन्ता नियोगकारी ‘न किं’ न  
कोऽप्यन्यः, अपि ता इन्द्रवाचः स्वत एव प्रवृत्ता आधिपत्यं कुर्व-  
न्तीति तदर्थः । एवञ्च वायोर्घातप्रतिघातेनैवाकाशाच्छब्दोत्पत्ति-  
स्वीकारात्, वायोरन्तरिक्षस्थत्वेन मेघदारकत्वेन च माध्यमिकेन्द्रत्व-  
मिति स्वीकाराच्च स वायुरूप इन्द्रः शचीपतिरुच्यते ।

अपर मध्यस्ति तत्र निघण्टौ कर्मनामसु पठितं शचीति  
पदम् ( २. १. २२. ) । सर्वेषां च कर्मणा मधिपतिः सूर्य एव ;  
“सविता वै प्रसवानामीशे”—इति (ऐ० १. ३. ५.) श्रुतेः । तत्तापा-  
भावादेव जीवशरीरं मृतं भवतीति च दृष्टं लोकवेदयोः  
( ११० पृ० ) । अतः सोऽप्याख्यायते शचीपतिरिति । तथा च  
तन्निगमः— “द्युमा७ असि क्रतुमा७ इन्द्र धीरः शिञ्जा शचीव-  
स्तव नः शचीभिः”—इति ऋ० सं० १. ६२. १२ ।

अन्यच्चास्ति निघण्टौ प्रज्ञानामसुपि पठितं शचीति पदम्  
( ३. ६. ८. ) । ततः प्रज्ञावन्तो यजमानादयोऽपि शचीपतय  
एव । अत एवार्भवनामके मानुषरूपदेवस्तावके नाराशंसे सूक्ते  
द्वितीयस्या मृचि श्रुतमेवम्—

“याभिः शचीभिश्चमसा७ अपिंषत”—इति ऋ० सं० ३. ६१. २ ।



अथाप्येवं शचीपतिबहुत्वेऽपीन्द्राण्या अवहुत्वं वेदेषु । तद्यथा—

“इहेन्द्राणी मुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये ।

अग्नायीं सोमपीतये”—इति ऋ० सं० १. २२. १२ ।

अत्रेन्द्राणीत्युत्तमायाः, वरुणानीति मध्यमायाः, अग्नायीति प्रथमाया एव देवशक्तेर्ग्रहण मिष्टम् ।

अत एवान्यत्रैव मान्नातम् ऋ० सं० १०. ८६. ११—

“इन्द्राणी मासु नारिषु सुभगा मह मश्रवम् ।

न ह्यस्या अपरञ्चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः”—इति ।

तदत्र सूर्यस्य चिर मेकरूपत्वेन विद्यमानत्वात् तच्छक्तेरिन्द्रा-  
ण्याश्चिर मेव सुभगात्वम् । इदं मेवेन्द्राण्या अवैधव्यप्रवादमूलम् ।  
माध्यमिकेन्द्रस्य मेघचालकवायोर्हि वर्षं वर्षं प्रति रूपभेदात् तच्छक्तेः  
सुभगात्वायोगान्नास्तीन्द्राणीति समाख्या ; विश्वस्मादिन्द्र उत्तरश्च  
सूर्य एव, न माध्यमिक इति च ध्येयम् ।

एव मपि यदमरसिंहेन शचीपर्यायत्वेन श्लोकित मिन्द्राणीति,  
तदिन्द्रशब्दार्थैक्यममरदेव । एवं “विष्णुर्नारायणः कृष्णः”—इत्या-  
दिषु ( १. १. १८—२३. ) विष्णुपर्यायेष्वपि विष्णुरिति सूर्य-  
नाम, नारायण इति वायुनाम, कृष्ण इति मनुष्यनामेत्येवमादयः  
पौराणिककालजभ्रमा बोध्या इति दिक् ॥

नन्वेव मिन्द्रादिदेवतमन्त्रेषु बहुत्रैव यत् तेषां पुरुषाकारविग्रह-  
वत्त्वम्, हिताहितविवेकलक्षणचेतनावत्त्वम्, चेतनावत्पुरुषव्यवहार्य-  
द्रव्यान्वितत्वम्, तादृशकर्मकर्तृत्वञ्च गम्यते; तत् कथं मुपपद्यते ?  
इति चेदत्र निरुक्तकारो यास्का एवात्र दत्तोत्तरः ( ७. २. ३. ) ।  
तथाहि— “अपुरुषविधाः स्युरित्यपर मपि तु यद् दृश्यते ऽपुरुष-  
विधम् । तद्यथा— अग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति”—

इति । तथा चेषा मग्न्यादीनां पुरुषाकारविग्रहवत्त्वं प्रत्यक्षविरो-  
धान्नैत्येव सिद्धान्तितम् । तदेवं मन्त्रेषु यदेषां पुरुषविधत्वं सुपलभ्यते,  
तत् काल्पनिकमेवेति । अथ चेतनावत्त्ववर्णनं च तेषां तथैवेत्याह—  
“अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि”—इति ।  
अथायुधादिद्रव्यान्वितत्वश्रवणं मपि तेषां तथैवेत्याह— “एतदपि  
तादृशमेव ; सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्”—इति नदीस्तुतिः  
(यथा)—इति । तथा कर्मकर्तृत्वं मपि तेषां तथैवेत्याह—“एत-  
दपि तादृशमेव ; ‘होतुश्चित् पूर्वं हविरद्य माशत’ इति ग्रावस्तु-  
तिः (यथा)”—इति ।

वेदार्थमीमांसैकनिमित्ते मीमांसादर्शनेऽप्येव मेव तद्यथा—  
“अग्निस्तु ०—० द्रव्यं वा स्यात् चोदनायास्तदर्थत्वात्”—इति  
जै० २. ३. २१, २२ सू० ) । ‘द्रव्यं वा अग्निशब्देनोच्यते । कस्माद्  
द्रव्यम् ? यदेतत् ज्वलनः ; अत्र ह्येषः प्रसिद्धः’—इत्यादि तद्भा-  
ष्यम् । ततस्तत्रैव देवताधिकरणे त्रिभिः सूत्रैर्देवानां पौरुष-  
विग्रहवत्त्वं क्रियाफलदातृत्वञ्चास्वीकृत्य कर्मजन्यसंस्काररूपस्यापूर्व-  
स्यैवैकस्य सर्वत्र फलदातृत्वं प्रतिपादितम् । तथाहि— “देवता  
वा प्रयोजयेद्, अतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्”—इति पूर्वपक्षसूत्रम् ।  
“आर्थपत्त्याच्च”—इति तद्युक्तिसूत्रम् । “अपि वा शब्दपूर्वत्वात्  
यज्ञकर्म प्रधानं स्याद्, गुणत्वेन देवताश्रुतिः”—इति ततः सिद्धान्त-  
सूत्रम् ( ८. १. ७, ८, ९. ) । पुनस्तत्रैव तत उत्तरम्, इन्द्रस्य  
हरिनामकाश्ववत्त्वादिश्रवणस्यौपचारिकत्वं त्रिभिः सूत्रैः सिद्धान्ति-  
तम्— “असंयोगात् तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत, कर्माभावादेव  
मिति चेत्, न ; परार्थत्वात्”—इति ( ८. १. ४२, ४३, ४४. ) ।  
यश्च श्रुतावग्न्यादीनां ब्राह्मणत्वादिजातिविभागः, स चैषा मेव

प्रत्यक्षाणां ज्वलनादिकर्मणा मङ्गरादिरूपाणां भौतिकानां मेवेति च स्वीक्रियते मीमांसकैः । “जातिः (१. ४. २४.)”—इत्यादिसूत्रेषु तत् स्पष्टम् । अत एव तैर्देवानां मेषा मसम्भवादेव यज्ञादिकर्मण-धिकारित्वं वर्णित मिति दिक् ॥

अथ येऽग्न्यादय इमे प्रत्यक्षाः, न त एते देवाः ; अपि त्वेषा मभिमानिनः सन्ति तत्तद्द्रव्यादिनामतः स्वर्गस्थाः केचन ; अत एवैव मसूत्रयद् व्यासः स्वदर्शनशास्त्रे— “अभिमानिव्यपदेशस्तु”—इत्यादि । तदेतद् व्यासवचन मार्ष मपि कथं नस्यान्मन्तव्य मित्यत्र ब्रूमः । अस्त्येतद् व्यासवचनं सत्यम्, पर मितस्य यद्विधोऽर्थः कृतः स्वस्वसम्प्रदायमतपुष्ट्यर्थं पौराणिककालजैः शङ्करादिभिः, स त्वसत्य एवेत्यस्माकम् । न हि कस्याप्यद्यतनस्य स्वमतस्थापन-व्याकूलीभूतचित्तस्य लेखनीसम्भूतं सर्व माख्यातं सत्यं भवितु मर्हति, नापि हि तादृशानां तेषां सर्वेषां मेव प्रकृतवादित्वे मिथो मतपार्थक्य मुपपद्येतेति विज्ञात मेवैतद् । वस्तुतस्त्वत्र यदुक्तं व्यासेन ‘अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्’—इति (२. १. ५.), तदर्थ-स्त्वेवम्— श्रूयन्ते हि ‘मृदब्रवीत्’, ‘आपोऽब्रुवन्’, ‘फेनोऽब्रुवत्’—इत्येवमादयः (श० ६. १. ३.) । आसु श्रुतिषु श्रुतानां मृदादीनां कथं चेतनाविशिष्टत्व मुररीकार्य मित्याह— ‘अभिमानीत्यादि । यद्यपि विशिष्टचेतनावत्स्वेव अहं ब्रवीमीत्येवङ्कारो ऽभिमानः सम्भवति, नान्यत्र मृदादौ ; तथाप्येवमादौ तस्याभिमानिनः ‘व्यपदेशः’ । व्यपदेशो व्यवहारः, व्यवहारमात्र मौपचारिक मिति यावत् । कुतः ? ‘विशेषानुगतिभ्याम्’ । चेतनाचेतनयोर्विशेषस्तु सर्वैर्ज्ञा-यते लौकिकशब्दार्थशक्तिग्रहादिशिञ्चादितः ; तस्मात् मृदादिषु यदभिमानित्वं तद्व्यावहारिक मौपचारिक मिति सम्प्रत्यत एव ।

अनुगतिश्च “अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः ( ऐ० ४. २. ४. )”, “असौ वा आदित्यो देवः सविता ( श० ६. ३. १. १८. )”, “एष एवेन्द्रो य एष तपति ( श० १. ६. ४. १८. )”, “अयं वै वायुर्योऽयं पवते ( श० १. ५. ४. २. )”—इत्येवमादिश्रुतिभ्यश्चैव मेवेति । इतोऽप्यर्थविशेषोऽत्रावगन्तव्यश्चेदेतद्विधायनीयभाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

नन्वेवं “देवा ह वै सर्वचरो सत्रं निषेदुस्ते ह पाप्मानं नाप-  
जघ्निरे”—इत्येवमाद्याख्यायिकानां का गतिरिति चेत्, “सुतयो ह्येताः सत्रस्य”—इत्यादि ( जै० सू० १. १. ३२. ) द्रष्टव्यम् ।  
अथवा “विद्वांसो वै देवाः”—इति ( श० ३. ७. ३. १०. ) श्रुतेः,  
“इया वै देवा देवा अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनू-  
चानास्ते मनुष्यदेवाः, तेषां द्विधा विभक्त एव, यज्ञ आहुतय एव  
देवानां, दक्षिणा मनुष्यदेवानाम्—० ; त एत मुभये देवाः प्रीताः  
स्वर्गं लोकं मभिवहन्ति”—इति ( श० ब्रा० ४. ३प्र. १. ४.  
२. ३प्र. ५. १४. ) श्रुतेश्च वेदविदुषां गौणदेवत्वेऽभ्युपगते सुसङ्ग-  
च्छत एवैवमादिकं माख्यानम् । अतएव देवत्व मापन्नस्य यज्ञ-  
दीक्षितस्य यजमानस्य मनुष्यैर्वाक्यालापनिषेधेऽपि ( ८१ पृ० )  
विद्वद्भिर्वाक्यालापस्य कथा दूरे आस्ता मेकत्र वासश्च विहितः ।  
तथाहि— “तदस्य विप्रैश्च देवैर्जुष्टं भवति,— ये चेमे ब्राह्मणाः  
शुश्रुवांसोऽनूचानाः”—इत्यादि श० ब्रा० ३. १. १. ११, १२ । तच्चै-  
तत् समान्त्रानम् “एद मगन्म देवयजनम्”—इतिमन्त्रव्याख्यानपर-  
मिति वेदविदुषां देवत्वे मन्त्रलिङ्गं मप्यस्तीति च सूचितम् । स  
चैष मन्त्रो यजुर्वेदीयस्तस्य पाठस्त्वेवम् ( ४. १. १. )—  
“एद मगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विप्रैः ।  
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम”—इति ।

श्रुताश्चेहैतरेये चत्वारो देवगुणाः । तथाहि—

( १ ) “सत्यसंहिता वै देवाः ( १. १. ६. )”—इत्युक्तः प्रथमः,  
“परोक्षप्रिया इव हि देवाः ( ३. ३. ८. )”—इत्युक्तो द्वितीयः, “न  
वै देवा अन्योऽन्यस्य गृहे वसन्ति ( ५. २. ४. )”—इत्युक्तस्तृतीयः,  
“मर्त्यान् सतोऽमर्त्यान् कृत्वा”—इति श्रुतौ ( ६. ३. ४. ) देवाना  
ममरभावश्च ध्वनितः, स एषश्चतुर्थः ।

तत्र देवानां सत्यसंहितात्वन्वित्यम् ;—सूर्यः प्रतिदिन मुदे-  
त्यस्तं याति च यथाकालम्, हरति च रसाननुक्षण मित्यादि ।  
वायुः सदैवान्तरिक्षे स्थितो वाति, मेघान् सञ्चालयन् दारयति च  
यथाकाल मित्यादि । अग्निरप्यसति प्रतिबन्धके न कदापि पचन-  
दहनादिकं स्वकार्यजात मुत्सृजति । तदेवं सर्व एव देवाः सदैव  
स्वस्वकर्मसु व्याप्रियमाणा उपलभ्यन्त इति तेषां सत्यसंहितात्वम् ।  
मनुष्यास्तु स्वभावत एव अनृतचिन्तका अनृतवादिनो ऽनृतकारिण-  
श्चेत्यनृतसंहिताः । तदिहाम्नातम्—“अनृतसंहिता मनुष्याः”—  
इति ( १. १. ६. ) । शिक्षादिभिरनृतभावं विहाय ऋतभाव  
मुपगम्य च भवितु मर्हन्ति तेऽप्यनृतसंहिता इत्याम्नाताः—“विदुषा  
सत्य मेव वदितव्यम्”—इत्येवमादयः ( ५. २. ८. ) उपदेशाः ।  
तदत्र विदुषां देवत्वस्वीकारेऽय मेव प्रधानो हेतुर्यत्तेषां मुपजायत  
एव सत्यस्वभाव इति ।

( २ ) एवं परोक्षप्रियत्व मप्यस्ति देवानाम् । तद्यथा—अन-  
लानिलादिप्रभवाः सर्व एवैते जन्ममृत्युसुखदुःखादयो भावाः,  
सदैव सर्वत्रानुपलभ्यमानहेतुव्यापारका भवन्ति, कुर्वन्ति च सूर्ये-  
न्द्रादयो रसहरण-मेघसञ्चालनादीनि कर्माणि सदैव सर्वत्र, परं  
न किमपि कार्यं कथं केन कदा कृत मिति कस्यापि प्रत्यक्षत



उपलभ्य मस्तीति परोक्षप्रियत्व मेवावगम्यते तेषाम् । विदुषा  
मपि देवत्वलाभात् भवति परोक्षप्रियत्व मित्याह — “ते देवा अब्रु-  
वन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, तन्मादुष मभवत् । तन्मादुषस्य  
मादुषत्वम् । मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषम् । तन्मादुषं  
सन्मानुष मित्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः”—इति  
( ३. ३. ८. ) । मादुष इति प्रत्यक्षवचनेऽभिहितेऽश्लील मपि  
किञ्चित् स्मृतं स्यात्, तद्वर्जनायैवेह विद्वांसो पारोक्ष्येण नाम चक्रु-  
र्मानुष मिति । एवमादिकं परोक्षप्रियत्वञ्च तेषां देवत्वे बीजम् ।

( ३ ) तयान्योऽन्यगृहवासाभावोदाहरण मप्यत्र श्रुत मेवम्—  
“नर्तुर्ऋतोर्गृहे वसतीत्याहुः”—इति ( ५. २. ४. ) । न ह्येकः  
ऋतुरपरस्य ऋतोः काले उपलभ्यत इति तदाशयः अथा-  
परम् । अस्ति सूर्यस्य वासो द्युलोके, चन्द्रस्य वासोऽन्तरिक्षे, एत-  
दन्यथाभावः कदाचित् केनचित् कथञ्चिदपि सम्भाव्यतेऽपि किमु ?  
प्रत्युत सर्व एव ग्रहोपग्रहपृथिवीनक्षत्रादयो देवा स्वस्वकक्षायां  
चिरं भ्रमन्तीत्येव ध्रुवम् । तदन्तर्गताना मग्निवाय्वादीना मध्ये  
मेवानन्यगृहवासत्वं सूक्ष्मविज्ञानदृष्ट्योपलभ्यत एव । ये केचन  
विद्वांसो मनुष्या देवत्व मिच्छेयुः, तेषां मप्येतदनुकरणेनानन्य-  
गृहवासित्वं स्यादभ्यसनीयम्, यथा च स्वात्मीयजनस्कन्धारोहि-  
त्वेन परपिण्डादत्वं दुःखायेत्युपलभ्यतेति ।

( ४ ) अप्यमरणधर्मत्वञ्च तेषां मग्न्यादीनां प्रत्यक्ष मेव ; न  
हि कदापि कचिदपि केनाप्यग्न्यादेरभावो विज्ञायत इति । विद्वां-  
सोऽपि विद्यादिप्रभावेणामरत्व मप्युपगच्छन्त्येव ; तद्यथा—वसिष्ठ-  
विश्वामित्रमान्धातृवेनकृष्णार्जुनव्यासबाल्मीकीकादयः । इत्यमरण-  
धर्मसाभ्याञ्च तेषां देवत्व मव्याहत मिति ।

ऋत्विजा मपि विद्वत्तयैव सत्यभाषित्वादिना सिद्धं देवत्वम् ;  
न ह्यवेदविदुषा मार्त्विज्यं विहित मस्तीति । तथाह्यान्नातम्—  
“ऋत्विजो हैव देवयजनं ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना विद्वांसो  
याजयन्ति”—इति शत० ३. १. १. ५ । अनुपद मिह प्रदर्शितम्  
“एद मगन्म ( १७८ पृ० )”—इत्यादि मन्त्रलिङ्ग ऋत्विजां  
देवत्वस्थापनायैवान्नातं व्याख्यातञ्च तथोपपाद मध्वर्युब्राह्मणे  
“एतद् यजुराह”—इत्यादिना ( ३. १. १. ११. १२. ) ।

दीक्षिताना मपि यजमानानां यज्ञदीक्षा मारभ्य यज्ञसमाप्तिं  
यावद् भवत्येव देवत्वम् । तच्चान्नातं बहुत्र । तद्यथा— “यो दीक्षते  
स देवताना मेको भवति”—इति श० ब्रा० ३. १. १. ८, १० ।  
“अमानुष इव वा एतद् भवति, यत् व्रत मुपैति; न हि  
तदेव कल्पते०—० । तद् खलु पुनर्मानुषो भवति; तस्मादिदं महं  
य एवास्मि सोऽस्मीत्येव व्रतं विसृजेत”—इति च तत्रैव ( १. १. ६. ) ।  
तत्राप्यनृतपरिहारादिक मेव बीजम् । अत एव दीक्षितस्य सत्य-  
वदनं सर्वेष्वेव ब्राह्मणेषूपदिष्टम् । तद्यथा— “दीक्षितेन सत्य मेव  
वदितव्यम्”—इति ( ऐ० ब्रा० १. १. ६. ) ।

एवं हि वेदेषु चतुर्विधा देवा श्रूयन्त इत्येव फलितम् । तत्र,  
अग्निवायुसूर्या अग्नीन्द्रसूर्या वैते त्रयो मुख्या देवाः, पृथ्वीजल-  
चन्द्रमः प्रभृतयो बहव एव तन्मुख्यदेवसहचरादय इत्यमुख्या देवाः,  
इध्माक्षग्रावादयः पारिभाषिका देवाः, ऋत्विग्यजमानविद्वांसस्तु  
गौणा देवा इति सिद्धान्तः ॥

अथापीश्वरस्य “सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म”—इत्यादिश्रुतिसिद्धं  
सत्यसंहितात्वं प्रबल मेवास्ति, “एक मेवाद्वितीयम्”—इत्येवमादि-  
श्रुतिभ्योऽपरेश्वरस्याभावात् अन्यगृहवासित्वं त्वस्यासम्भवं मेव,

परोक्षप्रियत्व मपि तत्सृष्टानां मेषां जीवानां मतीतानागतज्ञान-  
शून्यत्वेन स्पष्टम्, अमरत्वस्य तु का कथा ? सर्वश्रुतिसिद्धो हि  
तस्यामरभावः सर्वधीमत्यतीतश्चेति । सत्यप्येवं मन्त्राणां मधि-  
यज्ञव्याख्याने प्रत्यक्षदृष्टप्रज्वलिताङ्गारादिरूपान्यादीनां मेव ग्रहणत-  
द्वृष्टसिद्धेरपराभिधेयस्यानाकाङ्क्षितत्वात् दर्शितविनियोगश्रुत्युपलब्ध-  
क्रियासाधनोपयोगित्वाच्च देवशब्देन देवताभिधानान्यादिशब्दैश्च  
न तस्य देवदेवस्य ग्रहणं याज्ञिकसम्मतम् । अधिदैवतव्याख्याने  
चान्यादिद्रव्यादिविज्ञानं मेवाभीष्टमित्यग्न्यादिपदानां मीश्वर-  
वाचित्वस्वीकारो व्यर्थ एव । अध्यात्मव्याख्यानन्तु त्रिविधं भवति ;  
आत्मशब्देन परापरात्मनोः शरीरस्य च बोधात् । तत्र शरीर-  
परव्याख्याने जीवपरव्याख्याने चेश्वरार्थस्य नैव प्रयोजनीयता ;  
परमात्मपरव्याख्यानन्तु येषां मन्त्राणां मुपयुज्यते, तेष्वेव स्यात्तदा-  
दरणीयमिति सर्वैरभ्युपेयमेवेति ॥

अथ यद्यपि परमात्मपरं जीवपरं शरीरपरं चेति त्रिविधमपि  
व्याख्यानं स्यादधिदैवतव्याख्यानान्तर्गतम्, तथापि ब्राह्मणवसिष्ठ-  
न्यायेनैवेह प्राधान्याभ्युपगमात् निरुक्तादौ पार्थक्येनोच्यतेऽथाध्यात्म-  
मिति । तद्यथा ऋ० सं० १. १६४. १५—

“साकञ्जानां सप्तथ माहुरेकजं षड्विद्यमा ऋषयो देवजा इति ।

तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्यात्वे रजन्ते विहृतानि रूपशः” ।

“सहजातानां षष्ठा मृषीणा मादित्यः सप्तमः ०—० इत्यधि-  
दैवतम् ; अथाध्यात्मम्— सहजातानां षष्ठा मिन्द्रियाणां मात्मा  
सप्तमः”—इत्यादि तन्नैरुक्तव्याख्यानम् (१३. २. १६.) । अत्रात्मपदेन  
जीवस्य ग्रहणम् ।

अथात्मपदेन परमात्मनो यथा ऋ० सं० ८. ८६. ५—

“सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।  
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः”—इति ।

“सोमः सूर्यः ०—० इत्यधिदैवतम् ; अथाध्यात्मम्— सोम  
आत्मा”—इत्यादि चात्र निरुक्तम् ( १३. १. १२. ) ॥

अथापि तान्यध्यात्मादीनि नामतस्त्रिविधानि वस्तुतः पञ्च-  
विधानि व्याख्यानानि न हि सर्वेषां मेव मन्त्राणां सुपपद्यन्ते ;  
प्रत्युत केषाञ्चिदेकविधम्, केषाञ्चिद् द्विविधम्, केषाञ्चिद् बहुविध-  
मपि । तत्राधिदैवतमन्त्रा एवात्र प्रायस्त्रिभागाधिकाः श्रुताः,  
केवलाधियज्ञार्थाः केवलाध्यात्मार्थाश्च सन्ति केचन स्वल्पाः । एव मपि  
यदधिदैवतमन्त्राणां बहूनां मेवाधियज्ञं व्याख्यानं कृतं ब्राह्मण-  
कारैर्यज्ञसिद्धयर्थम्, अध्यात्मव्याख्यानं मध्याह्नत मात्मवादिभि-  
रुपनिषदादिषु ; तस्मात् सर्ववेदेष्वधिदैवतमन्त्राणां प्राचुर्येऽपि  
साम्प्रत मन्वेषणीयत्वं गतम् तदिहोदाहरामः—

यज्ञं ज्योतिष्टोमादिकं मधिकृत्य यद् व्याख्यानम्, तदधि-  
यज्ञम् । तादृशं केवलाधियज्ञव्याख्यानयोग्यमन्त्रो यथा—

“उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्”—इति वा० सं० १. २२. ६ ।

कपालेषु पुरोडाशप्रथने विहितः । तच्च विधानं मन्त्रव्याख्यान-  
सहितं श्रुतं शतपथे । तथाहि— “तं प्रथयति, उरुप्रथा उरु प्रथ-  
स्वेति प्रथयत्येवैन मेतदुरु ते यज्ञपतिः प्रथता मिति ; यजमानो वै  
यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदाशिष माशास्ते”—इति ( १. १. ६. ८. ) ।

अपरो दाशतय्या मपि यथा १०. ७१. ११—

“ऋचान्त्वः पोष मास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु ।

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः”

“इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोग माचष्टे”—इत्याद्यत्र नैरुक्तम् ( १. ३. ३. ) ।

केवलाध्यात्मव्याख्यानयोग्यमन्त्रो यथा १. १६४. २०—

“वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वादृत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति” —  
इति । “द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ”—इत्यादि, “इत्यात्मगति माचष्टे”—  
इत्यन्तश्चैतन्नैरुक्तं ( १३. ४. २. ) व्याख्यानं द्रष्टव्यम् ।

देवतां देवते देवताः वा अधिकृत्य दृष्टो मन्त्रोऽधिदैवतः ।  
देवतास्तु पूर्वोक्तलक्षणाः सर्वविधा एवेह विज्ञायन्ते ; परापरशरीरा-  
त्मकानां मात्मनाञ्च देवत्वस्वीकारेण तत्तद्विज्ञानमन्त्राणां मध्या-  
त्मेतिप्रसिद्धानां मध्येतदन्तर्गतत्वम् । एवञ्चाधिदैवतमन्त्रेभ्यस्त्वा-  
ब्रह्मस्तस्वपर्यन्तानां पार्थिवानां मपार्थिवानाञ्च गुणस्वरूपोप-  
योगितादीनां विज्ञातं भवतीत्यधिदैवतमेव व्याख्यानं सर्वपदार्थ-  
विज्ञानमूलं प्रधानम् । अतो निरुक्तकृद्भिः प्रायः सर्वेषां मेव निग-  
मानां मधिदैवतव्याख्यानमेवाश्रितम् । तद्यथा— “स न मन्ये-  
ताय मेवाग्निरिति, अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते, ततो नु  
मध्यमः— ‘अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्याः स्मयमानासो  
अग्निम् । घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता तृषाणो हर्यति जात-  
वेदाः’ । ( ‘अभिप्रवन्त’ ) अभिनमन्त ( ‘समनेव’ ) समनस इव  
‘योषाः’ ‘कल्याण्यः’ ‘स्मयमानासः’ ‘अग्निम्’ इति औपमिकम् ।  
‘घृतस्य धाराः’ उदकस्य धाराः ‘समिधः’ ‘नसन्त’ । नसतिराप्नोति-  
कर्मा वा, नमतिकर्मा वा । ‘ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः’ हर्यतिः  
प्रेसाकर्मा—इति निरु० ७. ४. ४ । अत्र माध्यमिकस्य विद्यु-  
दग्नेः सूर्यरश्म्याहृतोदकान्येव समिन्धनानीत्युक्तं विज्ञानम् । अत  
एवान्यत्रोक्तमेतयोरग्न्योः पार्थक्यम्— “यावदनुपात्तो भवति  
मध्यमधर्मैव तावद् भवति— उदकेन्धनः शरीरोपशमनः ; उपा-



दीयमान एवायं ( पार्थिवाग्निः ) सम्पद्यते— उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः”—इति ( निरु० ७. ६. ६. ) । वैद्युदग्नेरुदकजातत्व मन्यस्मिन्नपि मन्त्रे सुव्यक्तम् । तद्यथा— “आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवि”—इति ८. ६. ३० ।

अनेकत्र तु निरुक्तकारो यज्ञानुरोधादेकस्य मन्त्रस्याधियज्ञ- व्याख्यानं मुक्तापि पुनः स्वचित्ततोषायाधिदैवतञ्चाह । तद्यथा—

“सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिबन्त्योषधिम् ।

सोमं यं ब्राह्मणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन”—इति ।

अस्य मन्त्रस्य ( ऋ० सं० १०. ८५. ३. ) एतन्नैरुक्तं व्याख्यानम्— “वृथा सुत मसोम माह०—० ‘कश्चन’ अयज्वा ; इत्यधियज्ञम् । अथाधिदैवतम्०—० यजुस्तुत मसोम माह, सोमं यं ब्राह्मणो विदु- श्चन्द्रमसम् न तस्याश्नाति ‘कश्चन’ अदेव इति”—इति ११. १. ४ ।

एवम् “इषे त्वोर्जे त्वा”—इत्यस्याधिदैवतमन्त्रस्यैव यज्ञानु- रोधाद् छिनद्गीत्यादिपदाध्याहारेणाधियज्ञं व्याख्यानं कुर्वन्नपि शतपथप्रवक्ता वायुविज्ञानं न जहाविति पूर्वमेवोदाहृतम् ( ६५० ) ।

एव मेकस्यैव मन्त्रस्य पूर्वं मधिदैवतव्याख्यानं प्रदर्श्य ततोऽध्यात्म- मपि व्याख्यानं प्रदर्शितम् । तद्यथा ऋ० सं० ८. ८६. ४—

“सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।

जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः”—इति ।

अस्य “सोमः सूर्यः प्रसवनात्०—० इत्यधिदैवतम् ; अथाध्यात्मम्— सोम आत्माप्येतस्मादेव”—इत्यादि नैरुक्तं द्रष्टव्यम् ( १३. २. १२. ) ।

एकस्य मन्त्रस्य त्रिविधं चतुर्विधं वा व्याख्यानं मप्युपपद्यते ।

तद्यथा “अग्नि मीडे पुरोहितम्”—इत्यस्य ( ऋ० सं० १. १. १ ) ।

एतस्य हि अधियज्ञपक्षे ‘पुरः’ सम्मुखे वेद्यां ‘हितं’ निहितं मिम

मेम 'अग्निम्' पार्थिवं प्रज्वलन्त मङ्गारम्, अधिदैवतपक्षे 'अग्निम्'  
 'पुरः' पूर्वस्थां दिशि 'हितम्' उदितं सूर्यम्, अध्यात्मपक्षे 'पुरो-  
 हितम् अग्निम्' सर्वेषा मेव पुरः स्थितं परमात्मानम्, जीवं  
 वेति चत्वारोऽप्यर्थाः सङ्गच्छन्त एवेति ॥

अथाधिदैवतार्थतो बहव उपदेशा अपि लक्षिता भवन्ति ।  
 तद्यथा ऋ० सं० १. १५५. ६—

“ता वां वास्तून्नुश्मसि गमध्यै, यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।  
 अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः, परमं पदमवभाति भूरि”—इति ।  
 “सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते”—इति ब्रुवता यास्कमुनिना तन्नि-  
 गमरूपत्वेन प्रदर्शितस्यास्यार्थसङ्क्षेपस्त्वेव मभाषि—“( ‘ता’ ) तानि  
 ‘वास्तूनि’ ( ‘उश्मसि’ ) कामयामहे ‘वा’ ( वयम् ), ( ‘गमध्यै’ )  
 गमनाय ; ‘यत्र’ ( येषु वास्तुषु ) ‘गावः’ ( रश्मयः ) ( ‘भूरिशृङ्गाः’ )  
 बहुशृङ्गाः०—० ‘अयासः’ अयनाः ; ( ‘अत्र’ ) तत्र ( तेषु वास्तुषु )  
 ‘उरुगायस्य’ महागतेः ( ‘वृष्णः’ ) विष्णोः ‘तत्’ परार्द्धस्थं  
 ‘परमं पदम्’ ( आकाशं ) ‘अवभाति’ ‘भूरि’ बहु”—इति  
 निरु० २. २. ३ । इतश्चात्र वास्तुविज्ञानमुपलभ्यते । तथाहि—  
 येषु वास्तुषु मध्ये बहु आकाशं स्यात्, यस्मिंश्चाकाशे सूर्यरश्मीनां  
 वायुप्रेरितं गमनागमनञ्च प्रचुरं भवेत्, तादृशानि बहुवाय्वाका-  
 शातपालोकसमन्वितान्येव वास्तूनि विहङ्गिर्वासायाश्चयणीयानी-  
 त्युपदेशः फलितः ।

एवं गृहद्वारनिर्माणञ्च कीदृक् कर्तव्यमित्युपदेशश्चाधिदैवि-  
 कार्थत एव लभ्यते यथा ऋ० सं० १०. ११०. ५—

“व्यचस्वतीरुर्विया विश्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुभमानाः ।

देवीर्द्वारो हृदतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः”—इति ।

अस्मिन् मन्त्रे गृहाणां द्वारः कीदृश्यो निर्मातव्या इत्येवोप-  
दिष्टम् । 'द्वारः' यज्ञगृहाणां विद्वद्गृहाणां वा 'देवीः' देव्यः, दीप्ति-  
मत्यः [ "द्वाराभिमानिन्यो हे देव्यः"—इति सा० भा० ] 'व्यच-  
स्वत्यः' व्यञ्जनवत्यः, बहुवायुप्रवेशयोग्याः, 'उर्विया' उरुत्वेन, प्रस्थ-  
त्वेन 'विश्वयन्ताम्' सुयोग्याधिकप्रस्थकपाटयुक्ता भवन्त्वित्यर्थः ।  
'पतिभ्यो जनयः न शुभमानाः' कुलवध्वो यथा स्वं स्वं पतिं तोष-  
यितुं सुन्दरवसनभूषणैः शोभन्ते, तथैव शोभिताश्च भवन्त्वित्यर्थः ।  
अतएवोक्त मैतरेयके "विश्व मिव हि रूपं रराव्याः शुक्ल मिव  
च कृष्ण मिव च"—इति ( १. ५. ३. ) । 'विश्व मिन्वाः' "विश्व  
माभिरेति"—इति तन्निरुक्तम् ( ८. २. ७. ) [ "सर्वस्य प्रीणयित्रः"  
—इति सा० भा० ], एवं 'बृहतीः' बृहत्यो दैर्घ्येण 'देवेभ्यः' ऋत्वि-  
ग्यजमानेभ्योऽन्येभ्यश्च विद्वद्भ्यः 'सुप्रायणाः' सुखप्रवेशाः 'भवत' इति  
तदर्थः । तदेतेन विद्वद्भिः सुदैर्घ्यप्रस्थयुक्ताः वायुप्रवेशप्रवहनयोग्याः  
सुचित्रिता दीप्तिमत्यो द्वारः कर्तव्या इति द्वारविज्ञानं सुपदिष्टम् ।

अन्याप्येव मेषा द्रष्टव्या ऋ० सं० ३. १८. २—

"तपो ष्वग्ने अन्तराण् अमित्राण् तपा शंस मरुषः परस्य ।  
तपो वसो चिकितानो अचित्तान् वि ते तिष्ठन्ता मजरा अयासः"  
—इत्यस्या ऋच इदं सायणीयं भाष्यम्— "हे 'अग्ने' 'अन्तरान्'  
अभिभावकान् 'अमित्रान्' शत्रून् 'सु' सुष्ठु यथा भवति तथा 'तपो'  
तपैव बाधस्व । किञ्च 'अरुषः' तुभ्यं हविरप्रयच्छतः, अत एव  
'परस्य' शत्रुभूतस्य स्वं 'शंसम्' अभिलाषं 'तपा' क्षपय । 'वसो'  
सर्वस्य वासयितः हे अग्ने ! 'चिकितानः' कर्माभिज्ञस्त्वम् 'अचि-  
त्तान्' स्वकर्मण्यनासक्तमनस्कान् पुरुषान् 'तपो' सन्तप । यस्मा-  
देवं तस्मात् 'ते' तव रश्मयः 'अजराः' जरारहिताः अतएव

‘अयासः’ सर्वत्र गमनस्वभावाः सन्तो ‘वि तिष्ठन्ताम्’ विशेषेण तिष्ठन्तु”-इति । अत्र ‘तुभ्यं हविरप्रयच्छतः’-इति भाष्यवचनादवगम्यते मन्त्रेणैतेनाग्निपूजाहीनाना मत एवाग्निशत्रूणां मनुष्याणां विनाशः प्रार्थित इति, तदिदं मसङ्गतं मशाब्दश्चेति ।

अस्मन्मते त्वेतन्मन्त्रस्यैवं व्याख्यानं कार्यम्— प्रथमपादस्य, हे ‘अग्ने !’ ‘अन्तरान् अमित्रान्’ गृहमध्यस्थान् शत्रुभूतान् आर्द्रभावान् ‘तप उ’ शोषयैवेति । द्वितीयपादस्य, ‘अररुषः परस्य’ ‘अरुषीरारोचनात्’-इति हि निरुक्तम् ( १२. १. ७. ), अररुषः = अनरुषः, तथाच शत्रुभूतस्याप्रकाशस्य ‘शंसम्’ नाम अस्तित्वमिति यावत्, ‘तपा’ दह, नाशयेति । तृतीयपादस्य, हे ‘वसो’ ‘चिकितानः’ प्रज्वलन् त्वं ‘अचित्तान्’ चित्तशून्यान् दंशमशकादीन् ‘तप उ’ तपयैवेति । चतुर्थपादस्य, ‘ते’ तव सखिभूताः ‘अजराः’ ‘अयासः’ पवमानाः ‘वितिष्ठन्ताम्’ अत्र गृहे इति शेषः । अग्नौ ज्वलिते वायोरागमनं प्रत्यक्षम्, अत एवाग्नेर्वायुसखेति च नाम प्रसिद्धमिति । तदेव मार्द्रं गृहेऽग्निप्रज्वालनेन तदार्द्राभावो नश्यति, तत्र प्रकाशोऽपि भवति, तदाद्रान्धकाराश्रिता दंशमशकादिजीवा अपि विदूरिता भवन्ति, तत्र सदागतेर्गमनञ्च सिध्यतीति फलितार्थः सम्पन्नः । तदेतेन मन्त्रेण गृहस्य प्रकाशशून्यत्वम्, तन्निबन्धनमार्द्रत्वम्, तत एव वायुप्रवाहहीनत्वम्, तदाश्रितं दंशमशकादिजीवाश्रयत्वञ्चेति चत्वारि दूषणानि विज्ञापितानि ; तेषां चतुर्णां मेव दूषणानां निवारणाय तादृशे गृहे अग्नेः प्रज्वालनञ्चोपदिष्टम् ।

हन्तैवं पदार्थविज्ञानशिद्धोपयोगीनि बह्वपदेशपूर्णानि चैतादृशान्युत्कृष्टतमान्यधिदैवतव्याख्यानान्यपहाय, परमात्मज्ञानपिपा-



सूनां तर्पणानि अध्यात्मव्याख्यानानि च विलोप्य, अधियज्ञव्याख्या-  
नान्येवाभाषत सर्ववेदभाष्यकारः सायणाचार्यस्तथान्यान्योऽपि ।  
उक्तञ्च तेन सायणेन ऋक्संहिताभाष्ये अस्यवामीयसूक्तव्याख्याना-  
रम्भे— ‘एव मुत्तरत्राप्यधिदैवतपरतयाध्यात्मपरतया च योजयितुं  
शक्यम्, तथापि स्वरसत्वाभावात् अन्यविस्तरभयाच्च न लिख्यते ;  
तत्र वा सुपर्णेत्यादौ स्फुट माध्यात्मिको ह्यर्थः प्रतीयते, तत्र त मेव  
प्रतिपादयामः’—इति ( १. १६४. १. ) । अहो स्वरसत्वाभावः !

वस्तुतो ध्वान्ताच्छन्नविज्ञानकालिकानां मशेषशेषमुप्रीमता मपि  
तेषां सायणमहीधरादीनां मधिदैवतार्थतोऽपि मन्त्राभिप्रेतं प्रकृत-  
विज्ञानं नैव स्फुरितं सम्यगिति तच्छोच्य मेवाभवत् । दर्शयामश्चेह  
तथाविध मपि किञ्चिद् । सन्ति यजुस्संहितायां कतिचिद् ब्रह्मोद्य-  
सञ्ज्ञका ऋग्मन्त्राः, ते सर्वे नूनं विविधविज्ञानपूर्णा अपि सायणा-  
दिभिर्न तथा व्याख्याताः । तद्यथा तत्रत्यैकस्या ऋचोऽर्धैश्च एषः—

“पृच्छामि त्वा पर मन्तं पृथिव्याः ,

पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः”—इति ( वा० सं० २३. ६१. ) ।

एतत्पृच्छयोरुत्तरे अपि तद्वितीयस्या मेवर्चि श्रुते—

“इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः” ,

“अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः”—इति ( वा० सं० २३. ६२. ) ।

तावेतौ द्वावेवार्धचौ ऋक्संहिताया मप्यान्नातौ ( १. १६४. ३४,  
३५. ) । तैत्तिरीयसंहितायाच्चेमावान्नातौ ( ७. ४. १८. ५, ६. ),  
तद्ब्राह्मणे चोपन्यस्तौ ( ३. ८. ५. ) । तदेतयोर्व्याख्यानानि—

‘हे यजमान ! ०—० यत्र सर्वा पृथिवी समाप्यते, तत्  
पृच्छामि । तथा त्वा मन्यत् पृच्छामि । किं तदिति, उच्यते—  
यत्र भुवनस्य नाभिः सन्नाहो बन्धनम्, यत्र सर्वं सन्नद्धं भवति त



मित्यर्थः—इति । ततः ‘पृथिव्याः प्रथनवत्याः भूम्याः परोऽन्तः पर-  
मन्तं पर्यवसानं मियं वेदिः । न हि वेद्यतिरिक्ता भूमिरस्ति ;  
“एतावती वै पृथिवी यावती वेदिः”—इति ( ब्रा० २. ६. १२.  
३. ) श्रुतेः । तथायं यज्ञो भुवनस्य भूतजातस्य नाभिः सन्नहनम् ;  
वृद्ध्यादिसर्वफलोत्पत्तेः सर्वप्राणिनां बन्धकत्वात्—इति च । एते  
तयोरर्द्धर्चयोः सायणकृते ऋग्भाष्यीयाधिदैवतव्याख्याने ।

‘हे ब्रह्मन् ! त्वां पृथिव्याः परं मन्तं पृच्छामि । यतः परं  
मुक्लृष्टप्रदेशो नास्ति, सोऽयं परोऽन्तः । तथा चक्रस्य नाभिरिव  
सर्वस्य भुवनस्य नाभिस्थानीयं वस्तु पृच्छामि’—इति । ततः ‘येयं  
यागवेदिः, ता मेव पृथिव्याः परं मन्तं याज्ञिका आहुः न हि वेद्या  
अधिकः कश्चिद् भूप्रदेशोऽस्ति’—इत्यादि च । एते तयोरर्द्धर्चयोः  
सायणकृते तैत्तिरीयभाष्यीयाधिदैवतव्याख्याने ।

‘यागसम्बन्धिनी या वेदिः, सा पृथिव्या मुक्लृष्टप्रदेशः ; न हि  
ततोऽन्य उक्लृष्टप्रदेशः कश्चिद् विद्यते’—इति, ‘यथा शरीरस्य नाभिः  
मध्यप्रदेशः, तथा यज्ञः सर्वस्य लोकस्य मध्यस्थानीयः ; कर्मा-  
धीनत्वात् सर्वजगद्व्यवहारस्य’—इति चैते तयोरर्द्धर्चयोः सायणकृते  
तैत्तिरीयब्राह्मणीयाधिदैवतव्याख्याने ।

‘हे अध्वर्यो ! पृथिव्याः परं मन्तं मवधिभूतं पर्यन्तं त्वा महं  
पृच्छामि । यस्मिन् स्थाने भुवनस्य भूतजातस्य नाभिः कारणं  
तदपि त्वां पृच्छामि’—इति, ‘इयं वेदिः उत्तरवेदिः पृथिव्याः परः  
अन्तः अवधिः वेदेः सर्वपृथ्वीरूपत्वादित्यर्थः । भुवनस्य नाभिः  
कारणम् अयं यज्ञोऽश्वमेधः भुवनस्य प्राणिजातस्य नाभिः कार-  
णम् ; “यज्ञाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते”—इति श्रुतेः—इति चैते तयो-  
र्द्धर्चयोर्महीधरकृते यजुर्भाष्यीयाधिदैवतव्याख्याने ।

तत्त्वतस्त्विह प्रथम-पृच्छामित्वेतिप्रश्नोत्तराभ्यां पृथिव्या वर्तु-  
लाकारत्वं प्रतिपादितम् ; वर्तुलस्यैव हि पदार्थस्याद्यन्तसीम्नोरैक्य-  
दर्शनाद् ; यतः कुतश्च चालिता रज्जुस्तत्रैवावसीयते इति सर्वं मेव  
स्थान मादिशब्दभागन्तशब्दभाक् च भवेदित्यभिप्रेत्यैवोत्तरित मियं  
वेदिः परो अन्त इति । एतेन पृथिव्याकृतिविज्ञानं सुपदिष्टम् ।

एव मपर-पृच्छामित्वेतिप्रश्नोत्तराभ्यां पृथिव्या माध्याकर्षण-  
शक्तिमत्त्वं प्रतिपादितम् ; नाभिपदार्थस्य हि मध्यस्थत्वेन बन्धन-  
रूपत्वेन चान्यत्रान्यत्र सिद्धान्तितत्वात् । तथा ह्यैतरेयकम्— “अयं  
वै वेनोऽस्माद्वा ऊर्ध्वा अन्ये प्राणा वेनन्त्यवाञ्चोऽन्ये तस्माद् वेनः  
प्राणो वा अयं सन् नाभेरिति तस्मान्नाभिस्तन्नाभेर्नाभित्वम् प्राण  
मेवास्मिंस्तद्वधाति”—इति ( १. ४. ३. ) । “नाभिः सन्नहनात् ।  
नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः”—इति च नैरुक्तम् ( ४. ३. ५. ) ।  
‘एह बन्धने’—इति दिवादिधातोः ‘नहो भञ्ज’—इतीज्प्रत्यये भान्ता-  
देशे चाद्युदात्तो नाभिःशब्दोऽयं निष्पद्यते । तदेवं मध्यस्थत्वे सति  
अभितः स्थितानां सन्निहितानां बन्धनरूपत्वं नाभित्वं मिति सम्प-  
द्यते नाभिलक्षणम् । अत एव शरीराणां स्नायूनां वायूनाञ्च  
मध्यस्थस्य बन्धनरूपस्याङ्गस्य नाभिरिति समाख्या, रथचक्रवलय-  
गतानामराणां मध्यस्थो बन्धकोऽपि नाभिरुच्यते, सौरजगन्मण्डलस्य  
मध्यस्थः स्वरश्मिभिरालुष्य सर्वेषां ग्रहोपग्रहाणां बन्धकश्चासौ सूर्यो-  
ऽप्याख्यायते नाभिरिति । तद्यथा ऋ० सं० १०. १. ५. ३—  
“विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेशित् तन्तुं मनसा वियन्तः”—इति,  
“वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनाम्”—इति च १०. ११. २. १ ।  
एवञ्च मध्यस्थ आकर्षणहेतुर्नाभिरित्येवाभिप्रेत्येह प्रश्नोत्तरे दृष्टान्त-  
विधया अतिसन्निहितस्य स्वाधारभूमेर्यज्ञस्य नाभित्वं सुपन्यस्तम् ।

श्रूयते चैवं मन्त्रांश एष ऋक्संहितायां ( ७. ८८. ३. ) , यजु-  
संहितायाञ्च ( ५. १६. )—“दाधर्थं पृथिवीं मभितो मयूखैः”—इति ।

तस्यास्येदं सायणीयं भाष्यम्— “हे ‘विष्णो !’ ०—०,  
‘पृथिवीं’ प्रथिता मिमां भूमिम् ‘अभितः’ सर्वत्र स्थितैः ‘मयूखैः’  
पर्वतैः ‘दाधर्थं’ धारितवानसि , यथा न चलति तथा दृढीकृत-  
वानित्यर्थ इति । तदत्र मयूखशब्दस्य अश्रुतपूर्वः पर्वतार्थस्तत्र प्रकृ-  
तार्थसमन्वयासमर्थतयैव तेनाश्रित इति प्रकृतार्थसमन्वयासमर्थता  
च तस्य विदुषो ऽभवन्नूनं तत्कालमाहृत्यत एवेति च स्फुटम् ।

अथास्येदं महीधरकृतं भाष्यम्— “हे ‘विष्णो !’ ०—०,  
‘पृथिवीं’ ‘मयूखैः’ स्वतेजोरूपैः नानाजीवैः वराहाद्यनेकावतारैर्वा  
‘अभितः’ ‘दाधर्थं’ दधर्थं , सर्वतो धारितवानसि”—इति । अत्र  
नानाजीवानां वराहाद्यनेकावताराणां वा तेजोरूपत्वकल्पनम् ,  
तथाविधसाधनैः पृथिव्या विष्णुकर्तृकं धारणञ्चेति सर्वमेवेतत्  
तत्कालस्य गाढतमसाच्छन्नविज्ञानत्वमेवावेदयति ।

तत्त्वतस्त्विह रश्मिभिः साधनैः विष्णुनामसूर्यकर्तृकं पृथिव्याः  
सर्वतो धारणमिति विज्ञानमेवोपदिष्टम् । एतेनाकर्षणशक्ति-  
विज्ञानं पुरा नासीदित्यद्यतनविज्ञानविदा मास्फालितसिद्धान्तो  
ऽपि नूनं गिर्युद्गीर्णाग्निप्रध्वस्तः ।

एव मन्यत्रापि यथा— “सलिलं वा इदं मन्तरासीत् , यद-  
तरन् तत् तारकाणां तारकत्वम्”—इति तै० ब्रा० १. ५. २. ५ ।  
‘द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये यदिदं स्थावरजङ्गमात्मकं जगद् दृश्यते,  
तत् सर्वं पुरा प्रलयकाले सलिलमेवासीत् , तदानीं कृत्तिकाद्याः  
सलिलं तीर्त्वा लोकान्तरेषु गताः ; तस्मात् तरन्तीति व्युत्पत्त्या  
तारकत्वं सम्पन्नम्”—इति तत्र सा० भा० ।

तदिदं व्याख्यानं नोपपद्यते कथं मपि ; स्थावरजङ्गमात्मक-  
जगत्त्वन्तु पार्थिवानां मेव, पौराणिकमते प्रलयकाले सलिलाद्भुत-  
स्त्वञ्च तेषां मेव विवक्षितम्, अत्र पृथिव्यां कदाप्येकदा कृत्तिकादि-  
तारकाणां संस्थितिवर्णनं मपि गञ्जिकागुञ्जनम्, तदितस्तीर्त्वा  
तासां मूर्ध्वपलायनन्तु दूरपराहतमिति सुधीभिरेवाकलनीयम् ।

तत्त्वतो ऽस्ति हि सलिलमित्यन्तरिक्षवचनम्; 'आपः'—  
इत्यस्य 'समुद्रः'—इत्यस्य चान्तरिक्षनामसु पाठात् ( निघ०  
१. ३. ८, १५. ), निरुक्ते माध्यमिकत्वेन व्याख्यानात् ( ११.  
४. ६. ), अत्रैव इदं मन्तरासीदिति श्रुतेस्तथैवार्थोपपत्तेश्च ।  
तरणं च प्लवनमेवेहेष्टम्; तारकासु तस्यैव सम्भवात् । अथवा  
अस्तु सलिलमित्युदकनाम, परं तदिह माध्यमिकमेवेष्टम्;  
अत्रैव इदमन्तरासीदिति श्रुतेस्तथैवार्थोपपत्तेश्चेति । 'आसीत्'—  
इत्यस्य अस्तीत्यर्थः, 'अतरन्'—इत्यस्य तरन्तीत्येवार्थश्च पाणिनि-  
सम्मतः ( पा० सू० ३. ४. ६. ) । तथा च 'अन्तः' द्यावापृथिव्यो-  
र्मध्ये 'यत्' 'इदं' 'सलिलम्' अन्तरिक्षम्, द्यावापृथिव्योः 'अन्तः'  
अन्तरिक्षे 'यत्' 'इदं' 'सलिलम्' उदकं वा, 'आसीत्' सदैवास्ति,  
एतदेव अन्तरिक्षं सलिलं वा तारकाः 'अतरन्' सदैव तरन्ति;  
'तत्' तारकाणां तारकत्वम्' इत्येवार्थः सम्पद्यते सङ्गच्छते चेति ।

अपि तत्रैव किञ्चिदुत्तरं श्रुतमिदम्—“यानि वा इमानि  
पृथिव्याश्चित्राणि, तानि नक्षत्राणि; तस्मादक्षीलनामनि चित्रे  
नावस्येन्न यजेत”—इति तै० ब्रा० १. ५. २. ६ । अत्रेदं सायणीयं  
भाष्यम्—‘पृथिव्याः सम्बन्धीनि चित्राणि विविधानि ग्रामनगरा-  
दीनि स्थानानि सन्ति, तानि नक्षत्रसदृशानि, यथा द्युलोके नक्ष-  
त्राणि विविधानि उपकारकाणि च दृश्यन्ते तद्वद् ग्रामादीन्यपि ।



तस्मात् कुसम्बन्धिविचित्ररूपनिषिद्धं तत् स्थान मल्लीलनाम प्रतिकूल-  
नक्षत्रसदृशं निन्दितं स्थानं स्तेच्छजनभूयिष्ठम्, तस्मिन्नल्लीलनाम्नि  
ग्रामे निवासं यागाद्यनुष्ठानञ्च न कुर्यात्—इति ।

अत्र सुधीभिर्विचार्य मिदम्,— प्रदर्शितं सायणीयं भाष्य  
मेव मन्तव्यं चेत्, तर्हि किं ग्रामनगरादिभिन्ने इरिणे, समुद्र-  
गर्भे, अन्तरिक्षे वा निवसेद् यजेत चेति, अपीह नक्षत्रप्रकरणे कि  
मेतेनाप्रसङ्गसङ्कीर्त्तनेनेति चेति । तत्त्वतस्त्विहैवं विज्ञान मुपदि-  
ष्टम्, यदद्यापि पाश्चात्यविज्ञानविद्भिरपि नाधिगतम्; किञ्चेत  
एवोपदेशाद् विज्ञायते— तदानीं मपि नक्षत्रादीनां स्वरूपादि-  
प्रत्यक्षज्ञानायासीत् किंविध मपि महद् यन्त्र मितितीति ।

एव मध्विगुप्रेषमन्त्रो यस्तैत्तिरीयब्राह्मणे ( ३. ६. ६. )  
आम्नातः, तत्संहितायाम् ( ३. ६. ६. ), इह चैतरेयके विहितो  
व्याख्यातश्च “दैव्याः शमितार आरभध्व मुत मनुष्या इत्याह”—  
इत्याद्युक्त्या ( २. १. ६. ) । स हि यद्यपि यज्ञानुसृतो व्याख्यातः,  
परं चिकित्साविज्ञानानुगतशारीरपदार्थज्ञानाद्यर्थ एवेत्यवधेयम्;  
न हि पशुपातघाताद्यन्तरा शारीरसूक्ष्मातिसूक्ष्मस्नायुादिभावानां  
ज्ञानं सम्भवेन्नाम, नापि तदन्तरेण चिकित्साविज्ञानं पूर्णता मेतीति  
सर्वविद्यानिधानस्य वेदस्य तत्राप्युपदेशो विधेय इति ।

तथा यजुर्वेदीयाः “ब्रह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राय राजन्यम्,  
मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्, नमसे तस्करम्, नारकाय वीरह-  
णम्”—इत्येवमादिका मन्त्राश्च ( वा० सं० ३०. ५—२२. ) यद्यपि  
नूनं तेषां ब्राह्मणादीनां कर्म-कर्मफलादिविज्ञानपराः; तथापि  
यज्ञानुरोधतः यज्ञीयपशुविधानपरत्वेन व्याख्याताः ।

एवं सम्भोगविज्ञानोपदेशाद्यर्थकाः “अस्त्रे अस्त्रालिङ्ग्यस्त्रिके”—इत्यु-



यक्रम्य, “गणानां त्वा गणपतिं हवामहे”—इत्यादयो मन्त्राः  
( वा० सं० २३. १८-३१. ), तैत्तिरीयब्राह्मणादौ ( ३. ८. ६, ७. )  
अन्यथा व्याख्याता अपीह अश्वोपचारीयत्वेन यज्ञपराः कृता  
अधियज्ञाश्चीलाश्चाव्यव्याख्यातभिरिति दिक् ॥

अथाप्येवं बहूनां मन्त्राणां मधिदैवतं मयि स्वीकृत्य, यास्कोक्तं  
मधिदैवतार्थं मुद्बुल्य च ‘यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति  
किम्’—इत्युदाहरणभूतेनेव तेन सायणाचार्येणानृतैतिहासिकपरतया  
व्याख्यानं मभाषि च यथा—

“इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढं मस्य पांसुरे”—इति ऋ० सं० १. २२. १७ ।

एषाष्टाक्षरपादा त्रिपदा इति गायत्री । यद्यप्यस्या द्वितीयः  
पादः सप्ताक्षरः, तथापि गायत्रीत्वमव्याहतम् । तथा ह्येतरे-  
यकम् — “न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न हाभ्याम्”—  
इति ( १. १. ६. ) । पिङ्गलाचार्येण तु एकाक्षरहीनाया  
‘निचृत्’—इति, द्व्यक्षरहीनायास्तु ‘विराट्’—इति विशेषनामोक्तम् ।  
तथाचेयं निचृद्गायत्रीति सम्पन्नम् । अनयर्चा विष्णुर्देवो वर्णित  
इत्येषा ‘वैष्णवी’ ।

विष्णुशब्दो द्युस्थानदेवतासु पठितः ( निघ० ५. ६. ११. )  
इति विष्णुः द्युविभागीयो देवः । गम्यते ऽचात्र मन्त्रे प्रवहन्नमिति  
स एष विष्णुरादित्यः; “यच्च किञ्चित् प्रवहन्नममादित्यकर्मैव तत्”  
—इत्युक्तेः ( निरु० ७. ३. ४. ) । सवित्रादिद्वादशसूर्यनामव्याख्यान-  
प्रकरणे पूषनामव्याख्यानानन्तरं व्याख्यातं विष्णुनामिति सोऽसौ  
पञ्चमः सूर्य एव । तन्नैरुक्तसूर्यद्वादशनामप्रकरणं समासतः प्रद-  
र्शितं पुरस्ताद् ( १५५ पृ० ) । “अथ यद् विशितो भवति, तद्

विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा”—इति च तन्निर्वचनम् ।  
 ( निरु० १२. २. ७. ) । “अथ ‘यद्’ यदा ( मध्याह्ने ) ‘विशितः’  
 व्याप्तोऽय मेव सूर्यो रश्मिभिः ‘भवति’, ‘तद्’ तदा ‘विष्णुर्भवति’,  
 ‘विशतेर्वा’ यदा ( मध्याह्ने ) आविष्टः प्रविष्टः सर्वतो रश्मिभिर्भवति,  
 ‘व्यश्नोतेर्वा’ विपूर्वस्याश्नोतेः ; यदा ( मध्याह्ने ) रश्मिभिरति-  
 शयेनायं व्याप्तो भवति, व्याप्नोति वा रश्मिभिरयं सर्वम् , तदा  
 विष्णुरादित्यो भवति”—इति तद्दीर्घा वृत्तिः । शिपिविष्ट इति चास्यैव  
 विष्णोर्नामान्तरम् । तदाह “किमित्ते”—इत्यस्य ( ऋ० सं० ७.  
 १००. ६. ) मन्त्रस्य व्याख्यानाय यास्कः —“शिपिविष्टो विष्णुरिति  
 विष्णोर्दे नामनी भवतः”—इति निरु० ५. २. २ । “शिपयोऽत्र  
 रश्मय उच्यन्ते , तैराविष्टो भवति”—इति तन्निर्वचनञ्च तत्र तदुत्त-  
 रम् ( ३. ) । तस्मात् विष्णुरिति सूर्यस्यैव नामान्तरं ध्रुवम् ।

अत एवायं मन्त्रो महामुनियस्केनैवं व्याख्यातः—“यत् ‘इदं’  
 किञ्च , तत् ( ‘विचक्रमे’ ) विक्रमते ‘विष्णुः’ । ( ‘त्रेधा’ ) त्रिधा  
 ( ‘निदधे’ ) निधत्ते ‘पदम्’ । पृथिव्या मन्तरिक्षे दिवीति शाक-  
 पूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयाशिरसीत्यौर्णवाभः ( ‘समू० हम्’ )  
 समूढम् ‘अस्य’ ( विष्णोः ) , ( ‘पांसुरे’ ) प्यायने , अन्तरिक्षे पदं  
 न दृश्यते”—इति ( निरु० १२. २. ८. ) । सोऽय मेक एव विष्णुः,  
 पृथिव्यां पाचक-दाहक-विद्रावक-जाठर-दाव-वाडव-गार्हपत्याहव-  
 नीय-दक्षिणेत्यादिबहुविधाग्निरूपेणावतिष्ठते, अन्तरिक्षे विद्युद्रूपेण  
 वाष्पाकारवायुरूपेण वा , दिवि सूर्यरूपेणेति । तत्रास्य पार्थिवं  
 रूपं सर्वाक्षिगोचरम् , द्युस्थं सौर मपि रूपं सर्वविदितम्, माध्य-  
 मिकं विद्युद्रूपं न हि स्थिरं दृश्यं मस्ति । अत एवोक्तम् “स्वपन  
 मेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनम्”— इति निरु० ५. १. ३ ।

अत्र च यास्कौक्तौ “प्र मातुः प्रतरं गुह्यम्”—इति ( ऋ० सं० १०. ७१. ३. ) विद्युद्विज्ञानमन्त्रः प्रमाणम् । वायुरूपञ्चादृश्यम् । तच्चाह “तयः केशिनः”—इति ( ऋ० सं० १. १६४. ४४. ) ज्योतिर्विज्ञान-मन्त्रव्याख्यायां यास्कः—“अग्निः पृथिवीं दहति सर्व मेकः, अभि-विपश्यति कर्मभिरादित्यः, गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य”—इति ( निरु० १२. ३. ८. ) । वैश्वानरव्याख्याया मेव मन्निविद्यु-दादित्यानां क्रमाद् पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थानत्व मध्येकात्मकत्व सुपपा-दितं द्रष्टव्यम् ( निरु० ७. ६. ७. ) ।

तदित्य मसावेव प्रत्यक्षः सूर्यः, त्रिलोकव्यापी ज्योतिःस्वरूपो विष्णुः, न चास्य माध्यमिकस्य रूपस्य दर्शन मस्तीति शाकपूणि-मते सम्पन्नं विष्णुविज्ञानम् ।

और्णवाभमते शब्दभेदेऽप्यर्थाभेद एव । तद्यथा यदुक्तं शाक-पूणिना दिवीति, तदेवोक्त मौर्णवाभेन समारोहण इति । तदत्र “एषांल्लोकानां रोहेण सवनानां रोह आन्नातो रोहात् प्रत्य-वरोहश्चिकीर्षितः”—इति ( ७. ६. ४. ) नैरुक्तं द्रष्टव्यम् । एवं विष्णुपदशब्दो “वियद् विष्णुपद मित्यमरकोषादितोऽन्तरिक्षवाची प्रसिद्ध एवेति किं तत्र प्रमाणान्वेषणप्रयासेनेति । अवशिष्टं गयशिरसीति पदम् । तच्चाद्ययोः पदार्थयोरुभयोरप्याचार्ययोरैक-मत्ये सम्पन्ने अन्तिमपदार्थे कथं स्यान्मतद्वैध मित्यविचारित मपि स्वीकार्यम्— पृथिव्यामिति गयशिरसीति चाभिन्नार्थे पदे । पठ्यते हि निघण्टौ गृहनामसु ‘गयः’—इति पदम् ( ३. ४. १. ) । एवञ्च समारोहणं सोपानम्, तच्चात्र सूर्यस्योदयस्थान मस्तमय-स्थानञ्चेत्येतद्गोलपार्श्वद्वयम् ; विष्णुपद मन्तरिक्षम्, तच्चेहाधःस्थं ग्राह्यम् ; गयशिरसि गृहाणां मूर्धप्रदेशे । तथा च सूर्यो मध्याह्ने

गयशिरस मागच्छन्, क्रमात् सायं समारोहण मधिरोहन्, रात्रौ विष्णुपदे तिष्ठन्, पुनरुदयात् प्राक् समारोहण मारोहतीति प्रतीयते स्फुट मौर्णवाभाशयः । तदत्र मन्त्रे सूर्यस्यैव गुणा वर्णिता इतीदं विष्णुविज्ञानं नाम सूर्यविज्ञान मेव ।

तैत्तिरीयसंहिताया मध्येष मन्त्र एव मेव सूर्यवाचिविष्णु-विज्ञानपरत्वेन व्याख्यातः । तद्यथा— “स विष्णुस्त्रेधाऽऽत्मानं विन्य-धत्त,— पृथिव्यां तृतीयम्, अन्तरिक्षे तृतीयम्, दिवि तृतीयम्”—इत्यादि ( २. ४. १२. ६. ) । बा०-रामायणेऽपि १. ३१. १८ —

“एकेन हि पदा कृत्स्नां पृथिवीं सो ( विष्णुः ) ऽध्यतिष्ठत ।

द्वितीयेनाव्ययं व्योम, द्यां तृतीयेन, राघव !”—इति ।

अहो पौराणिककालमाहात्म्यम् ! अहो यज्ञपरव्याख्यामात्रा-ध्ययनाध्यापनमाहात्म्यम् ! अहो बालानां कल्पिताख्यानप्रिय-तानुगत्यम् ! यदत्र सर्वब्राह्मण-निरुक्तादिक मालोचयतापि सर्व-वेदभाष्यकारेण सायणाचार्येण व्याख्यातोऽयं मन्त्रः— “विष्णु-स्त्रिविक्रमावतारधारी”—इत्यादिनेति । अथवा श्रूयत एवैतत्—

“ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्

यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

यस्तन्न वेद कि मृचा करिष्यति

य इत् तद् विदुस्त इमे समासते”

—इति ऋ० सं० १. १६४. ३८ ।

किञ्च ये वै सर्वशक्तिमतोऽपीश्वरस्य “परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे”—इति ( भ० गी० ४. ८. ) युगे-युगेऽवतरणं भवत्येवेत्यवतारकथायां विश्वसन्ति, विश्वसेयुश्च बाईबेल्कथितातिश्रान्तेश्वरविश्रामवास-

कथाया मपि, तादृशानां हि देवप्रियाणा मेतादृशेऽर्थे कास्ति चित्रतेत्यलं प्रासङ्गिकानल्पभाषणेनेति ॥

तदेवंविधाना मधिदैवतार्थयुक्तानां मन्त्राणा माध्यात्मिकार्थानाञ्च ब्रह्मनां प्रायशो याज्यानुवाक्याशस्त्रस्तोत्रादौ व्यवहारो भवति, केवलाधियज्ञार्थयुक्तानान्तु प्रायशः प्रैषादिकर्मव्यापारेष्विति विशेषः । येषान्तु मन्त्राणां ज्योतिष्टोमाद्यामुष्मिकादृष्टफलेषु न कथमप्युपयोगः, तादृशानां केषाञ्चिद् ऐहिकदृष्टफलकारीयाद्यागादौ विनियोगा भवन्ति । इतोऽन्येऽपि सन्ति ये मन्त्राः, ते ब्रह्मयज्ञपाठादौ विनियुज्यन्ते । एषा मेव केचिन्मन्त्रा औपनिषदा अपि भवन्तीति विवेकः ॥

अप्येषां मन्त्राणां यथा गद्यपद्यगीतिरचनाप्रकारभेदादस्ति ऋग्यजुस्सामेति त्रिधात्वम्, तथैवास्ति च मन्त्राधिगतक्रियापदनिबन्धनापि त्रिधात्वम् । तदाह यास्कः— “तास्त्रिविधा ऋचः,— परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च”—इत्यादि ( निरु० ७. १. १. ) । तथाच यास्वृक्षु प्रथमपुरुषक्रियाः श्रूयन्ते, ताः परोक्षकृताः ; यासु मध्यमपुरुषक्रियाः, ताः प्रत्यक्षकृताः ; यासूत्तमपुरुषक्रियाः, ता आध्यात्मिक्यः । इह श्रुतं ऋक्पदं मन्त्रपरम् ; यजुरादिष्वपि तथा दर्शनात् ।

ऋग्यजुस्सामलक्षणैस्त्रिविधैरेव मन्त्रैर्यज्ञः सम्पाद्यो भवति । तदुक्तं मापस्तम्बेन— “स ( यज्ञः ) त्रिभिर्वेदैर्विधीयते, ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदैः”—इति ( प० ३, ४ सू० ) । तत्र “ऋग्वेदयजुर्वेदाभ्यां दर्शपूर्णमासौ, यजुर्वेदेनाग्निहोत्रम्, सर्वैरग्निष्टोमः”—इति च ( प० ५, ६, ७. ) तत्सिद्धान्तः । अप्यग्निष्टोमादौ “ऋग्वेदेन होता करोति, सामवेदेनोद्गाता, यजुर्वेदेनाध्वर्युः सर्वैः



ब्रह्मा”—इति चोक्तं तत्र तेनैव ( १६, २०, २१, २२. ) । तदेवात्रा-  
सकृदाम्नातम्— “ऋचैव होत्र मकुर्वन्, यजुषाध्वर्यवम् साम्नो-  
ज्ञीयम् (औद्गात्रम्), यदेवैतत् त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्व मकु-  
र्वन्”—इति (पू. पू. ७, ८.) । होत्रादयश्चैते चत्वारश्चत्वारो व्रियन्ते ।  
तदाहाश्वलायनः— “तस्य त्विजः, चत्वारस्त्रिपुरुषाः, तस्य तस्यो-  
त्तरे त्रयः । होता मैत्रावरुणो ऽच्छावाको ग्रावस्तुद्, अध्वर्युः प्रति-  
प्रस्थाता नेष्टोन्नेता, ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंस्याग्नीध्रः पोता, उद्गाता  
प्रस्तोता प्रतिहर्त्ता सुब्रह्मण्य इति”—इति (श्रौ० सू० ४. १. ३-८.) ।

ततोऽत्र ऋग्वेदीयब्राह्मणे प्रधानतो होताच्छावाकमैत्रावरुण-  
ग्रावस्तुदित्येषां चतुर्णां होतृणां कर्माणि शंसनादीन्यभिहितानि,  
प्रसङ्गाद् ब्रह्मत्वादीन्यपि । इतोऽवशिष्टान्येतदारण्यकतोऽवगम्यानि ।  
ततोऽप्यवशिष्टानि त्वाश्वलायनसूत्रादितोऽवगन्तव्यानि भवन्ति ।  
नापि सर्वेषां मेवेष्टिहोत्रसोमाना मैकाहिकाहीनसत्राणां विधय  
इहैवैकत्र ब्राह्मणे समाम्नाताः; अपि केषाञ्चिदेवेति ॥ अथ यज्ञाङ्ग-  
क्रमादिवोधाय क्रतुसङ्ग्रहोक्ता अग्निष्टोमकारिकाश्चेहोद्भियन्ते—

“अथाग्निष्टोमसंस्थेन ज्योतिष्टोमेन यो यजेत् ।

स पूर्वं मृत्विजो ब्रूत्वा देवभूमिं विनिश्चयेत् ।

दीक्षणीयां निर्वपेत् सोऽपि पत्नीसंयाजसंस्थितिम् ।

कृते प्राचीनवंशेऽथ संस्कारा वपनादयः ।

ब्रूत्वा दीक्षाहुतीः, कार्या दीक्षा कृष्णाजिनादिभिः ।

दीक्षितो नियमैर्युक्तो भवेत् क्षीरव्रतादिभिः ।

द्वादशाहं दीक्षितोऽथ भिक्षित्वा द्रव्य मानयेत् ।

सोमं चर्मण्यवस्थाप्य विवसेत् सोमविक्रयी ।

शंयुक्ता प्रायणीया स्याद्, गृह्णीयात् क्रयणीपदम् ।

क्रीत्वा सोमं रथे क्षिप्त्वा प्राग्वंशाग्रे समानयेत् ।  
 आतिथ्यां निर्वपेत् सोम मासन्ध्या मुपसादयेत् ।  
 आतिथ्येष्टिरिडान्ता स्यात्, तानूतम् भवद्यति ।  
 दीक्षा भवान्तरा मेति, प्रवर्ग्योपसदोः कृतिः ।  
 दिनत्रये तत् कृतं स्यात्, वेदिर्मध्यदिने भवेत् ।  
 षट्त्रिंशत्पददीर्घेषा प्राग्वंशात् पूर्वतः स्थिता ॥

प्रातः प्रवर्ग्य मुदास्य, पश्चादुत्तरवेदितः ।  
 शकटे द्वे हविर्द्वानि, हविर्द्वानं च मण्डपम् ।  
 पश्चात्सदस्तस्य मध्ये निखातीडुम्बरी मिता ।  
 दक्षिणस्थानसोऽधस्ताद् गत्तानुपरवान् खनेत् ।  
 विधाय फलकाभ्यां तानग्रे कुर्यान्मृदा खरम् ।  
 निर्वपेद्विष्णुगान्गीषोमीयं पशु माचरेत् ।  
 प्रयुज्याचितपात्राणि दर्शवत् सर्व माचरेत् ।  
 आज्य आसादिते वेद्या मन्ते यूपं समुच्छयेत् ।  
 यूपस्योच्छ्रयणादूर्ध्वं समापय्य पशुं ततः ।  
 वैसर्जनानि हुत्वाग्निं सोमं ग्रावादि चानयेत् ।  
 हविर्द्वानि स्थापयित्वा गृह्णीयाद्वसतीवरीः ।  
 प्रयुज्जग्रात् सोमपात्राणि महारात्रे खरादिषु ।  
 ग्रावसु स्थापिते सोमे पक्षिणां ध्वनितः पुरा ।  
 स्यात् प्रातरनुवाकार्य मुपाकरण मादरात् ॥

वसतीवर्यपां प्राप्तौ प्रचारः स्याद् दधिग्रहे ।  
 उपांश्चदाभ्यौ हुत्वा च महाभिषव माचरेत् ।  
 उपांशु मन्तर्यामं च हुत्वा रिक्तं तु सादयेत् ॥

अथैन्द्रवायवं पात्रैर्गृहीत्वा सादयेत् खरे ।  
 यो मैत्रावरुणस्तं तु श्रीणाति पयसा ग्रहम् ।  
 शुक्रः शृतो हिरण्येन, शृतो मन्यौ तु सक्तुभिः ।  
 गृहीत्वाग्रयणं गृह्णात्यतिग्राह्याभिधान् ग्रहान् ।  
 गृहीत्वौक्थ्यं ध्रुवो ग्राह्यः पवमानग्रहास्त्रयः ।  
 पूतभृद् द्रोणकलशो ऽपरश्चाधवनीयकः ।  
 ते बहिष्पवमानाय प्रचरन्त्यत्र पञ्च ते ।  
 गृहीत्वाश्विन मानेयं पशोः कुर्यादुपाकृतिम् ।  
 सवनीयपुरोडाशैश्चरित्वा ह्यैन्द्रवायवम् ।  
 हुत्वा ग्रहं, द्वयोर्मैत्रावरुणाश्विनयोर्हुती ।  
 शुक्रमन्यग्रादिकान् हुत्वा चमसानपि जुह्वति ।  
 संरक्ष्यर्त्तुग्रहैन्द्राग्नसोमप्रतिगरांस्ततः ।  
 आज्यस्तोत्रेभ्य ऊर्ध्वं हि प्रातस्सवनसंस्थितिः ॥  
 माध्यन्दिने तु सवने पुरोडाशः पशोर्भवेत् ।  
 ग्रहो मरुत्वतीयः स्यात् पवमानेन संस्तुतिः ।  
 दधिघर्मे हुते दद्यात् दक्षिणास्ते यथायथम् ।  
 मरुत्वतीयांस्तान् हुत्वा माहेन्द्रेण समाप्यते ॥  
 तृतीयसवनारम्भ आदित्यग्रह माचरेत् ।  
 आर्भवेण सुवीताथ पञ्चङ्गैः प्रचरत्ययम् ।  
 सावित्रवैश्वदेवाख्यौ ग्रहौ, सौम्यचरुस्तथा ।  
 पात्नीवतग्रहादूर्ध्वं यज्ञायज्ञीयसंस्तवः ।  
 आग्निमारुतशस्त्रं स्याद् गृह्णीयाद्धारियोजनम् ।  
 समाप्ते सवने पश्चात् कुर्यादवभृथं ततः ।  
 कुर्यादुदयनेष्टि मनुबन्ध्यां यजेत गाम् ।

देविका निर्वपेद् देवसुवासापि यजूंष्य ।

उपोष्य वेदि मानेय मिष्टाग्निष्टोमसंस्थितिः ॥”-इति ।

एव मेव देवस्वाम्यादिकृताग्निष्टोमपद्धत्यादौ सायणाचार्यकृत-  
यज्ञतन्त्रसुधानिध्यादौ च पर्यालोच्यम् ; अच्छावाकीयप्रयोगादिषु च  
बह्वालोच्य मस्ति ; मत्सम्पादिते मट्टीकिते चैतरेयब्राह्मणपरिशेषे  
वालखिल्यप्रयोगस्य दर्शनेन होतृप्रयोगरीतिश्च विज्ञातव्या ; बौधा-  
यनसूत्रादिभ्यश्चाध्वर्यवादिप्रयोगज्ञानं च सुसम्पाद्य मिति ॥

एतर्हि ऋग्वेदस्य हे एव ब्राह्मणे लभ्येते,— इदं मैतरेयक  
मेकं मपरस्तु कौषीतकं नामेति । तत्र कौषीतके प्रथमं मेव  
दर्शपूर्णमासेष्टिरारब्धा ; ततोऽग्निहोत्रादिकं प्रकीर्णकञ्च किञ्चिद्  
विधायैव क्रमेण वैमृधेष्टिः , स्वस्त्ययनेष्टिः , पथिकृदिष्टिः , दाक्षा-  
यणेष्टिः , इळादधेष्टिः , सार्वसेनीष्टिः , शौनकेष्टिः , वसिष्ठेष्टिः,  
शाकेष्टिः , मुन्ययनेष्टिः , तुरायणेष्टिः , आग्रयणेष्टिः , वसन्तेष्टिः ,  
ब्रीहियवेष्टिः , चातुर्मासेष्टयश्चतस्रः , पित्रेष्टिश्चेति दर्शपूर्ण-  
मासाभ्यां सङ्कलनया एकविंशतिर्यागा आम्नाताः । ततः पुनरपि  
किञ्चिदानुषङ्गिकं प्रोच्य दीक्षणीयेष्टिं विधायान्निष्टोमकाण्डस्य प्रव-  
चनारम्भः कृतः । ततः “सोमेनेष्टा सौत्रामण्या यजेत”-इत्यादि  
विधाय षोडश्यादिज्योतिष्टोमसंस्थादीनां मपि विधानं मान्नातम् ।  
तदस्मिन् ब्राह्मणे ऐतरेयानाम्नातानां मप्यनेकयागानां शस्त्रयाज्या-  
विध्यादिकं दृश्यते, दृश्यते चैतरेयोक्तानां मप्यनेकप्रयोगानां समा-  
सत उल्लेखः । तदेतयोरङ्गाङ्गिभाव एवोपगन्तुं युज्यते ॥

अथात्रैतरेयके प्राचीनब्राह्मणकार्षीणां क्वचित्-क्वचिन्नामो-  
द्धृतिः, क्वचित्-क्वचिद्वचनोद्धृतिः, क्वचित्-क्वचित् सनामवचनोद्धृतिश्च  
दृश्यते । तद्यथा— “पूर्वां पौर्णमासीं सुपवसेदिति पैङ्गम् ,

उत्तरा मिति कौषीतकम्”—इति ७, २, १० । श्रूयते चैतत् कौषीतक्यास्तृतीयेऽध्याये । तत्र हि स्वपूर्वतनस्य पैङ्गास्य मत-विमर्दनाय तथा स्वनामान्वितं कृतं तद्विधानं कुषीतकेन, तदेव मत-द्वयं यथायथ मिहोद्धृतमित्येव प्रतिभात्यस्माकम् । एवञ्च प्रथमन्ता-वत् पैङ्गादिब्राह्मणग्रन्थेष्वेव ज्योतिष्टोमसंस्थाग्निष्टोमादयो यागा विहिताः, तद्विधिशेषास्ततः कुषीतकादिभिः प्रोक्ताः, तच्छेष-विधयोप्येतस्यैतरेयस्य विषया इति सिद्धम् ॥

( ८ )

अथ क्रमप्राप्तमिदानीमिदमपि विचार्यमस्ति, किमु प्रयोजनमेतस्येति । सम्प्रति लोके मोक्षस्यैकस्य परमपुरुषार्थत्वेन स्वीकारात्, तदवाप्तिरेवास्य फलं मन्येत, यदि नाम वेदे तस्य स्वीकृतिः श्रूयेत ? न हि संहितासु कापि तादृशशब्दोऽपि श्रूयते ; अपुनरावृत्तिमतन्तु ब्राह्मणेषु गम्यते सत्यम्, परं न तत् पौराणिक-मोक्षपरमिति च नासत्यम् । अस्ति पुराणेषु क्वचित् चतुर्विधस्य क्वचित् पञ्चविधस्य च मोक्षस्योल्लेखः । तद्यथा भागवते—

“सार्ष्टिसारूप्यसालोक्यसामीप्यैकत्वमप्युत ।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः”—इति ।

अस्मिन् श्लोके सार्ष्टीति बौद्धशास्त्रप्रसिद्धं निर्वाणम् । तत्तु नित्यस्यात्मनो नैव सम्भाव्यमस्ति, न च सुखाभिलाषिणा मस्माकं प्रार्थनायोग्यम्, नापि वेदबोधितमित्यश्रद्धेयम् । एकत्वमपि तथैव । सर्वव्यापिनोऽस्य परमेश्वरस्य सर्वलोके सर्वसमीपे च



सर्वदा विद्यमानत्वात् सालोक्य-सामीप्ये त्वप्रार्थिते अपि स्त एव सर्वत्र सर्वेषा मस्माक मिति किं तयोः प्रार्थनया । सारूप्यवादस्तू-  
न्यत्तप्रलापः ; ब्रह्मणो रूपाभावात् , असङ्ख्यत्वप्रसङ्गाच्चेति ।  
एवं निरुक्तपरिशिष्टशेषे च यदुक्तं “सारिष्टम्”—इत्यादि , तन्नूनं  
महाभाष्यतोऽप्यर्वाचीन मिति सिद्धान्तित मेव निरुक्तालोचनस्य  
षष्ठे । तत्त्वतस्त्वेतस्य ब्राह्मणस्य स्वर्गसाधनयागविध्युपदेशा एवाभिधेया  
इत्यतः स्वर्ग एव प्रयोजन मिति ब्रूमः ; अस्माकं स्वर्गफलसाधना-  
यैवैतद् ब्राह्मणं प्रवृत्त मिति यावत् । तदाह जैमिनिः— “स स्वर्गः  
स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् , प्रत्ययाच्च”—इति ४. ३. १५, १६ ।

सोऽसौ स्वर्गः खलु लोकान्तरः । तथाहि— “परो वा अस्मा-  
ल्लोकात् स्वर्गो लोकः”—इति ( ६. ४. ४. ) , आदित्याश्चैवेहा-  
सन्नद्भिरसञ्च तेऽग्रेऽग्निनाग्नि मयजन्त, ते स्वर्गं लोक मायन्”—  
इति ( १. ३. ५. ) , “तं स्वयन्तोऽब्रुवन् एतत् ते ब्राह्मण !  
सहस्र मिति”—इति ( ५. २. ८. ) च । स हि लोकान्तरोऽस्मा-  
ल्लोकादूर्ध्वतनः । तथाचान्नातम्— “अग्नेर्देवयोन्या आहुतिभ्यः  
सम्भूयं हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गलोक मेष्यति”—इति ( २. १. ३ ,  
पुनः २. २. ४. ) । तत्र पापी गन्तुं न शक्यते । तच्चाह—  
“सोऽपहतपाप्मोर्ध्वः स्वर्गं लोक मेति”—इति ( ७. २. ११. ) ।  
अत एवेद मप्यान्नातम् ( ४. ३. ६. )— “स्वर्गो वै लोको  
दूरोहणम्”—इति ।

परलोकस्वीकाराभावे निन्दाश्रवणञ्च गम्यते । तद्यथा— “किं  
ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः”—इति ( ऋ० सं० ३. ५३. १४. )  
मन्त्रस्य व्याख्यानं ‘प्रमगन्द’-पदस्य “प्रमदको वा योऽय मेवास्ति न  
पर इति प्रेषुः”—इत्याह यास्कः ( ६. ६. ४. ) ।

अथात्र विशेषतो विवेच्य मिदम्—भूर्भुवस्स्वरिति य इमे त्रयो लोकाः सर्ववेदप्रसिद्धाः, तेभ्यः सर्वेभ्य एवैभ्यः परोऽतिरिक्तः कश्चिदस्ति स्वर्गो लोकः, आहोस्वित् एषा मन्यतम एकः, उत सर्व एवेमे स्वर्गा इति ?

तत्रादौ भूरादय एवैते यथाबोधं निरूप्यन्ते । श्रूयते हि शतपथे—“भूरिति वै प्रजापति रिमा मजनयत, भुवरित्यन्तरिक्षम्, स्वरिति दिवम्; एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे लोकाः सर्वेणैवाधीयते”—इति (२. १. ४. ११.) । एवमादिश्रुतिभ्योऽवगम्यते इयं पृथिव्येव भूलोकः, असौ द्युलोक एव स्वर्लोकः, एतयोर्लोकयोरन्तरा चान्तं यदाकाशम्, तदन्तरिक्ष मिति । तत्रास्मिन् पृथिवीलोके पार्थिवस्याग्नेः प्राधान्यम्, अमुष्मिन् द्युलोके सूर्यस्य; अन्तर्लोके त्वस्य वायोरिति । अत एव प्रदर्शितं पुरस्तात् “तिस्र एव देवताः”—इत्यादि (१५० पृ०) । द्यावापृथिवीत्युक्ते द्युलोकमारभ्येतल्लोकान्तं सर्वं मेवेदं सौरं जगद् गृह्यते । अत एवाज्ज्ञात मैतरेये—“अग्निर्वै देवाना मवमो विष्णुः (सूर्यः) परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः”—इत्यादि (१. १. १.) । आभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां बहिरपि अनन्ताकाश मस्ति, तत्रैतत्सौरजगन्मण्डलमण्डनरूपाकाशे सौरजगदन्तरागामी प्रवहो नामैष वायुर्न प्रवहति । एव माभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां बहिरस्ति च द्युलोकस्य विद्यमानता; तत्रैतत्सौरजगन्मण्डलमण्डनस्यास्य सूर्यस्याधिकारो न ह्येव विद्यते; प्रवहवायुहीनाकाशं तीर्त्वा सौररश्मिजालस्यैतस्य तत्र गमनानुपपत्तेः । सन्ति हि तत्रैवं बहूनि सौरजगन्मण्डलानि, स्युर्वान्यविधान्यपि बहूनि । तान्येव ध्रुवारुन्धतीसप्तर्षिमण्डलादीनि ज्योतींषि नक्षत्राण्युच्यन्ते । ज्योतीरूपाणा मध्येषा

मादित्यतोऽप्यतिदूरस्थत्वेनैवाहनि सूर्यरश्मिभिर्भूतत्वात् न दर्शनमस्ति । तदुक्तं निरुक्ते— “आदत्ते भासं ज्योतिषाम्”—इति (२. ४. १.) । एवञ्चान्तरिक्षशब्दस्याकाशपर्यायत्वे स्वीकृतेऽपि ‘भुवरित्यन्तरिक्षम्’ ( शत० ब्रा० २. १. ४. ११. )—इत्येवमादौ, “वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः ( निरु० ७. २. १. )”—इत्यादौ च एतज्जगत्सम्बन्धेवान्तरिक्षं बोध्यम् । एवं “स्वरिति दिवः ( शत० ब्रा० २. १. ४. ११. )”—इत्येव मादौ, “सूर्यो द्युस्थानः”—इत्यादौ ( निरु० ७. २. १. ) च एतज्जगत्सम्बन्धेव द्यौर्बोध्येति । तदेतेन लोकत्रयस्वरूपनिर्णयेनैव निश्चीतं स्वरिति ।

स्वरिति पदं स्वर्गाभिधानं प्रसिद्धम् ; सूर्यपर्यायश्च स एव स्वःशब्दः । अत एव निघण्टौ स्वरिति पदं सूर्यद्युलोकयोः साधारणनामसु पठितम् ( निघ० १. ४. १. ), निरुक्तावपि तथैव व्याख्यातम्— “स्वरादित्यो भवति ; सु अरणः, सु ईरणः, स्मृतो भासं ज्योतिषां, स्मृतो भासेति वा”—इति ( २. ४. २. ) । अत्रापरञ्च श्रूयते— “स्वर्गो वै लोको ब्रध्नस्य विष्टपं, स्वर्गमेव तल्लोकं यजमानं गमयति”—इति ( ४. १. ४. ) । तद् ब्रध्नस्य विष्टपमपि सूर्यलोक एव । तथा छृङ्मन्त्र एषः ८. ६६. ७—

“उद्यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृह मिन्द्रश्च गन्वहि ।

मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे”—इति ।

द्युलोक एव देवलोकः ; देवानां रश्मीनां प्रधानतस्तत्र निकेतनात् । अत एव निघण्टौ द्युस्थानदेवतासु ‘देवाः’—इति पदं पठितम्— ( ५. ६. २६. ), व्याख्यातमपि तथा तन्निगमप्रदर्शनादिभिर्यास्केन । तदेवं द्युलोको देवलोको स्वर्लोक इमान्यभिन्नार्थानि पदानि । तदिदं मय्याम्नातमुभयविधेऽपि यजुःसामान्नाये—

“पृथिव्या अह मुदन्तरि च मारुह मन्तरिक्षाद् दिव मारुहम् ।

दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ग्योतिरगा महम् ॥

स्वर्गन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।

यज्ञं ये विश्वतो धारं सुविद्वांसो वितेनिरे”

—इति वा० सं० १७. ६७, ६८ ; तै० सं० ४. ६. ५. ३, ४ ।

विनियुक्तावेतौ मन्त्रौ शतपथब्राह्मणकारेण (८. २. ३. २६, २७.),  
व्याख्यातौ च तैत्तिरीयसांहितिकब्राह्मणेऽपि ( ५. ४. ७. ) ।

सोऽसौ द्युलोक एव प्रकृतः परलोकः । अतएवैव माम्नातं शत-  
पथे—“तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदञ्च परलोक-  
स्थानञ्च, सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्, तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नुभे  
स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च”—इति १४. ७. १. ८ ।

परमलोकोऽप्यसावेव । तथाहि—“स परमं लोकं मज-  
यदुपाश्विनोः प्रियं धाम गच्छति”—इति ( ऐ० ब्रा० १. ४. ४. ) ।  
अश्विनोः प्रियं धाम नूनं द्युलोक एव ; तयोर्द्युस्थेषु परिगणनात्  
( निघ० ५. ६. १. ), “अथातो द्युस्थाना देवतास्तासां मश्विनौ  
प्रथमागामिनौ भवतः”—इत्यादिनैरुक्ताच्च ( १२. १. १. ) ।

अमृतलोकोऽप्यसावेव । तथा ह्याथर्वणिकाः समामनन्ति—

“सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके”— इति ८. १. १ ।

ब्रह्मलोकोऽप्यसावेव । अत एवोक्तं निरुक्तपरिशिष्टे जीवानां  
मूर्ध्वगतिव्याख्याने—“देवलोकात् आदित्यम्, आदित्याद् वैद्यु-  
तम्, वैद्युतान्मानसम्, मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकं सभि-  
सम्भवति”— इति ( निरु० १४. ८. ) । शतपथेऽपि श्रूयत एतत्  
प्राय एव मेव ( १४. ८. १. १८. ) । अत्र वैद्युतशब्दो ज्योतिः-  
परः । तथा च देवलोकं द्युस्थानं सूर्यमण्डलं वा अभिगम्य आदि-

त्यम् आप्नुवन्ति, त मभिगम्य च तदीयज्योतिरुपलभ्य मनोमात्र-  
सहायाः पुरुषास्त मेव ब्रह्मलोक मनुभवन्तीति तदर्थः । अत एव  
सुव्यक्त मान्नात मिहापि— “ओ मिति स्वर्गो लोक मित्यसौ  
योऽसौ तपति ( ५. ५. ७. )”—इति ।

तदित्य मिदं निष्पन्नम्— स्वर्गो लोकः खलु नैभ्यो लोक-  
त्रयेभ्योऽतिरिक्तः , अपि त्वस्माद् भूलोकात् पर इत्येव । अत  
एव श्रूयते— “त्रयो वाव लोकाः ,— मनुष्यलोकः , पितृलोको  
देवलोक इति”—इत्यादि शत० ब्रा० १४. ४. ३. ११ । अत्र  
त्रयो वाव लोका इति श्रूयते ह्येवावधारणम् । एव मन्यच्चात्र—  
“पृथिवीलोक मेव पुरोऽनुवाक्यया जयति , अन्तरिक्षलोकं  
याज्यया, द्यौर्लोकं शस्यया”— इति श० ब्रा० ६. १. ६ । अन्यत्र  
च — “दक्षिणत उपसृजति , पितृलोक मेव तेन जयति ; प्राची  
मावर्त्तयति, देवलोक मेव तेन जयति ; उदीची मावृत्त दोग्धि  
मनुष्यलोक मेव तेन जयति”—इति तै० ब्रा २. १. ८. १ ।

यश्चासु श्रुतिषूपात्तः श्रूयते पितृलोकः, स त्वन्तरिक्षलोकस्यो-  
पलक्षकः ; अन्तरिक्षस्य एव हि पितृलोकः ; पितृलोकमात्र-  
च्चात्रास्मन्नल्लक्ष्यस्थानं न सर्वं मेवान्तरिक्ष मिति । तदप्यामनन्त्या-  
थर्वणिकाः स्वसंहितायाम् ( १८. ४. ७३. )— “अभिप्रेहि मध्यतो  
माप हास्याः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र”—इति ।

अपरञ्चान्यत्रान्नातम्— “अध इव हि पितृलोकः”—इति (श०  
ब्रा० १४. ६. १. १०) । द्युलोकस्याधस्तात् पितृलोक इत्येव तद्भा-  
वः । पुण्यलोकशब्देनाप्यन्तरिक्षस्य पितृलोकस्य ग्रहणं गम्यते ।  
तद्यथा— “तस्मादाहुः पुण्यलोक इयान् इति”—इति श० ब्रा० ३.  
६. २, १५ । ताण्ड्यमहाब्राह्मणेऽपि (१२, ११, १२.) द्रष्टव्य मिदम् ।



“कर्मणा पितृलोकः”—इति (श० ब्रा० १४. ४. ३. २४.) श्रुतेस्तत्रैव हि पुण्यात्मनां गमनं भवतीति पितृलोक एव स्यात् पुण्यलोकः । श्रूयते हि क्वान्दोग्यब्राह्मणे— “त्रयो धर्मस्कन्धाः,— यज्ञोऽध्ययनं दानं मिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासः तृतीयः । ०—० । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति; ब्रह्मसंस्थो ऽमृतत्व मेति”—इति ( ४. २३. १. ) । तदेतत्त्रिविधपुण्यानुष्ठातॄणां पुण्यलोकापरपर्याये पितृलोके स्थानं भवति, ये तु ब्रह्मज्ञास्ते त्वमृतत्वलाभाय पूर्वनिर्दिष्ट ममृतलोकं यान्तीति तदभिप्रायः ।

सोऽन्तरिक्षस्थः पितृलोको नूनं सोमलोकः, स एव चन्द्रलोकः । तथाहि— “स सोमलोकं, सोमलोके विभूतिं मनुभूय पुनरावर्त्तते”—इति प्र० उ० ५. ४ । यः सोमः, स एव चन्द्रमाः । तथाहि अथ० सं० ११. ६. ७—

“सोमो मा देवो मुञ्चतु य माहुश्चन्द्रमा इति”—इति ।

अपि शतपथे—“पितृलोकाज्जीवलोकं मभ्यायन्ति ; अथोऽग्निः पथोऽतिवोढा, स एतानतिवहति”—इति ( १३. ८. ४. ६. ) । तदेवं पितृलोकात्सोमलोकाच्चोभयतः पुनरावर्त्तनश्रुतिसाम्यात् उभयोरभिन्नत्वं सुव्यक्तम् । अथवा चन्द्रलोकात् किञ्चिदुच्चैः स्थितः पितृलोकः ; तत एव “अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वा-च्योपासीदंस्तानब्रवीत्,— मासि मासि वोऽश्ननं स्वधा वो मनोजवो नश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति”—इति ( २. ४. २. २. ) शतपथश्रुतिः । अत एव चन्द्रमसः कृष्णशुक्लपक्षावेव पितॄणा महोरात्राविति सिद्धान्तितम् । तथाह्याम्नातं शतपथे— “यदैवैषः ( चन्द्रः ) न पुरस्तान्न पश्चाद् ददृशेऽथैभ्यो ( पितॄभ्यः ) ददाति ; स वा अपराह्णे ददाति । पूर्वाह्णे वै देवानां मध्यन्दिनो मनु-

धाणा मपराहः पितृणाम्, तस्मादपराह्णे ददाति”—इत्यादि  
( श० ब्रा० २. ४. २. ७. ) । मनुसंहितायाञ्च ( १. ६. ३. )—

“पित्रे रात्रग्रहणी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।

कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी”—इति ।

“मानेनानेन यो मासः पक्षद्वयसमन्वितः ।

पितृणां तदहोरात्र मिति कालविदो विदुः ॥

कृष्णपक्षस्वहस्तेषां शुक्लपक्षस्तु शर्वरी ।

कृष्णपक्षे त्वहःश्राद्धं पितृणां वर्तते नृप !”—इति च ह० वं० द ।

ज्योतिःशास्त्रेऽप्युक्तं मेव मेव । तथा च सि० शि०—

“विधूर्द्धभागे पितरो वसन्तः स्वाधः सुधानिधि मामनन्ति ।

पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोद्धे” दर्शे यतोऽस्माद् द्युदलं तदैषाम् ।

भाद्वान्तरत्वान्न विधोरधःस्थं तस्मान्निशीथः खलु पौर्णमास्याम् ।

कृष्णे रविः पक्षदलेऽभ्युदेति शुक्लेऽस्त मेत्यर्थत एव सिद्धम्”—इति ॥

चन्द्रलोक एव पितृलोक इति पक्षे त्वत्र विधूर्द्धभागे इति  
विधुपृष्ठे बोध्यम् ; यथा वयं भूर्द्धभागे = भूपृष्ठे वसामः, न तु  
खनिजहिरण्यादिवद् भूगर्भे इत्यभिप्रायः ।

नन्वेव मनतिप्राचीनपुराणेतिहासज्योतिषादीन्यनार्पशास्त्राण्यपि  
किम्प्रमाणानि ? वेदाविरुद्धानि तान्यपि स्वतीषकराणि चेत् स्युः  
प्रमाणानीत्येवात्र ब्रूमः । अत एवोक्तं मनुना ( २. १२. )— “स्वस्य  
च प्रिय मात्मनः”—इति, मीमांसाधिकरणमालायाञ्च “तेन ह्यन्त-  
रिते तेषां प्रामाण्यं विप्रकृच्छतः”—इत्येवोक्तम् । एव मपि यत् श्रूयते  
ऽन्यत्र “पितृलोकाच्चन्द्रम्”—इति ( श० ब्रा० १४. ६. १. १०. ),  
पितृलोकचन्द्रलोकयोरेकत्वपक्षे तदेतत् कथं सङ्गच्छते ? इति,  
अत्र ब्रूमः— ‘पितृलोकात्’ पितृलोक मन्तरिक्षं चन्द्रमण्डलं वा

अभिगम्य 'चन्द्रम्' आप्रवन्तीति तदर्थः; अन्यथा २१० पृ०-प्रद-  
र्शिताथर्वणिकप्रश्नश्रुतिविरोधः स्यादनिवार्य एवेति । तस्मादेत-  
स्माच्चोपपद्यतेऽस्य चन्द्रलोकोर्ध्वपृष्ठस्थपितृलोकस्यान्तरिक्षस्थत्वेनान्त-  
रिक्षवाचितापीति ।

अस्ति चास्यान्तरिक्षवाचित्वेऽपरमपि प्रमाणम् । तदेतत्—  
“पिता दुहितुर्गर्भं माधात् ( ऋ० सं० १. १६४. ३३. )”—इति-  
मन्त्रांशव्याख्यानकाले यास्काचार्य आह— “पिता दुहितुर्गर्भं  
दधाति, पर्जन्यः पृथिव्याः”—इति ( निरु० ४. ३. ५. ) । पर्जन्य-  
शब्दनिरुक्तिश्चैवं कृता— “पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य, तर्पयिता  
जन्यः; परो जेता वा; जनयिता वा, प्रार्जयिता वा रसाना मिति”—  
इति (१०. १. १०), वृद्ध्या इति तच्छेषः । तद्रसार्जनन्तु भवति  
रश्मिभिः । तथाचान्नातं वृष्टिविज्ञानसूक्ते ऋ० सं० १. १६४. ४७—

“कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आ ववृत्रन्तसदनादृतस्य आदिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते”—इति ।

“कृष्णं” ( ‘नियानं’ ) निरयणं, रात्रिः । आदित्यस्य  
‘हरयः सुपर्णाः’ आदित्यरश्मयः । ‘ते’ यदा ( ‘आ ववृत्रन्’ )  
अमुतोऽर्वाच्चः पर्यावर्तन्ते ( ‘सदनात्’ ) सहस्थानात् ( ‘ऋतस्य’ )  
उदकस्य ‘आदित्’ अनन्तरमेव ‘घृतेन’ उदकेन ‘पृथिवी व्युद्यते’ ।

“घृतमित्युदकनाम; जिघत्तेः सिञ्चतिकर्मणः”—इति (७. ७. १.)

चास्य यास्ककृतं व्याख्यानम् । ब्राह्मणेऽप्येवमेव । तद्यथा—

“अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति धामच्छद् दिवि भूत्वा वर्षति,  
मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति यदासावादित्योऽग्निं रश्मिभिः पर्या-  
वर्ततेऽथ वर्षति”—इति ( निरु० ७. ७. १. ) । मन्त्रे ‘दिवम्’  
द्युलोकं प्रति ‘उत्पतन्ति’ उड्डीना भवन्ति, तावद्दूरगमनात् पूर्वं मेव

‘ऋतस्य सदनात्’ मेघनिर्म्माणायाहृतजलसञ्चयप्रदेशात् अन्तरि-  
क्षात्, तं लोकं प्राप्यैवेति यावत् । ब्राह्मणे त्विह द्युशब्द उर्ध्वो-  
पलक्षकः । तथाच ‘दिवि भूत्वा वर्षति’ ऊर्ध्वं, आकृष्टो भूत्वा वर्ष-  
तीति तदर्थः । अथवा इहापि पूर्ववद्वाक्येयः ‘दिवि भूत्वा’ द्युलो-  
कमपत्याकृष्टः सन्निति यावत् । तदेवं पितृवाचकपर्जन्यस्यान्त-  
रिक्षस्थत्वात् सर्वस्यैवान्तरिक्षस्य पितृलोकत्वम् ।

सोऽयमन्तरिक्षलोको द्युलोकादधस्थोऽप्येतस्मान्मनुष्यलोकादूर्ध्व-  
स्थस्ततो मध्यलोक एव । एतच्चान्नायते— “अन्तरिक्षलोक उ  
अस्मात्लोकादनन्तर्हितः”—इति ( श० ब्रा० ७. १. २. २३. ) ।

यस्मिंश्च लोके प्रतिष्ठितः पितृलोकः, सोऽन्तरिक्षलोक एवेन्द्र-  
लोकः; तत्रैव मेघदारकवायोरिन्द्रस्य संस्थितेः । तच्छ्रुतम्—“इन्द्र-  
लोको हैषः”—इति ( श० ब्रा० ८. ५. ३. ८. ) ।

वायुलोकोऽपि स एव ; वायोरन्तरिक्षचारित्वं तु लोकेषु प्रसि-  
द्धम्, “वायुरन्तरिक्षस्थः”—इत्यादिनैरुक्तादिभ्यश्चावगम्यते, श्रूयते  
चैवं साङ्ख्यानब्राह्मणेऽपि ( २०. १. ) ।

एतदेवान्तरिक्षं सन्ध्यं मिति स्वप्नस्थान मिति च श्रुतम्—  
“तस्य वा एतस्य पुरुषस्य हे एव स्थाने भवत इदं च परलोक-  
स्थानञ्च, सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्, तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठ-  
न्नुभे स्थाने पश्यतीदञ्च परलोकस्थानञ्च”—इति श० ब्रा० १४.  
७. १. ८ । एवञ्च जीवलोकादस्मात् प्रेतानां परलोकजिगमिषूणा  
मिहान्तरिक्षलोके किञ्चित्कालं स्वप्नावस्थानं सूचितम् ; यैस्तु पितृ-  
लोक आगत्य, तेषां मिह स्वप्नावस्थानं न भवतीति च ॥

अथास्य भूलोकस्य त्वित्व मप्यवगम्यते मन्त्रवर्णात् । तद्यथा  
ऋ० सं ७. १०४. ११—

“परः सो अस्तु तन्वाश्तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।  
 प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्ससि यश्च नक्तम्”  
 -इति । ‘यः’ ‘नः’ अस्मभ्यं ‘दिवा’ दिनं ‘दिप्सति’ करोति, ‘यः’  
 ‘नक्तं च’ दिप्सति ; ‘सः’ सूर्यो देवः , ‘तन्वा’ स्वशरीरेण, ‘परः’  
 द्युस्थः ‘अस्तु’ अस्ति, ‘च’ अपि ‘तना’ स्वप्रभाविस्तृत्या ‘अधः’  
 स्थिताः ‘तिस्रः पृथिवीः’, ता एव ‘विश्वाः’ सर्वा भूलोकाः आकृष्य  
 ‘अस्तु’ अस्ति । ‘अस्य’ देवस्य ‘यशः’ कीर्तिं ‘देवाः’ तद्रश्मय एव  
 ‘प्रति शुष्यतु’ प्रतिक्षणं शोषयन्ति, तद्रश्मिभिरेवेदं सर्वं सम्पद्यत  
 इति तद्यशस्तं एव हरन्तीति भावः ।

सूर्याधःस्थितास्ताश्चेमा पृथिव्यो नूनं क्रमादधोधःस्थिताः बुध-  
 शुक्रराहवः । तत्रेयं पृथिव्येव राहुरुच्यते । अत एतदान्नात मृक-  
 संहितायाम् ५. ४०. ६— यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।

अत्रयस्त मन्वविन्दन् ह्यन्ये अशक्नुवन्”—इति ।

तैत्तिरीया अपि समामनन्ति— “सुवर्भानुरासुरस्तमसा-  
 विध्यत्”—इति ( २. १. २. ४. ) । “सुवर्भानुरिति आसुरस्य  
 कस्य चिन्नामधेयम् ( अग्राह्य मिदम् ) । स्वर्गलोकगतां प्रभां नुद-  
 तीति सुवर्भानुः । स च पृथिव्या रूपं धृत्वा ( धृत्वेत्येवाज्ञान-  
 मूलजम् ) कृष्णवर्णः । पृथिव्याश्च कृष्णरूपत्वं लोके बहुलं दृश्यते ;  
 कन्दोगाश्च “यत् कृष्णं तदन्नस्य”—इत्यन्नकारणभूतायाः पृथिव्याः  
 कृष्णरूपत्वं मामनन्ति ( ६. ४. २. ) । अतस्तमःपुञ्जरूपः स  
 आसुरः ( असुः प्राणः ; स विद्यतेऽस्येति असुरः प्राणी ; असुरस्याय  
 मिति आसुरः, प्राण्याश्च यो भूलोकः ) स्वकीयेन तमसा (तमोरूप-  
 च्छायया) सूर्यं माच्छाद्य जगदान्धं कृतवान्”—इति तत्र सायणीयं  
 भाष्यम् । अत एवोक्तं सूर्यसिद्धान्ते(२अ० ६श्लो०)—



“दक्षिणोत्तरतो ऽप्येवं पातो राहुः स्वरंहसा ।

विक्षिपत्येष विक्षेपं चन्द्रादीना मपक्रमात्”—इति ।

“पातस्थानाधिष्ठात्री देवता राहुर्जीवविशेषः”—इत्यादि यद्वा-  
ख्यात मिह रङ्गनाथेन, तत्तु नूनं वेदविदुषां हास्यकर मेव ।  
दृश्यतेऽपि मनुष्यमुण्डसदृश्येव राहुप्रतिमा निर्मायते पौराणिकै-  
राधुनिकज्यौतिषिकैश्च ; इतोऽप्येतस्य मानुषनिलयत्वं सूच्यते ।  
तदित्यं सूर्यस्याधस्थो बुध एव प्रथमो भूलोकः, तदधस्थः शुक्रः खलु  
द्वितीयो भूलोकः, तदधस्थिता इयं पृथिव्येव तृतीया भूस्वरूपा ;  
इमा एव तिस्रः पृथिव्य स्त्रयो भूलोकाः । त एव यूरोपीयज्यौति-  
षिकैरपीमे Terrestrial planets = पार्थिवग्रहा उच्यन्ते ।

एतेषां लोकानां येऽन्तरालप्रदेशास्तेषां समुदिताना मेकरूपाणां  
मेकं नामान्तरिक्त मिति । तदस्यान्तरिक्तस्याप्यस्ति त्रित्वश्रवणम्,  
अस्ति ह्यत एव दिवस्त्रित्वश्रुतिश्च । तद्यथा ह्येकस्मिन्नेव मन्त्रे लोक-  
त्रयाणां प्रत्येकस्य त्रित्व मान्नायते ( ऋ० सं० ४. ५३. ५. )—

“त्रिरन्तरिक्तं सविता महित्वना,  
त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना ।  
तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिस्र इन्वति,  
त्रिभिर्व्रतैरभि नो रक्षति क्षना”—इति ।

तदत्र श्रुतं सर्वत्रित्वं पृथिवी त्रित्वनिबन्धन मेवेति प्रतीयते  
स्फुटम् । अर्थस्त्वस्य मन्त्रस्य निगदसिद्ध एवेति ॥

षट्त्व मपि श्रूयते पृथिव्याः । तद्यथा अ० सं० १०. ७. ३५—  
“स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्तम् ।  
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः  
स्कम्भ इदं विश्वं भुवन माविवेश”—इति ।

आसु षट्सूरीषु सूर्यस्याधःस्थितास्त्रिस्त्रिस्त्रस्तूपरिष्ठाः । अत एव  
पूर्वप्रदर्शितमन्त्रे श्रुतम् “त्रिस्त्रिः पृथिवीरधी असु विश्वाः”—इति ।

श्रूयते च तत्रान्यत्र १०, १४, १६—

“त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेक मिदं बृहत् ।

त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिताः”—इति ।

त्रिष्टुबिति गायत्रीति चेह लुप्तोपमानं पदद्वयम् । ‘त्रिष्टुप्’ यथा  
त्रिभिस्त्रिष्टुब्लक्षणैः पदैर्युक्तैकेति व्यपदिष्टापि वस्तुतस्त्रिस्त्रिः, यथा  
च त्रिपदा ‘गायत्री’ ; उभे चैते मिलितास्तत्त्वतः षट् ‘छन्दांसि’ ;  
ता इव इमा अपि ‘षट्’ ‘उर्व्यः’ पृथिव्यः ‘त्रिकद्रुकेभिः’ त्रिंश  
इति यावत् ( सूर्यस्योपर्यधश्च ) ‘पतति’ स्वस्वकक्षासु विभिन्ना  
भ्रमति । किन्भूमतीत्याह— ‘बृहत्’ महाकारम् ‘इदं’ षडुर्वीर्यैः  
समानं दृश्यमानम् ‘एकम्’ एव सूर्यम् । अत आह मन्त्रद्वयम्  
‘सर्वाः ताः’ षडुर्व्यः ‘यमे’ सर्वनियमनकर्त्तृस्तएव यमनामके-  
ऽस्मिन् वायौ, तदुपलक्षितेऽन्तरिक्षे, सर्वनियन्तरि रश्मिभिराकृष्ट  
धारके अमुष्मिन् सूर्ये वा ‘आहिताः’ स्थापिताः, सन्तीति  
शेषः । अतएवैव मिहैतरेये— “तस्य वै देवा आदित्यस्य  
स्वर्गलोकादवपातादविभयुस्तं त्रिभिः स्वर्गैर्लोकैरवस्तात् प्रत्यु-  
त्तम्भुवन् । ० — ० । तस्य पराचोऽतिपातादविभयुस्तं परमैः  
स्वर्गैर्लोकै परस्ताद् प्रत्यस्तम्भुवन् । ० — ० । तेषु वा एष एतदध्या-  
हितस्तपति । स वा एष उत्तरोऽस्मात् सर्वस्मात् भूताद् भवि-  
ष्यतः । सर्वं मेवेद मतिरोचते यदिदं किञ्च”—इति ( ४. ३. ४. ) ।  
एवञ्च यथा सूर्यस्याधोऽधः क्रमात् बुधशुक्रराहुकक्षाणां स्थितिः  
प्रतिपादिता, तथैव तस्योपर्युपरि च क्रमादस्ति मङ्गल-बृहस्पति-  
शनैश्चरकक्षाणां संस्थितिः । षड् एवैते भूलोकाः, ततोऽत्र षट्सुखेव

प्राणिनः सन्तीति च गम्यते । एभ्यः षड्भ्य एव भूलोकेभ्यः ऊर्ध्वं मादित्यस्तपति । एकस्यास्यैव सूर्यस्य रश्मिभिः षडेवेमे आवद्धाः , भ्रमणशीलाः , प्रकाशमानाः, सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुवायुविद्युद्दृष्ट्या-दिवन्तश्चेत्यपि । चन्द्रः पृथिव्या उपग्रह इति पृथिवीग्रहणेनैव तद्ग्रहणं सिध्यति ; स्वस्वोपग्रहसहितानां मेव शनैश्चरादिराह्वन्तानां ग्रहाणां मिह पृथिवीत्वेन परिगणन मिष्टमित्येवास्याः पृथिव्या उपग्रहस्यैतस्य चन्द्रमसो न कृतं पृथग् ग्रहण मिति सुप्रत्येतव्य मेव ।

एषां नु सर्वेषां शनिगुरुकुजसूर्यबुधशुक्रराहणां सप्तानां स्वर्गत्वेन स्तुतिरपि श्रूयते ब्राह्मणेषु । तद्यथा — “रोहति सप्त स्वर्गां-ल्लोकान् य एवं वेद”—इति ( ऐ० ब्रा० ५. २. ५. ), “सप्त वै देवल्लोकाः”—इति च ( ऐ० ब्रा० ४. २. ३. ) । सर्व मेतदेषूपपद्यते ‘देवानां’ रश्मिनां सर्वत्रैव विद्यमानत्वादिति ।

यद्यप्येषु सप्तसु सूर्यस्त्वेकः स्थिर इति श्रुतित एव प्रतिपादितं पुरस्तात् ( १०८५० ), तथाप्यस्य सर्वग्रहोपग्रहसमन्वितस्य सौरजगन्मण्डलाधिपस्यापि ध्रुवाद्याकर्षणबलेन भ्रमणं सम्भाव्यते ; सामवेदे “द्यौर्नोस्तस्या मसावादित्य ईयते”—इत्यादिश्रवणात् ( आर० गा० ६. २. २१. ) । मदीयत्रयीटीकायां तद्व्याख्यानञ्च द्रष्टव्यम् । वस्तुतः सौरजगन्मण्डलस्थितानां मस्मदादीनां दृष्ट्या सूर्यस्य गतिराहित्येऽपि सौरजगन्मण्डलस्य न तथात्व मिति सर्वसिद्धान्तः । अतः सर्वतोऽधिकविस्तृता भवत्यस्य कक्षा ( भ्रमणमार्गः ), ततो न्यूना शनैश्चरस्य, ततो न्यूना जीवस्य, ततो न्यूना मङ्गलस्य, ततो न्यूना राहोः ( पृथिव्याः ), ततो न्यूना शुक्रस्य, बुधस्य तु ततो ऽपि न्यूनेति । अत इदं श्रूयते— “परो वरीयांनो वा इमे लोका अर्वागहीयांसः”—इति ( ऐ० ब्रा० १. ४. ८. ) ॥

चन्द्रकक्षा तु न सूर्यप्रक्रमणपरा , अपि त्वेतत्पृथिवीप्रक्रमण-  
परेति नात्र तस्याः ग्रहणमिष्टम् । किन्तु चन्द्रपृष्ठस्य पितृलोक-  
त्वेन स्वीकारात् , पितृणाञ्च स्वर्भोगाय तत्र गमनश्रवणाच्च तस्यापि  
स्वर्गत्वं मन्यते ब्राह्मणकारैः । तथाहि— “तद् ये ह वै तदिष्टापूत्ते”  
कृतमित्युपासते । ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते”—इति  
प्र० उ० १. ६ । शतपथेऽप्येवम् ( १४. ६. १. १६. ), छान्दोग्य-  
ब्राह्मणेऽप्येवमेव ( ५. १०. ) । वेदान्तसूत्रेष्वपीदं बहुविचारितम्  
( ३. १. २२—२७. ) । तदीयन्यायमालाया मपीह कति-  
चिदधिकरणान्यारचितानि । तत्रैकमिदम् ३. १. ३—

“चन्द्रं याति न वा पापी ? ‘ते सर्वे’—इतिवाक्यतः ।

पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेऽपि यात्यसौ ॥

भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी ।

सर्वश्रुतिः सुकृतिनां ; याम्ये पापिगतिः श्रुता”—इति ।

अपि सुकृतिनां सूक्ष्मभोगपरितृप्तिलाभयोग्यचित्तत्वाच्चन्द्रलोके  
विद्युद्दृष्टिजलान्नौषधितरुलतागुल्मादीनां नास्त्येव प्रयोजनमिति  
तेषामभाव एव । तस्मात् श्रूयत एतत् ( ऋ० सं० १. १६४. ४१. )—

“भूमिं पर्जन्या जिवन्ति दिवं जिवन्त्यग्नयः”—इति ।

तथाच यथास्मच्छरीररक्षणाय अन्नपानीयाद्युत्पत्त्यर्थं वृद्ध्या-  
दीनां प्रयोजनमस्ति , न तथा तत्रत्यानाम् ; किञ्च तत्रा-  
प्यस्ति रश्मिरूपानीनां प्रयोजनमिति, तेषां प्रभावो विद्यत एव ।  
“अत्राह गोरमन्वत”—इति ( १११ पृ०—निरु० २. २. २ ; ४. ४. ६. )  
श्रुतौ तत् स्पष्टम् ।

ननु तत्र ‘दिवं जिवन्त्यग्नयः’— इत्युक्तम् , न हि चन्द्रमा  
द्यौर्द्युस्थौ वेति तत् कथमिह सा श्रुतिरुपपद्येत नामेति । अत्र

धूमः— एतादृशश्रुतिषु श्रुतो द्युशब्दो नून मन्तरिक्षलोकस्योपल-  
क्षकः । एतावतैवान्तरिक्षस्थस्य पर्जन्यहेत्वग्निधूमस्यापि द्युलोका-  
श्रयणं नानुपपन्नम्— “घृतेन त्वावर्द्धयन्नग्न आहुत धूमस्ते केतु-  
रभवत् दिवि श्रितः”—इति (ऋ० सं० ५. ११. ३.) । “दिवि सोमो  
अधिश्रितः”—इत्यत्राप्येव मेवावगन्तव्य मस्ति ( ऋ० सं० १०. ८५.  
१. ) । तत्त्वतस्तु “चन्द्रमा अप्सुन्तरा सुपर्णो धावते दिवि”—इति  
(वा० सं० ३३. ६०.) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ‘सुपर्णस्य’ सूर्यस्य द्युस्थ-  
त्वम् , तदधः ‘अप्सु’ अन्तरिक्षे चन्द्रमसः स्थान मित्येव ध्रुवम् ।

अथाप्यस्य चन्द्रमसोऽप्यवमस्वर्गत्वं मुररीकार्यम् । अत एव  
“सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः”—इति ( २. २. ७. )  
ऐतरेयश्रुतं सङ्गच्छते । आश्वीनं नामेह मार्गस्य परिमाणम् ;  
एकस्मिन्नहनि यावन्त मध्वान मतिक्रामत्यश्वः ; तावानेवाध्वा  
आश्वीन इत्युच्यते । तथा ह्यसूत्रयदाचार्यः पाणिनिः— “अश्व-  
स्यैकाहागमः”—इति ( ५. १. १६. ) । यथा ह्याह्निकं सार्धद्वियोजन-  
गमनं सुकरं मनुष्याणाम् , तथैव षड्योजनगमनं मश्वाना मिति  
लोकप्रसिद्धम् ; एवञ्चेतो भूलोकात् षट्सहस्रयोजनान्तरे स्वर्गस्थिति-  
रित्यभिप्रेत मेवास्य श्रुतिकृत इति स्फुटम् ; स्वीकुर्वन्ति चास्म-  
ज्जौतिषिका अप्येव मितो दूरत्वं चन्द्रमःकक्षाया इति चन्द्र-  
मण्डल मेवात्र स्वर्गत्वेनाभिप्रेत मिति च नास्फुटम् ॥

अथैवैव यत् श्रुतम्— “नव स्वर्गा लोकाः”—इति ( ४. ३. २. ),  
तदेतत् शारीरनवप्राणाभिप्रायेणैव । एवं यदपि श्रुतम् “त्रय इम  
ऊर्द्धा एकविंश लोकाः , एकविंशत्येवेमांल्लोकान् रोहति, स्वर्गं  
एव लोके चतुष्पष्ठितमेन प्रतितिष्ठति”— इति ( ऐ० ब्रा० १. १.  
५. ) , तदेतच्च स्यात् विभिन्नाभिप्रायमूलकम् । एवमादिश्रुति-



वचनानां तात्पर्यादिकं वेदार्थचिन्तनपरैर्विद्वद्भिः स्वस्वविज्ञानसा-  
हाय्यादिभिः स्वयं मेवोहनीयम् । “बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि  
भवन्ति”—इति ( ७. ७. २. ) नैरुक्तं वा स्यात् तेषां शरणम् ॥

वस्तुतः सूर्यलोक एवैको मुख्यः स्वर्गो लोकः सर्व-मन्त्रसंहिता-  
सम्मतः । तस्मादान्नात एष मन्त्रः सर्ववेदेषु—

“उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम् ।

देवं देवता सूर्यं मगन्म ज्योतिरुत्तमम्”—इति ऋ० सं० १. ५०. १० ।

“उद् वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।

देवं देवता सूर्यं मगन्म ज्योतिरुत्तमम्”—इति वा० सं० २०. २१ ।

उद् वयं तमसस्परि पश्यन्तो ज्योतिरुत्तरम् ।

देवं देवता सूर्यं मगन्म ज्योतिरुत्तमम्”—इति ते० सं० ५. १. ७. १० ।

उदयाम् । तमसस्पारी२ । ज्योतिः पश्यन्त उत्तरारम् ।

स्वः पश्यन्त उत्तरारम् । देवन्देवतारसूर३४रीम् ।

अगन्म ज्योतिरुत्तमारम्”—इति सा० सं० भारण्डसाम ।

“उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाक मुत्तरम् ।

देवं देवता सूर्यं मगन्म ज्योतिरुत्तमम्”—इति अथ० सं० ७. ५३. ७ ।

शाखाभेदहेतुषु योऽन्यतमो वर्णितः पाठभेदो नाम, तन्निदर्शन-  
भूतञ्चेदं सम्पन्नं चतुर्वेदीयपञ्चशाखावचन मिति चेह संलक्ष्यम् ।

अथैवमादिश्रुतिषु उत्तरशब्दस्य स्वर्गवाचकस्वरादिशब्दविशेष-  
त्वेन श्रुतत्वात् अस्याः पृथिव्या अप्युत्तरो भागः स्वर्ग इति व्यप-  
दिष्टः । तच्च श्रूयते “उत्तरो वा असावस्यै”—इति श० ब्रा० ८. ६.  
३. १४ । ‘असौ’ स्वर्गः, ‘अस्यै’ अस्याः पृथिव्याः ‘उत्तरो वै’ इति  
तदर्थः । अस्या इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (पा० २. ३. ६२ सू० १ वा०) ।  
आह च “स उत्तरस्मादधरं समुद्रम् ( ऋ० सं० १०. ८८. ५. )”

—इति-मन्त्रभागस्य व्याख्यायां यास्कः— “उत्तरः = उद्धततरो भवति, अधरः = अधो रः, अधः = न धावतीति, ऊर्ध्वगति-प्रतिषिद्धा”—इति ( २. ३. १. ) । तस्मात् पृथिव्याश्च ऊर्ध्वो भागः स्वर्गः, तद्विपरीतोऽधःप्रदेशो नरक इति चाभवत् सिद्धान्तः । पृथिव्याः सर्वोर्ध्वप्रदेशः सुमेरुः, सर्वाधःप्रदेशः कुमेरु रिति च सर्व-ज्योतिषशास्त्रप्रसिद्धः । तत एव सुमेरोः पुण्यात्मनिलयत्वम्, तथा कुमेरोः पापात्मालयत्वं च वर्णितं मनेकत्र ।

उत्तरदिङ्नामवीज मपीद मेव । पृथिव्येषा सदैव सूर्याभिमुखी-त्यस्याः पुरतः सूर्यः सदैव राजते, तत इवैषा दिक् पुर इत्युच्यते, प्राचीति च । सूर्याभिमुखं बभ्रमन्त्या अस्याः पृथिव्याः पश्चाद्भाग एव पश्चिमा, प्रतीचीति च । अस्याः खलु यस्यां दिशि शिरोव्यपदेश-भाक् सुमेरुप्रदेशो विद्यते, सा ऊर्ध्वतमेति उत्तरा, उदीचीति च । यस्यान्तु पादतलभूत इति पातालव्यपदेशभाक् कुमेरुप्रदेशः, सैवाधोऽधरा, अवाची, दक्षिणेति च । तत्राधोभुवनरूपे कुमेरु-प्रदेशे समुद्रोदकप्राचुर्यादीश्वराधीनप्रकृतिनियमाद् बहुत्रैव बाडवा-नलाः प्रज्वलन्तीति तदवान्तरा दिक् आग्नेयीत्युच्यते । त एव बाड-वाग्नयः पापिनां दमनाय दहनकुण्डान्याख्यायन्ते ; अतः स एवात्रत्यः पापलोकः । तत्र चाग्नेः प्राधान्य मिति स एव प्रदेशो यमलोकः ॥

सोऽधो लोक एव प्रथमो यमलोकः, एष पृथिवी-देवो ऽग्नि-रेवात्र यमो नाम । तदिदं श्रूयते— “अग्निर्वाव यमः, इयं यमी”—इति तै० सं० ३. ३. ८. ३ ; श० ब्रा० ६. २. १. १० । ‘इयं’—शब्देनात्र पृथिवी गम्यते ।

एतावेव यमीयमाववलम्ब्य यमयमीसंवादरूपं यत् सूक्तं माम्नात मार्त्ताभ्याम्नाये ( १०. १०. ), तस्य सप्तम्येषा—

“यमस्य मा यम्यं १ काम आग-  
न्समाने योनौ सह शेय्याय ।

जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां

वि चिट् वृहेव रथ्येव चक्रा”-इति ।

अन्तरिक्षलोकसु द्वितीयो यमलोकः, अन्तरिक्षदेवो वायु-  
रेवात्र यमो नाम । तथा ह्येष यमशब्द आम्नातो निघण्टौ  
मध्यस्थानदेवतासु ( ५. ४. १२. ) । व्याख्यातञ्चैतद् यमपदम्  
“यमो यच्छयीति सतः”-इति यास्केन ( १०. २. ७. ) । उदी-  
रता मिति पितृसूक्तगतमन्त्रस्य व्याख्यानकाले व्यक्तं सुक्तञ्चैतत्तेन—  
“माध्यमिको यम इत्याहुः”-इति ( ११. २. ६. ) । स एष यमो  
जनानां सङ्गमनो वायुरेव । तथाहि ऋ० सं० १०. १४. १—

“परेयिवांसं प्रवतो महीरनु

बहुम्यः पत्या मनुपस्पशानम् ।

वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां

यमं राजानं हविषा दुवस्य”-इति ।

“यो ममार प्रथमो मर्त्यानां

यः प्रेयाय प्रथमो लोक मेतम् ।

वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां

यमं राजानं हविषा सपर्यत”

-इति च अथ० सं० १८. ३. १३ ।

विवस्वान् सविता आदित्यः ; तत्प्रसूत एव वायुर्वातीति वायो-  
वैवस्वतत्वम् । तच्चाहेहैव— “सवितृप्रसूतो ह्येष एतत् पवते”-  
इति ( १. २. १. ) । यथैहत्याना मस्माकं राजा अग्निर्नाम यमः,  
तथैवान्तरिक्षाणां वायुर्नामेति ; स एव यमो पितृराडित्युच्यते ।

अथैतत्सूक्तादनन्तरं पितृसूक्त माम्नातम् , तस्यैवादिमैषा—

“उदीरता मवर उत्परासः

उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।

असुं य ईयुरवका ऋतज्ञा-

स्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु”—इति ।

सूर्योऽपि यम उच्यते । अत एव द्युस्थानदेवतास्वपि पठितं यम इति पदम् ( ५. ६. १७. ) । सूर्यपरो निगमश्च यमशब्दस्य प्रदर्शितोऽयं यास्केन ( ऋ० सं० १०. १३५. १. )—

“यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः ।

अत्रा नो विप्रतिः पिता पुराणं अनु वेनति”—इति ।

“सङ्गच्छते यमो रश्मिभिरादित्यः”—इति च निरु० १२. ३. १० ।

अत एवाथर्वसंहितायां वशादायिनां यमराज्ये यत् सर्वकामावाप्ति-फल माम्नातम् , न तत् सूर्यलोकरूपप्रधानस्वर्गादित्येतमे स्वर्गे सम्भाव्यते । तथा ह्यर्द्धचैः ११. ४. ३५—

“सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे”—इति ॥

अथ तदपरार्द्धचै वशाप्रार्थनारोधकारिणां नरकगमनञ्चाम्नातम्—

“अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्”—इति ।

यमलोकात् पापलोकेषु पतनञ्च श्रुतम् अथ० सं० १२. ५. ६४—

“यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः”—इति ।

लुप्तशाखीयमन्त्रश्चैकः प्रदर्शियोऽत्र यास्केन ( १. ३. ६. )—

“हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते

सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।

शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभि-

र्नेज्जिह्वायन्त्यो नरकं पताम”—इति ।

‘एके’ ज्ञानिनः ‘हविर्भिः’ अग्नौ हविःप्रक्षेपादिभिर्नित्य-  
कर्मानुष्ठानमात्रैः ‘इतः’ अस्मात्लोकात् ‘स्वः’ स्वर्गं सूर्यलोकं ( ब्रह्म  
लोकं ) ‘सचन्ते’ गच्छन्ति ; ‘एके’ यज्वानः ज्योतिष्टोमादौ ‘सव-  
नेषु’ प्रातर्माध्यन्दिनतृतीयनामकेषु ‘सोमान् सुन्वन्तः’, ‘इतः स्वः  
( चन्द्रलोकं ) सचन्ते’—इत्येव ; ‘उत’ अपि ‘दक्षिणाभिः’ दक्षिणैः  
‘शचीः’ कर्माणि ‘मदन्तः’ कुर्वन्तः , ‘इतः’ गत्वा , पुनरिम मेव  
‘स्वः’ भूस्वर्गं ‘सचन्ते’ आवर्त्तन्ते । ‘नेत्’ नैवं चेत् , ‘जिह्वायन्त्यः’  
जिह्वायन्तः , पापानुष्ठानं कुर्वन्तो ‘नरकम् पताम’ इति जानीयु-  
रिति । तदेव मत्र चतुर्षु मन्त्रपादेषु चतुर्विधाना मस्माकं चतुर्धा  
गतिनिरूपितेति सुव्यक्तम् ।

“नरकं न्यरकं नीचेर्गमनम् , नास्मिन् रमणं स्थान  
मल्प मप्यस्तीति वा”—इति, “पापः पाता पेयानान् , पापत्यमानो  
वा, अवाडेव पततीति वा पापत्यतेर्वा स्यात्”—इति च नि० १. ३.  
६५. १. २. । “नाक आदित्यो भवति; नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः  
०—० क मिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धम् , प्रतिषिद्धं प्रतिषिद्धेयम् ।  
“न वा अमुं जग्मुषे किञ्च नाकम् ( ता० ब्रा० १०. १. १८. ) न  
वा अमुं गतवते ( ‘किञ्चन अकम्’ ) किञ्चनासुखम् ; पुण्यकृतो  
ह्येव तत्र गच्छन्ति”—इति ( २. ४. २. ) । “न हि तत्र गताय  
कस्मेचनाकं भवति”—इति च शत० ब्रा० ८. ७. १. २४ । तदेवं  
यथा सुकृतिनां पुण्यफलपुरस्कारभोगाय भवति स्वर्गमनम् , तथैव  
पापिनां पापफलोपभोगाय भवत्येव नरकगमनमिति सुवचम् ॥

अथ यथा सुमेरोः स्वर्गत्वं वर्णितम् , कुमेरोर्निरयत्वञ्च  
( २२० , २२१ पृ० ) , तथैवाद्यतनार्यावर्त्तस्यास्य पश्चिमेत्तर-  
भूभागस्य काश्मीरादेः रमणत्वं , ततोऽप्युत्तरस्य हिमवत्पृष्ठस्य-



मानससरोवरप्रदेशादेः , ततोऽप्युत्तरस्थोत्तरकुरुप्रदेशस्य च, स्वर्ग-  
त्वच्चाहुः पौराणिकाः ; अप्यार्यावर्त्तपादतलरूपस्य आग्नेयां दिशि  
स्थितस्य , अत एव पातालस्य प्राग्ज्योतिषाधःप्रदेशस्य नरकत्वम् ,  
तत्प्रदेशाधिपतेर्नरकराजत्वञ्चेति । तदत्र रमणनामत एव तत्प्रदेशस्य  
रमणीयत्वेन स्वर्गतुल्यत्वं ज्ञापितम् (महा० भी० प० १०८. ६६.),  
मानससरोवरादिप्रशंसाकथा त्विह पूर्वमेव वर्णिता ( ४१, ६७,  
६८पृ० ), तथा “सुरुच्च नरकञ्चैव शास्ति यो यवनाधिपः भगदत्तो  
नरकराट्”—इत्यादिवचनात् ( महा० स० प० १४. १५. ) प्राग्-  
ज्योतिषप्रदेशस्य नरकत्वञ्च सुव्यक्तम् ।

अपि चात्रार्यावर्त्ते गङ्गादिनिम्नगाप्रवाहदर्शनाच्चावगम्यते गङ्गा-  
प्रभवादिदेशाना मुच्चैष्टम् , ब्रह्मपुत्रसङ्गमादिस्थानाना मतिनीचै-  
ष्टञ्च ; आयुराकृतिप्रकृतिबलव्यवहारादिदर्शनतोऽपि प्रतीयते कुरु-  
पाञ्चालादीनां देवत्वं वाङ्मोत्तरवाङ्मादीना मतयात्व मिति ।

तत्त्वतस्तु यथास्यां पृथिव्या मप्यन्तरिक्षद्युलोकयोः स्थितिरुप-  
लभ्यते, यथा चास्मच्छरीरेष्वपि त्रिलोकाधिप-त्रिदेवाना मग्निवाय्वा-  
दित्याना मस्ति विद्यमानतेति त्रिलोकीत्व मप्येषां वक्तु युज्यते ,  
एवं भूर्भुवःस्वरिति त्रयाणा मेव लोकानां प्रीतिहेतुत्वात् त्रयाणा  
मेवास्ति स्वर्गत्व मपि ; परं तत्राप्यधममध्यमोत्तमभेदो नूनं मन्तव्यः ;  
तथा च सूर्यमण्डलान्तर्ब्रह्मलोक एवोत्तमः स्वर्गः ! एतदप्यास्मात्—

“अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्वरे त्विप्रतिष्ठिते ।

तस्मिन् यद् यच्च मात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः”

—इति अथ० सं० १०. २. ३१, ३२ ॥

स एषः स्वर्गो दुरारोहः । तच्चास्मात् मिहापि— “स्वर्गो वै लोको दूरोऽणम्”—इति ( ४. ३. ६. ) । यागादिसाधन मन्तरा न कोऽपि तत्र गन्तुं शक्नोतीति यत इति भावः । आस्नायते चैतत्— “स्वर्ग एव तल्लोकं यजमानं गमयति”—इति ( ४. १. ४. ) । एवञ्च स्वर्जि-गमिषूणां सौरलोकाद्यन्यतमे स्वर्गे प्रवेशसामर्थ्योपपादन मेवाग्नि-ष्टोमादिफलम् , तदुपदेश एवैतस्य प्रयोजनं सिद्ध मिति शम् ॥

अथैतदैतरेयालोचन मुपसंहरन्तोऽपि किञ्चिद्वदामः ॥—

ऐतरेय मालोचयितुं प्रवृत्तैरस्माभिः प्रसङ्गतोऽपरेऽपि बहवो वैदिकविषयाः समालोचिताः, किञ्च “तेन द्व्यन्तरिते तेषां प्रामाण्यं विप्रकृच्छतः”—इति मीमांसान्यायवचनतो वेदार्थाविरुद्धानां कृच्छ्र-प्रमाणानां पुराणादिवचनाना मपीह बहुत्र स्वमतपोषणाद्यायो-ल्लेखः कृतः , सत्यानुरोधतोऽद्यतनसमाजविरुद्धा अप्यत्र लिखिताः स्युः केचन, मानुषप्रकृतिभ्रमविजृम्भिता अवश्यम्भाविनोऽपि भावाः सम्पन्नाः स्युस्तत्र केचन । तदेवमादिषु किं करणीय मासीदस्मादृ-शाना मत्यल्पमतीना मप्यनल्पचिन्तालोडितशिर्षणाना मिति ‘विद्वांसो वै देवाः’—‘सत्यसंहिता वै देवाः’—इत्यादिश्रुत्यर्थानुगता देवा एव विचारयन्तु, यतस्त एवात्र नः शरण मिति ।

अथेहालोचितेभ्योऽन्येऽपि सन्ति बहवः सत्यसिद्धान्ताः , तेष्वेते त्रयो नून मधिगन्तव्या वेदसत्यार्थजिज्ञासुभिस्तत्रैष प्रथमः—

वेदे यथा लेट्लकारस्य प्रयोगो न तु व्यत्ययविशेषः , तथैव अतीतानागतवर्तमानकालबोधका लङ्लुङ्लिटः प्रत्ययाः भवन्ति क्कान्दसाः ; न च ते व्यत्ययत्वेन स्वीकार्याः । तथा च यत्र यत्र लङ्लुङ्लिटा मन्यतमस्य प्रयोगः श्रुतः , तत्र सर्वत्रैव

प्रायः सार्वकालिकोऽर्थे एव बोध्यः । अत एव “व्यत्ययो बहुलम्”  
—इत्यादि (३. १. ८५.) सूत्रजातं विदधतापि भगवता पाणिनिना  
सूत्रितम्— “छन्दसि लङ्लुङ्लिटः”—इति (३. ४. ६.) । एवञ्च  
“यथापूर्वं मकल्पयत् ( १०. १८०. १—३. )”—इत्येवमादौ ‘यथा-  
पूर्वम्’ पूर्ववदेव ‘अकल्पयत्’ सदैव कल्पयतीत्याद्यर्थो मन्तव्यः ।  
एवं हि यथा ह्यः सूर्य उदैत् , यथा चाद्य उदेति , तथैव श्वश्च  
उद्देयतीतिवत् सदैवैकरूपया सृष्टिक्रियया भवितव्य मिति  
तन्मन्त्राशयः । एवमेवैवमादिषु सर्वत्रैव लङ्लुङ्लिटां सार्व-  
कालिकोऽर्थो वेदितव्य इति ।

अथ द्वितीयः ।—अध्यात्माधिदैवतार्थानां मेव वैदिकमन्त्राणां  
प्राधान्यम् , अधियज्ञानान्तु न तथात्वम् ; यज्ञयज्ञाङ्गकर्मादिविधा-  
यकब्राह्मणादिवचनानां सादिवेदभाष्यत्वेन बहुपरतनत्वसिद्धान्तात् ।  
एवञ्चासीत् कृतयुगेऽध्यात्ममन्त्रार्थप्रियता, त्रेतायां तथाधिदैवतार्थ-  
परता च , द्वापरे एवाभवन्मन्त्राणां मधियज्ञार्थप्रवणता चेति  
हि केषाञ्चित् वेदतत्त्वार्थचिन्तापरायणानाम् ।

अतएवोक्तं मनुसंहितायाम् ( १. ८६. )—

“तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञान मुच्यते ।

द्वापरे यज्ञ मेवाहुर्दानं मेकं कलौ युगे”—इति ।

अन्तिमस्त्वेषः ।—यावत्तः सृष्टिकथा ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव संश्रुताः,  
सर्वा एव ताः कल्पनामूलिकाः, किञ्चिद्विज्ञानज्ञापिकाः , तत्तत्प्र-  
करणगतोपदेशसाधिकाश्च ; यथा पातञ्जले महाभाष्ये सन्ति बह्व्य  
एव एकदेश्युक्तयस्तथेति । अत एवोक्तं निरुक्तकारैः “बहुभक्ति-  
वादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति”—इति ( ७. ७. २. ) । तच्चेद  
मार्च्चाभ्याम्नाये विस्पष्ट माम्नातम् ( १. १६४. ४. )—

“को ददर्श प्रथमं जायमान मस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्त्ति ।  
भूम्या असुरसृगात्मा कस्वित् को विद्वांस सुपगात् प्रष्टु मेतत्”—इति ।

अन्यच्चैतत् ( ऋ० सं० १. १८५. १. )—

“कतरा पूर्वा कतरापरायोः ,

कथा जाते कवयः को विवेद ?

विश्वं त्मना विभृतो यद्व नाम ,

विवर्त्तेते अहनी चक्रियेव” ॥

—इत्येव सत्य मिति सत्यः ॥



आलोचन मिदं स्वल्प मैतरेयस्य नामतः ।

सम्पन्नं सर्ववेदाना मनल्पं सूत्ररूपतः ॥

वसुकेभेनमे शाके सत्यव्रतहृदुत्थितम् ।

भाष्यन्त्वस्य प्रवक्तव्यं वेदविज्ञानवेत्तृभिः ॥

नामग्राहं विनिर्मातुर्ग्राह्यां गृह्णन्तु गा मितः ।

नो चेत् स्यान्नीतिदलनं ब्रह्मगोहरणञ्च ‘वम्’ ॥

